पातञ्जलदर्शनप्रकाश

अर्थात्

श्रीमत्परमहंस निखिलशास्त्रनिष्णात स्वामिबालराम
उदासीनयतीन्द्र कर्तृक
भगवन्महामुनि पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्रों का हिंदीभाषा
में अन्वयपूर्वक पदार्थ निरूपण पुरस्सर
निखिलतन्त्रस्वतन्त्र श्रीवाचस्पतिमिश्र प्रणीत तत्त्ववैशारदी नामक
व्याख्या के अनुसार
महर्षिकृष्णद्वैपायन विरचित योगभाष्य का उपयुक्त पदार्थाऽऽख्यान
पूर्वक भावार्थ प्रकाश.
तदन्तेवासियतिवराऽऽत्मस्वरूप उदासीन कर टिप्पणप्रदान
द्वारा समुद्दीपित औ संशोधित.
योगजिज्ञासुजनों के उपकारार्थ
महाराज कु० बा० रामदीनसिंह महोदय की प्रार्थना से
संकलित.



पटना—" खड्गविलास " प्रेस–बांकीपुर.
साहबप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित और प्रकाशित.
विक्रमाब्द १९५४, खृष्टाब्द १८९७, हरिश्चन्द्राब्द १३.

प्रथम संस्करण १००० प्रति]

[मूल्य प्रतिपुस्तक २॥)

पातञ्जलदर्शनप्रकाश

अर्थात्

श्रीमत्परमहंस निखिलशास्त्रनिष्णात स्वामिबालराम
उदासीनयतीन्द्र कर्तृक

भगवन्महामुनि पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्रों का हिंदीभाषा
में अन्वयपूर्वक पदार्थ निरूपण पुरस्सर

निखिलतन्त्रस्वतन्त्र श्रीवाचस्पतिमिश्र प्रणीत तत्ववैशारदी नामक
व्याख्या के अनुसार

महर्षिकृष्णद्वैपायन विरचित योगभाष्य का उपयुक्त पदार्थाऽऽख्यान
पूर्वक भावार्थ प्रकाश.

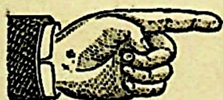
तदन्तेवासियतिवराऽऽत्मस्वरूप उदासीन कर टिप्पणप्रदान
द्वारा समुद्दीपित औ संशोधित.

योगजिज्ञासुजनों के उपकारार्थ

महाराज कु० बा० रामदीनसिंह महोदय की प्रार्थना से
संकलित.



" खड्गविलास " प्रेस–बांकीपुर.
साहबप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित और प्रकाशित.
विक्रमाब्द १९५४, हरिश्चन्द्राब्द १२, खृष्टाब्द १८९७.



३७९ पृष्ठ में २२वें सूत्र की व्याख्या की १४वीं पंक्ति में (अप्रतिसंक्रमायाः) इस से आगे—"एवं सर्वत्र" यह अधिक है ।

ओम् नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

पातञ्जलदर्शनप्रकाश की विषयसूचनिका ।

प्रथम पाद ।

तृतीय पाद ।

चतुर्थ पाद ।

ओ३म्नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

योगदर्शनस्य पृष्ठाङ्कसम्बलितस्सूत्रपाठः ।

सूत्राणि पृष्ठाङ्कः

समाधिपादः प्रथमः ।

इति समाधिपादः प्रथमः ।

सूत्राणि　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठाङ्कः

साधनपादः द्वितीयः ।

इति साधनपादः द्वितीयः ।

इति विभूतिपादस्तृतीयः ।

इति कैवल्यपादस्तुरीयः ।

समाप्तमिदम् पातञ्जलयोगसूत्रम् ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



श्रीमन्निखिलशास्त्र निष्णात स्वामी बाबराम उदासीन

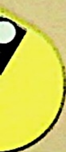
संवत १९८४





ब्रह्मचारी श्री आनन्दस्वरूप — श्रीयुत विपश्चिदग्रेसर आत्मस्वरूप उदासीन

संवत् १९६१



ओम् ३

नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

योगतत्त्वसमीक्षा ।

उपक्रम ।

निखिलशास्त्रनिष्णातं, वेदवेदाङ्गपारगं, सुधीरं बालरामाख्यं ।
नत्वा विद्याप्रदं गुरुं, सुखबोधाय शान्तानां योगतत्त्वं समीक्ष्यते ।१

" उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत,
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति (*) " कृ० यजु० कठ० अ० १ वल्ली० ३ मं १४।

परमहंस जन सर्वधन, योगी-मानस-हंस ।
हरि-हर उर धर मैं करूं, योगभूमिका हंस (+) ॥

मुमुक्षुजन !

जिस प्रकार तत्त्वज्ञान तथा निर्वाण के अर्थ योगानुष्ठान अवश्य संपादनीय है वह प्रकार तो श्रुति-स्मृति द्वारा श्री १०८ स्वामीजी ने अग्रिम उपोद्घात में प्रतिपादन किया ही है परन्तु जो पुरुष—

" शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति,

(*) (उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो, अर्थात्—अज्ञानरूप निद्रा से उठ कर आत्मज्ञान के अभिमुख होवो (वरान् प्राप्य) श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त हो कर (निबोधत) अपने रूप को जानो, कुछ सुगम जान कर ज्ञानमार्ग की उपेक्षा मत करो क्योंकि तीक्ष्ण तथा दुर्गम जो छुरे की धारा है तिस की तरह यह ज्ञान मार्ग दुर्गम है यह कवि=सर्वज्ञ मुनियों का अनुभवपूर्वक कथन है, यह श्रुति का भाव है ।

(+) " हंसा एकदण्डधराः शिखावर्जयज्ञोपवीतधारिणः कमण्डलुहस्ता० " इस आश्रमोपनिषत् की श्रुति से हंस नाम शिखा रहित यज्ञोपवीत धारी उदासीन का है ।

ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति " (१) इत्यादि वचनों को पृष्ठ (पीठ) दे कर "सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते तु कलौ युगे, नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः"(२) इत्यादि वचनों को सार्थक करते हुये विषयभोगपरायण हो ज्ञान का आपण (*) उद्घाटन कर अभ्यास-वैराग्य कर साध्य चित्तसंयम रूप योग की अपेक्षा से विना ही केवल तालस्वरसंचारविधुर श्रवणमात्र से ही कृतकृत्यताकथन रूप गीत गाते हैं उन को स्वर ताल (†) बतला कर सुधारने के लिये यह संक्षिप्त उपक्रम है ।

तत्त्वजिज्ञासुजन !

यह तो निर्विवाद ही है कि-निष्प्रपञ्चात्मतत्त्व का साक्षात्कार ही अज्ञाननिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपाभिव्यक्ति रूप मुक्ति का अभिव्यञ्जक है परन्तु वह साक्षात्कार कुछ अकस्मात् ही केवल श्रवणमात्र से हो जायगा यह कदापि नहीं माना जायगा क्योंकि ऐसे मानने से प्रथम उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से ही साक्षात्कार का लाभ होने से श्वेतकेतु के प्रति नव वार उपदेश प्रदान असमीचीन हो (३) जायगा किन्तु जैसे रत्न के संग सन्निकर्ष होने पर

---

(१) शरीर के पोषण की इच्छावाला हुआ जो पुरुष आत्मा के जानने की इच्छा करता है वह पुरुष काष्ठ बुद्धि से ग्राह को पकड़ कर नदी तरने की इच्छावाले सदृश अविवेकी है, यह विवेकचूड़ामणि के वाक्य का भाव है ।

(२) हे मैत्रेय ! कलियुगके आने पर लोक सब ब्रह्महो ब्रह्म पुकारेंगे परन्तु शिश्नोदर-परायण (मैथुन-खान-पानपरायण) हुये साधनों का अनुष्ठान नहीं करेंगे, यह भाव है ।

(*) (आपण) दुकान। (उद्घाटन) खोलना ।

(†) अभ्यास ताल है औ वैराग्य स्वर है ।

(३) यहांपर जो और अनेक क्षुद्र शंकापङ्क हैं उनका मार्जन इस ग्रन्थके परिशिष्टमें देखो।

भी केवल नेत्रमात्र रत्न के तत्त्व को नहीं जान सकता है किन्तु रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्र के अभ्यास जन्य संस्कारों के सहित हुआ ही वह रत्न के तत्त्व को जानता है तैसे शब्द-मात्र आत्मज्ञान का जनक नहीं है किन्तु अभ्यासवैराग्य द्वारा चित्त की स्थिरतारूप सहकारी कारण के सहित हुआ ही वह जनक (१) है यह माना जायगा, ऐसे मानने से ही नव वार उपदेश तथा "शृण्वन्तोपि वहवो यं नविद्युः", "श्रुत्वाप्येनं वेद नचैव कश्चित् (२)" यह श्रुतिस्मृति संगत हो सकती है अन्यथा नहीं।

अतएव ज्ञान के साधनों में शम-औ समाधान का उपादान किया है।

अतएव अपरब्रह्मनिष्ठ सुकेशा आदिक ६ ऋषियों के प्रति "तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ" इस वाक्य से मन की एकाग्रता रूप तप तथा ब्रह्मचर्य्य का उपदेश कर फिर चित्त की स्थिरता होने पर पिप्पलाद मुनि ने उन को उपदेश दिया है (३)।

इसी से ही सत्त्वगुणप्रधान देवराज इन्द्र के प्रति भी

---

(१) चित्त ही ब्रह्म के साक्षात्कार में करण है औ शब्द सहकारी है।

(२) श्रवण करते हुये भी बहुत जन जिस परमात्मा को नहीं जान सकते हैं यह कठश्रुति का अर्थ है, औ सुन कर भी इस परमात्मा को कोई नहीं जानता है, यह भगवद् वाक्य का अर्थ है।

(३) अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् के आरम्भ में यह स्पष्ट है।

१०१ वर्ष ब्रह्मचर्य्य कराकर ही प्रजापति ने उपदेश (१) दिया था कुछ आज कल की तरह प्रातःकाल आया औ सायंकाल तक निष्क्रियब्रह्मस्वरूप बना कर कर्तव्यता के अभाव बोधन द्वारा यथेष्टाचरणशील नहीं बना दिया था, इसी से ही वरुण जीने अपने पुत्र भृगु के प्रति "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व (२)" इस वाक्य से चित्तस्थिरता रूप तप को ब्रह्मज्ञान का साधन कहा है।

एवं च चित्त संयम के लिये वैराग्य अभ्यास द्वारा योग अवश्य ही संपादनीय है यह निर्विवाद है।

किंच विचारदृष्टि से आलोचना कियी जाय तो यही प्रतीत होता है कि वैराग्याभ्यासरूपप्रसंख्यानाऽऽख्याऽवस्थाविशेष विशिष्ट मन ही आत्मसाक्षात्कार का करण है कुछ शब्द नहीं।

अर्थात्—ब्रह्मात्मा के साक्षात्कार का करण तो शब्द है औ स्थिर मन उस का सहकारी है इस मत से ऋत-म्भरा (३) प्रज्ञारूप से परिणत चित्त आत्मा के साक्षा-त्कार का करण है औ शब्द उस का सहकारी है यह मत समीचीन है।

अतएव यमराज ने नचकेता के प्रति " शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः " इत्यादि वाक्य से शब्द को अप्रतिबद्ध अपरोक्षज्ञान के करणत्वाभाव के कथन पूर्वक " अध्यात्म-

---

(१) "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास" इत्यन्त छान्दोग्य के अष्टम प्रपाठक के ११ खंड में यह स्पष्ट है।

(२) तैत्तिरीयोपनिषद्—भृगुवल्ली द्वितीय अनुवाक।

(३) ११४ पृष्ठ में ऋतम्भराप्रज्ञा का निरूपण है।

योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति (१) " इस वाक्य से योगसहकृत मनकरणक ब्रह्मसाक्षात्कार का उपक्रम कर फिर "सर्वे वेदा (२) यत्पदमामनन्ति" इस से लेकर " एतदालम्बनंश्रेष्ठम् " यहां पर्य्यन्त ईश्वरप्रणिधान रूप धारणा का उपन्यास कर पुनः "न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (३)" इत्यादि वाक्य से एकतानसंचिन्तन रूप ध्यान की परिपाकदशा कथन कर फिर "नाऽशान्तो नाऽसमाहितः (४) " इस वाक्य से व्यतिरेकमुख से ध्यान के उत्तर काल में होनेवाली समाधि का उपदेश कर फिर " आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु (५)" इस से आदि लेकर "सोध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम् " यहां पर्य्यन्त अर्थ वादप्रणाली से फल सहित समाधि की अवश्य कर्तव्यता

---

(१) प्रत्याहार द्वारा विषयों से निवृत्त कर जो चित्त का आत्मा विषयक योग कर देना वह अध्यात्मयोग है, इस अध्यात्मयोग से प्रकाशस्वरूप आत्मा को जान कर धीर नर हर्ष शोक को त्याग देता है ।

(२) निखिल वेद जिस पद का बारंबार निरूपण करते हैं उस प्रणव का आलम्बन श्रेष्ठ है क्योंकि यह कैवल्य के देने वाला है, यह भाव है ।

(३) बहुत सुनने से आत्मलाभ नहीं होता है किन्तु जो उस परमात्मा को संवृणुते=सम्यक् भजता है अर्थात्—एकतान से चिन्तन करता है उस को परमात्म लाभ होता है ।

(४) जो शम औ समाधि द्वारा शान्त औ समाहित नहीं है वह परमात्मा को नहीं जान सकता ।

(५) आत्मा रथी है औ शरीर रथ है औ बुद्धि सारथि है औ मन प्रग्रह (लगाम) है औ इन्द्रिय अश्व हैं, तहां जिस रथी का बुद्धिरूप सारथी इन्द्रियों को दमन कर मन को अपने अधीन कर लेता है वह रथी रूप आत्मा परमपद को प्राप्त होता है अन्य नहीं यह इस का भाव है ।

का उपपादन कर फिर "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (*)" इस वाक्य से ऋतम्भरा प्रज्ञा की सूक्ष्म अर्थ के ग्रहण में सामर्थ्य का उपवर्णन कर फिर "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि (१)" इस वाक्य से समाधि के अनुष्ठान का प्रकार कथन कर फिर "आवृतचक्षुरमृतत्त्वमिछन्" इत्यादि से अभ्यास कर "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् (†)" इत्यादि से योग का स्वरूप कथन कर "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता अथ मर्त्योऽमृतो (२) भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादि से ब्रह्मसाक्षात्कारफलक योग का उपसंहार किया है।

गीता भाष्य में भी "शास्त्राचार्य्योपदेशशमादिसंस्कृतं मन आत्मज्ञाने करणम्" इस वाक्य से योगसहकृत मन को ही आत्म ज्ञान का करण माना है कुछ शब्द को नहीं।

(*) श्रवण मनन द्वारा सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषों कर निदिध्यासनद्वारा सूक्ष्म औ एकाग्रबुद्धि से आत्मा दृश्य होता है।

(१) वाणी के व्यापार को मन के अधीन करे औ मन को अहंकारोपाधिक ज्ञानात्मा के अधीन करे औ ज्ञानात्मा को बुद्ध्युपाधिक महानआत्मा के अधीन करे औ ज्ञानात्मा को शुद्धशान्तात्मा में मग्न करे यह तत्त्व है।

(†) जिस दशा में मन के सहित ही पंच ज्ञानइन्द्रिय संयम द्वारा स्थिर हो जाते हैं औ बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती है उस दशा का नाम योग है औ यही परमगति का उपाय होने से परमगति है।

(२) जिस समय में हृदय में विद्यमान निखिल काम इस के निवृत्त हो जाते हैं उस समय यह पुरुष अमृत हो जाता है औ देह रहने पर भी ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

एवं भामतीपति वाचस्पतिमिश्र ने भी "न ब्रह्मज्ञानमात्रं सांसारिकधर्मनिवृत्तिकारणमपितु साक्षात्कारपर्य्यन्तं, ब्रह्मसाक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः श्रवणमननादिजनितसंस्कारसचिवमनोजन्मा षड्जादिभेदसाक्षात्कार इव गान्धर्वशास्त्रश्रवणाभ्याससंस्कृतमनोयोनिः (१) इस वाक्य से ब्रह्मसाक्षात्कार को अन्तःकरणवृत्तिविशेष कहा है।

जो कि यह मत है कि (दशम तूं है इत्यादि स्थल में प्रसिद्ध होने से शब्द को ही ज्ञान करणत्व मानना उचित है मन को नहीं क्योंकि मन को ज्ञान की करणता कहीं प्रसिद्ध नहीं हैं (२)) सो मत असंगत जानना क्योंकि "अहमेवेदं सर्वं सर्वोस्मीति मन्यते" इस श्रुति कथित स्वाप्न साक्षात्कार में औ गर्भस्थित वासदेव के साक्षात्कार में मन को करणता की प्रसिद्धि होने से अप्रसिद्ध कथन अनवधान प्रयुक्त है, किंच दशमपुरुष के साक्षात्कार में भी इन्द्रिय ही करण है शब्द केवल सहकारी मात्र हैं जो कि तत्त्वप्रदीपिका तथा अद्वैतसिद्धि के तृतीय परिच्छेद में (गाढ़ अन्धकार में लोचन विहीन जन को केवल वाक्य से ही दशम का ज्ञान होने से शब्द ही करण है इन्द्रिय नहीं) यह कहा

---

(१) कुछ शब्दजन्य ज्ञानमात्र ही संसार की निवृत्ति का कारण नहीं है अपितु-तत्त्वसाक्षात्कार, जो कि अन्तःकरण की वृत्तिविशेष है, अर्थात्—जैसे षड्ज आदि स्वरों का साक्षात्कार गान्धर्वशास्त्राभ्यासजनित संस्कार सहित मन से जन्य है तैसे ब्रह्मसाक्षात्कार भी श्रवणादिजन्य संस्कारसहित मन से ही जन्य है कुछ शब्द से नहीं।

(२) सुखादिकों को साक्षिभास्य माने से सुखादि के साक्षात्कार में भी मन करण नहीं है, यह इन का आशय है।

है सो भी केवल साहसमात्र है क्योंकि ऐसे स्थल में भ्रम का होना असंभव है (१)।

जो कि किसी का यह कथन है कि (इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष होने से औ मन को इन्द्रियत्व के अभाव से मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष रूप कैसे) सो भी केवल यथाश्रुतग्राही छात्र संमोहनमात्र है क्योंकि "एकादशेन्द्रियाण्याहुः" "मनो नेत्रादि धीन्द्रियम्" इत्यादिस्मृतियों में तथा "त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्रश्रेष्ठाद्" (२) इस व्यास सूत्र से मन को इन्द्रियत्व सप्रमाणक होने से इन्द्रियत्वाभाव कथन अप्रामाणिक है अतएव इस मन का नाम अंतःकरण है क्योंकि अन्तरिन्द्रिय औ अन्तःकरण यह दोनों शब्द एकार्थक हैं।

तथाच योगाभ्यासजन्य ऋतम्भराप्रज्ञारूप से परिणत मन को ब्रह्मसाक्षात्कार का करण होने से ऋतम्भराप्रज्ञा के लिये योग अवश्य अपेक्षित है यह सिद्ध हुआ। (३)

---

(१) अनिर्वचनीय वचन के अभिमान से यदि वहां भी भ्रम का वह संभव मानेंगे तो गणना द्वारा स्पार्शनप्रत्यक्ष ही भ्रम का निवर्तक कहा जायगा कुछ शब्द नहीं, औ जहां वधिरपुरुष को दशमविषयक भ्रांति होगी वहां गणना से विना और क्या उपाय मानेंगे।

(२) श्रेष्ठ जो मुख्य प्राण है उस को परित्याग कर शेष एकादश इन्द्रिय जानने, क्योंकि श्रुति में ऐसा व्यपदेश है, यह अ. २पा. ४सू० १७ इस सूत्र का अर्थ है। भाष्यकारों ने भी इस सूत्र के व्याख्यान में मन को इन्द्रिय माना है, जो कहीं २ इन्द्रियों से भिन्न मन का व्यपदेश है वह गोबलीवर्दन्याय से जानना, अथवा अन्य इन्द्रियों को वर्तमान मात्र विषयक होने से औ मन को त्रैकाल्य पदार्थ विषयक होने से भेदव्यपदेश जानना भामतीकार ने भी इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या में " मनसस्त्विन्द्रियत्वे स्मृतेरवगते क्वचिद्भेदेनोपादानं गोबलीवर्दन्यायेन " इस प्रकार भेद कथन का समाधान किया है।

(३) अन्य दर्शनीय ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में देखो—

विस्तर स्वामीजी निर्मित योगतत्त्वसमीक्षा में देखो, किं वहुना—

"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावद्" भागवत।

"नमोक्षो नभसः पृष्टे न पाताले न भूतले,
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम्" (वशिष्ठ)
"मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनां,
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च,"

अवश्य आलोचनीय।

पातञ्जलदर्शन के चतुर्थ पाद के ३१ सूत्र के भाष्य में व्यासदेवजी ने "अन्धो मणिमविध्यत, तमनङ्गुलिरावयत्, अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयद्" यह एक पद्य लिखा है (१) इस पद्य को वाचस्पतिमिश्र जी ने तो लौकिक आभाणक कहा है औ योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु ने योगियों के प्रति बौद्धों का उपहास रूप यह वाक्य है यह कहा है, औ माधवाचार्य ने इस को वेदवाक्य कहा है, परन्तु इन तीनों कथनों में से कौन समीचीन है इस आकाङ्क्षा के उदय होने पर माधवाचार्य का ही कथन समीचीन जानना क्योंकि यजु-तैत्तिरीयारण्यक के प्रथम प्रपाठक के ११ अनुवाक में यह प्रथम ऋग्मन्त्र है, परन्तु 'अविध्यत' इस के स्थान में 'अविन्दत' औ 'अभ्यपूजयत्' इस के स्थान में 'असश्चत' इस प्रकार श्रुतिपाठ में विशेष है (२)।

---

(१) इस पद्य का अर्थ इस प्रकाश के ३९९ पृष्ठ पर स्पष्ट है।

(२) तृतीयपाद में 'तं' यह पद भी श्रुति में नहीं है।

तहां 'अविन्दत्' इस पद का अर्थ प्राप्ति करना है, औ 'असश्चत्' इस पद का अर्थ प्रशंसा करनी है, निखिल इन्द्रियों से रहित हुआ ही चिद्रूप आत्मा यावद् व्यवहार करता है यह इस का भाव (१) है, यद्वा चक्षुआदि इन्द्रियों का निरोध कर वाह्य विषयों में अन्ध हुआ ही योगी ऋत-म्भराप्रज्ञा से मणिवत्प्रकाश स्वरूप आत्मा को देखता है औ उसी प्रज्ञा से स्वस्वरूपनिश्चय रूप उस मणि का स्वीकार करता है, औ स्वस्वरूप में स्थिरतारूप मणि का धारण करता है औ कृतकृत्यता का लाभ रूप प्रशंसा करता है, यह इस का भाव है (२)।

उपक्रमकर्ता—

तत्रभवदन्तेवासी

स्वाम्यात्मस्वरूपशास्त्री

---

(१) तहां इतना विशेष है कि जीवात्मा यद्यपि सर्व इन्द्रियों से रहित है तथापि देहादि के संग तादात्म्याध्यास से आरोपित निखिल क्रियावाला है औ परमात्मा अचिन्त्य शक्ति युक्त होने से निखिल व्यापार वाला है।

(२) इस भाव से ही योगभाष्य में इस का उपन्यास है।

पातञ्जलदर्शनप्रकाशः

ओम्

नमोऽन्तर्यामिणे ।

स्थितिप्रख्याशोकैर्गुणमयविकारैः परिस्खलत् ।
सदाऽऽयम्य प्राणानपगततमश्चित्तमचलन् ॥
दृढं कृत्वा प्रत्याहृतकरणव्रातैर्मुनिवरैर् ।
उदासीनैर्ज्ञेयः परमगुरुरीशो वि जयताम् * ॥ १ ॥

दोहा—जिह जाने विन होत जन, जनम-मरन-आराम† ।
हान होत भव जान जिह, सो मैं आतम-राम ॥१॥

कवित्त—योगीगन वन्दनीय जासु चरणारविन्द ,
बन्दन करत भवफन्द मिट जात है ।
जासु सुत सिरीचन्द वेदिवंशसिन्धुचन्द ,
उदासीन-सेवनीय भूति सब गात है ॥
जासु मत चित्त देत ब्रह्मरूप भात होत ,
मिट जात ममता विकार हट जात है ।
अमितचरित जगविदित प्रभाव जासु ,
तासु गुरु नानक को सदा प्रनि-पात है ॥ २ ॥

कर वन्दन हरि हर गुरू, जिन में रञ्च न भेद ।
करूं विशद गुरुवर कृति, लख गुरुमुख से भेद ॥ १ ॥

* प्राणायाम द्वारा त्रिगुणात्मक स्थिति-प्रख्या-शोकसंज्ञक विकारों से इतस्ततः निरन्तर भ्रमणशील चित्त को तमरहित औ अचल कर, प्रत्याहारद्वारा नियमितकरणसमूह मुनिवर उदासीनों कर ज्ञेय जो परमगुरु ईश वह सर्व से उत्कृष्ट रूप से वर्त्तमान होय ।

† आराम=विश्राम, आराम के स्थान में (विसराम) यह पाठ भी समीचीन ही है, यहां पर प्रथम श्लोक से प्रकृतयोगशास्त्र का विषय कथन पुरःसर

कायिक वाचिक चित्त मल, हरण-शील जिहि वानि ।
मुनि पतंजलि मल हरें, कर रज-तम की हानि ॐ ॥ ३ ॥
भारत-आरत ¶ हत कियो, भारत ललित वनाय ।
भाष्यकार श्रीव्यास पद, बन्दों हित चितलाय ॥ ४ ॥

राजकुमार § उदार वर, धीर वीर गुनखानि ।
रामदीन-हरि दीन-हित, कथित वचन शुभ मानि ॥ ५ ॥
दर्शन भाषा-बद्ध कर, हरो मोह-संचार ।
तिह ते भाषा मैं करूं, हिय जिय-हित निरधार ॥ ६ ॥

योग समान न आन वल, भाषत वेद पुरान ।
आन कान मन आन जिन, पातञ्जल पहिचान ॥ ७ ॥

वस्तुनिर्देश द्वारा सत्कार व्यापार वोधन किया है, औ इस दोहा से निज-वास्तवरूप का निरूपण किया है, औ अग्रिम कवित्त से आधिकारिकअहङ्कारोपाधिक स्वरूप के परिचय पूर्वक इष्टदेव को बन्दन किया है, यह गुरुचरणों का हृदय है ।

ॐ जिस पतञ्जलि मुनि की वैद्यक-व्याकरण-योग अनुशासन रूप वाणी यथाक्रम कायिक-वाचिक-चित्त मल के हरण में समर्थ है सो पतञ्जलिमुनि रज तम की हानि कर मेरे चित्त की मल हरण करें, इस कथन से यह बोधन किया कि जो पतञ्जलि महाभाष्यकार औ चरक के प्रणेता हैं वही योगसूत्रकार हैं कुछ तीनों भिन्न २ नहीं, यह सब सम्यक्प्रकार से योगतत्त्वसमीक्षा के परिशिष्ट में स्पष्ट है ।

¶ सूत्रकार को वन्दन कर इदानीं योगभाष्यकार वेदव्यास मुनि जी की वन्दना करते हैं (भारतआरत) इति, भारत नाम प्रपञ्च का औ आरत नाम दुःख का है, भारतललित=यह भारतपद महाभारतइतिहास का वाचक है, इस कथन से भी यह वोधन किया कि जो अष्टादशपुराण तथा महाभारत के कर्ता व्यासमुनि हैं वही व्यासमुनि योगभाष्यकार हैं अन्य नहीं, यह भी स्वामी जी कृत योगतत्त्वसमीक्षा के परिशिष्ट के भाषा अनुवाद में मैंने स्पष्ट किया है ।

§ इदानीं जिन महाराजकुमार के उत्साह औ साहाय्य से इस अमूल्यरत्न का जिज्ञासुयों को लाभ हुआ है उन के नाम कथनपूर्वक भाषा करने में हेतु प्रदर्शन करते हैं, (राजकुमार) इत्यादि ।

अथ उपोद्घातः।

इस निरर्गल मायिक सर्ग में क्या लौकिक (१) क्या परीक्षक निखिल प्राणिमात्र ही दुःख-जिहासा तथा सुखेप्सा के अर्थ निरन्तर बद्धपरिकर हुये दृष्टिगोचर हो रहे हैं क्योंकि जब नेत्रोन्मीलन कर कहीं दृष्टिपात किया जाता है तो एतादृश पुरुष कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होता जो कि दुःख की निवृत्ति औ सुख की प्राप्ति के लिये यत्नशील न होय, परन्तु इतना विशेष है कि जो लौकिक लोक हैं वह अन्धगोलाङ्गूलन्याय (२) से वा स्वच्छन्द (अपने मनमाने) उपायों द्वारा ही दुःख-सुख की निवृत्ति तथा प्राप्ति को चाहते हैं औ जो परीक्षक हैं वह शास्त्रोक्त उपाय द्वारा दुःख सुख की निवृत्ति-प्राप्ति के अर्थी होते हैं सर्वथा ही दुःख-सुख की निवृत्ति-प्राप्ति सर्वाभीष्ट है यह निर्विवाद है।

इतना विशेष अन्य भी है कि प्राकृतजन सामान्यरूप से दुःख की निवृत्ति औ वैषयिकसुख की अभ्यर्थनाशील होते

---

(१) नैसर्गिक तथा शास्त्रजन्य बुद्धिप्रकर्ष से रहित लौकिक कहे जाते हैं औ जो नैसर्गिक तथा शास्त्रजन्य बुद्धिप्रकर्षशील हैं वह परीक्षक हैं, साधारण-बुद्धिवाले लौकिक औ विद्वान् परीक्षक कहे जाते हैं यह स्थूल अर्थ है।

(२) अन्ध नाम नेत्ररहित का है औ गोलाङ्गूल नाम वृषभ (बैल) की पुच्छ का है। अर्थात् जैसे कोई जंगल में भूल कर अपने ग्राम का मार्ग खोजता हुआ पुरुष (तुम इस बैल की पुच्छ पकड़ लो यह तुमें ग्राम में पहुंचा देगा) इस वञ्चक के वाक्य को श्रवण कर गो-पुच्छ को हस्त में पकड़ अपने ग्राम को जाना चाहता है तैसे जो पुरुष विचाररूप नेत्र से रहित हुआ मोक्ष-मार्ग का अन्वेषी (तुम नख बढ़ायो वा मूर्त्ति की पूजा मत करो, वा दन्तधावन मत करो) इस प्रकार के वञ्चकों के वचन सुन कर किसी उपाय में प्रवृत्त हो जाते हैं वह अन्धगोलाङ्गूलन्याय से प्रवृत्त हुये कहे जाते हैं।

हैं औ विवेकी जन आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति औ दुःखाऽसभिन्नसुख की प्राप्ति के अर्थी होते हैं क्योंकि विवेकी जन तात्कालिकदुःखनिवृत्ति तथा परिणामदुःखमिश्रित (१) विषयसुख की प्राप्ति को परमपुरुषार्थ नहीं मानते हैं, एवञ्च आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति औ दुःखाऽमिश्रितनिरतिशयसुख की प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ होने से अभ्यर्थनीय है अन्य नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से ही (हमें दुःख कदापि मत हो किन्तु निरन्तर हम सुखी ही रहें) यह अनुभव उपपन्न हो सकता है अन्यथा नहीं।

यद्यपि कोइ दुःखाभाव को सुखार्थ मान कर सुख की प्राप्ति को पुरुषार्थ औ कोई सुख को दुःखाभावार्थ मान कर दुःख की निवृत्ति को पुरुषार्थ, औ कोई विनिगमकाभाव से उभय को पुरुषार्थ मानते हैं इस से यह स्थल विवादग्रस्त है (२) तथापि "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (३) "त्रिविधदुःखाऽत्यन्तनिवृत्तिः परमपुरुषार्थः" (४) इत्यादि महर्षिगोतम तथा कपिलमुनि के सूत्रों से दुःखनिवृत्ति को ही परमपुरुषार्थ जानना।

एवं च दुःखनिवृत्ति ही पुरुषाऽभीष्ट होने से साधनीय है यह निष्पन्न हुआ।

---

(१) जैसे कि विषय भोग में परिणामदुःख मिश्रित है वह द्वितीयपाद के १५ सूत्र में स्पष्ट है।

(२) यह सब विषय स्वामीजी कृत कैवल्यकल्पलतिका के भाषानुवाद में मैंने स्पष्ट किये हैं, अतः वहां ही देखलेना।

(३) यह न्यायदर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम आन्हिक का २२ सवां सूत्र है, 'तद्' शब्द से पूर्वसूत्रोक्त "बाधनालक्षणं दुःखं" इस दुःख पद का परामर्श करना, तथा च यह अर्थ हुआ कि तिन दुःखों से जो अत्यन्त विमोक्ष (रहित) हो जाना यही अपवर्ग (मुक्ति) है।

(४) आध्यात्मिकादि भेद से तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही परमपुरुषार्थ है, यह साङ्ख्यदर्शन के प्रथमाध्यायस्थ प्रथम सूत्र का अर्थ है।

यद्यपि भूतकाल में विद्यमान दुःख तो भोगद्वारा ही निवृत्त हो चुका है औ वर्त्तमानकाल में भोगाऽऽरूढ़ दुःख भी द्वितीय क्षण में नष्ट होने से निवृत्तप्राय ही है अतः इन दोनों की निवृत्ति साधनीय नहीं हो सकती तथापि भाविदुःख की निवृत्ति ही साधनीय जाननी, अतएव भगवान् पतञ्जलि ने "हेयं दुःखमनागतम्" *इस सूत्र से भाविदुःख को ही हेय कहा है।

सो यह भाविदुःख की अत्यन्तनिवृत्ति आगामि-जन्म की निवृत्ति के अधीन है क्योंकि आगामि-देहसंबन्धप्रयुक्त दुःख को ही भाविदुःख कहा जाता है,(१) औ आगामिजन्म की निवृत्ति धर्माऽधर्म की निवृत्ति के अधीन है क्योंकि धर्माऽधर्म के अनुष्ठान से ही आगामि शुभाऽशुभजन्म का लाभ होता है, औ धर्माऽधर्म की निवृत्ति रागद्वेष की निवृत्ति के अधीन है क्योंकि अनुकूल में राग औ प्रतिकूल में द्वेष से ही पर अनुग्रह निग्रह द्वारा वा शुभाऽशुभ कर्माऽनुष्ठान द्वारा ही धर्माऽधर्म की उत्पत्ति होती है कुछ स्वाभाविक नहीं, औ रागद्वेष की निवृत्ति अविद्या-आत्माऽज्ञानादि पदवाच्य मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के अधीन है क्योंकि मिथ्याज्ञान ही रागद्वेष का मूल कारण है।

अतएव "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्" (२) इस सूत्र से भगवान् पतञ्जलि ने अविद्या को रागद्वेष का मूल कारण कहा है।

एवं च निखिलअनर्थमूलभूत अविद्यासंज्ञक मिथ्याज्ञान

---

* यह द्वितीय पाद का १६ सूत्र है।

(१) न्यायदर्शनप्रकाश के २ सूत्र में यह विचार विस्तर है।

(२) यह द्वितीय पाद का तृतीय सूत्र है, अर्थ वहां ही देखो।

की निवृत्ति ही सर्वतः प्रथम प्रयोजनीय होने से करणीय है यह फलित हुआ।

अत एव महर्षि गौतम जी ने "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तराभावादपवर्गः" (१) इस सूत्र से मिथ्याज्ञाननिवृत्तिपूर्वक ही उत्तरोत्तररागादिनिवृत्ति द्वारा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप अपवर्ग की प्राप्ति कथन किया है।

यद्यपि अनित्य में नित्यत्वज्ञान, अशुचि में शुचित्वज्ञान, दुःख में सुखत्वज्ञान, अनात्म में आत्मत्वज्ञानभेद से यह मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार का है तथापि आत्मा को यथावत् न जान कर जो अनात्मचित्त प्रभृति में आत्मत्वज्ञान वही मिथ्याज्ञान प्रथम निवर्त्तनीय है क्योंकि इस मिथ्याज्ञान के होने से ही निखिल मिथ्याज्ञान उपस्थित होते हैं औ इस मिथ्याज्ञान के नाश से ही सब नष्ट हो जाते हैं अत एव बृहदारण्यक उपनिषद् में "आत्मानं चेद् विजानीयादयम-

(१) यह न्यायदर्शन के प्रथमाध्याय का द्वितीय सूत्र है।

(दुःख) २१ सूत्र उक्त बाधना-पीड़ा-तापसंज्ञक सांसारिक सुख दुःख, (जन्म) १९ सूत्र उक्त पुनरुत्पत्ति-नामक शरीर-इन्द्रियादि का परिग्रहण, (प्रवृत्ति) १७ सूत्र उक्त वाचिक-कायिक मानस सत्य-मिथ्या-रक्षा-हिंसा-दया-परद्रोह रूप शुभअशुभ प्रवृत्ति से जन्य धर्माऽधर्म, (दोष) १८ सूत्र उक्त धर्माऽधर्म कारण प्रवृत्ति के जनक रागद्वेषादि दोष, (मिथ्याज्ञान) अनित्य-अशुचि-दुःख अनात्म पदार्थविषयक नित्य शुचि-सुख-आत्म ज्ञान-रूप विपर्य्यय ज्ञान, इन पांचों में से (उत्तरोत्तरापाये) उत्तर उत्तर कारण के अपाय=निवृत्त होने से (तदनन्तराऽभावाद्) पूर्व पूर्व कार्य्य के अपाय होने से जो निखिलदुःखमोक्ष वह अपवर्ग कहा जाता है, अर्थात् तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश, मिथ्याज्ञान के नाश से रागद्वेष का नाश, रागद्वेष के नाश से शुभाऽशुभकर्म का नाश, शुभाऽशुभ कर्म के नाश से जन्म का नाश, जन्म के नाश से दुःख का नाश, इस प्रकार जो कारण के नाश से कार्य्यों का नाश हो जाना वही मुक्ति है, विस्तर न्यायदर्शनप्रकाश में देखो।

स्मीति पूरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेद्"(१) इस श्रुति में व्यतिरेक द्वारा आत्मअज्ञान को ही निखिल अनर्थ का कारण कहा है।

इस आत्माऽज्ञानरूप मिथ्याज्ञान का आत्मज्ञानरूप तत्त्वज्ञान ही एक मुख्य उच्छेदक है, क्योंकि तत्त्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान का विरोधी है, यह आत्मज्ञान-नामक तत्त्वज्ञान ही ऋतम्भराप्रज्ञा पद का वाच्य है, अतः आत्मज्ञान ही पुरुष को प्रथम सम्पादनीय हुआ।

यह आत्मज्ञान जिन साधनों से प्राप्त होता है वह साधन यद्यपि भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ प्रतिपादन किये हैं तथाऽपि श्रवण-मनन-निदिध्यासन ही मुख्य साधन मानने उचित हैं क्योंकि यही वेदसंमत हैं।

अतएव "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (२) इसश्रुति में इन तीनों को ही आत्मज्ञान का साधन कहा है अन्य को नहीं।

तहां वेदवाक्यों का अद्वितीय-ब्रह्मविषयक-समन्वय के अर्थ जो उपनिषदों के तात्पर्य्यविषयक-अज्ञानसंशयादिप्रति-

---

(१) यदि यह पुरुष (आत्मा) अपने आप को जान जाय कि मैं एतादृश निखिलदुःखाऽनुषङ्गरहित नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप हूं तो फिर यह किस की इच्छावाला हुआ औ किस प्रयोजन के लिये शरीर में मिथ्याऽध्यासकर अनेक प्रकार के विषयभोग के लिये दुःख भोग सकता है यह श्रुति का अर्थ है।

एवं च यह फलित हुआ कि आत्मा के अज्ञान से ही निखिल इच्छा वा दुःखभोगादि उपस्थित होते हैं, अत एव कहते हैं, "व्यतिरेकद्वारा" इति।

(२) याज्ञवल्क्य अपनी प्रिया मैत्रेयी से कहते हैं कि—अरे मैत्रेयि! जिस को अमृतत्त्वसंज्ञक कैवल्य की कामना होय तिस को आत्मा ही ज्ञातव्य=जानने योग्य है, अतः आत्मज्ञान के लिये प्रथम वेदान्त का श्रवण पुनः मनन फिर निदिध्यासन का सम्पादन करे, यह श्रुति का अर्थ है।

बन्धक का निवर्त्तक वेदान्तवाक्यों का उपक्रमादिषड्लिङ्ग द्वारा निर्णयजनक विचार इस का नाम श्रवण है।

अन्य मतों के संग विरोधप्रयुक्त प्रमेय की असम्भावना-रूप प्रतिबन्धक के निराकरणार्थ जो श्रुतिस्मृतिसहकृत तर्क का अनुसरण कर निरन्तर वेदवाक्यों के अर्थ का चिन्तन वह मनन है।

मनन द्वारा निश्चित किये हुये पदार्थ-विषयक जो विप-रीतभावना की निवृत्ति के अर्थ चित्त को एकतान कर देना इस का नाम निदिध्यासन है।

इन तीनों में से आत्मज्ञानरूप तत्त्वज्ञान का निदिध्या-सन अन्तरङ्गसाधन है औ अन्य वहिरङ्ग हैं, अतएव "त-तस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इस श्रुति में ध्यानशील को ही आत्मज्ञान की योग्यता वाला कहा है।

निदिध्यासन औ ध्यान यह दोनों शब्द एकार्थक हैं, (१) अत एव शङ्कराचार्य जी ने (निदिध्यासितव्यः) इस श्रौत पद का (निश्चयेन ध्यातव्यः) निश्चय कर ध्यान कर्तव्य है, यह अर्थ किया है।

यह ध्यान ही कालक्रम से परिपाकदशा को प्राप्त हुआ समाधि कहा जाता है, अतएव स्कन्दाचार्य्य ने "ध्यानद्वाद-शकेनैव समाधिरभिधीयते" इस वाक्य से ध्यान के परिपाक को समाधि कहा है।

बहुत क्या कहें यह निदिध्यासन ही वृद्धि को प्राप्त हुआ परप्रसङ्ख्यान, सम्प्रज्ञात, धर्ममेघ, ऋतम्भरा-प्रज्ञा, ध्रुवास्मृति,

---

(१) श्रुति में ध्यानशील को आत्मज्ञान की योग्यतावाला कहा है कुछ निदिध्यासनशील को नहीं, इस आशङ्का का वारण करते हैं-'निदिध्यासन औ ध्यान यह दोनों शब्द एकार्थक हैं' इति।

गुणवैतृष्ण्य, परवैराग्य, ज्ञानप्रसाद, प्रसङ्ख्यानपरमकाष्ठा, असम्प्रज्ञात, निर्विकल्पसमाधि (१) आदि नामों से व्यवहृत हो जाता है।

यद्यपि विषयभोगवासना तो श्रवण के अंगभूत यमनियमादि से ही निवृत्त हो जाती है औ प्रमाणगत तथा प्रमेय गत असंभावना (२) श्रवण-मनन से निवृत्त हो जाती है अतः इन तीनों प्रतिबन्धकों के अभाव के लिये कुछ निदिध्यासन की अपेक्षा नहीं है तथापि विपरीतभावना (३) की निवृत्ति के अर्थ निदिध्यासन अवश्य ही शरणी करणीय है क्योंकि विना विपरीतभावना की निवृत्ति के अप्रतिवद्ध साक्षात्कार का होना असम्भव है।

अतएव "अथ तद्दर्शनाऽभ्युपायो योगः" * "श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि" † "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" ‡ "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षताऽऽवृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"

---

(१) इस निर्विकल्पसमाधि पर्य्यन्त ही ध्यानवृद्धि की सीमा है, इन में से आदि के पञ्च भेद सम्प्रज्ञातयोग के अन्तर्गत हैं औ अन्त के पट्भेद असम्प्रज्ञात के अन्तर्गत हैं, यह भी जानो।

(२) वेद का तात्पर्य्य द्वैत विषयक है वा अद्वैतविषयक है इस का नाम प्रमाणगत असंभावना है, औ चितिशक्ति प्रकृति से भिन्न है वा नहीं, भिन्न होने पर भी वह कर्ता है वा अकर्ता, अकर्ता होने पर भी वह ज्ञान धर्मवाली है वा ज्ञानस्वरूप, इत्यादि संशय का नाम प्रमेयगत असंभावना है।

(३) यद्यपि वेदों का तात्पर्य्य अद्वैत में होने से अद्वैत किसी मान से वाधित नहीं तथापि मैं उस परमात्मा को साक्षात्कार नहीं कर सकता किन्तु शास्त्रद्वारा परोक्ष ही जानता हूं इत्यादि भ्रान्तिसंस्कार परम्परा का नाम विपरीतभावना है।

* तिस परमात्मा के ज्ञान का उपाय योग है।

† श्रद्धा—भक्ति ध्यानयोग द्वारा आत्मा को जानो, कैवल्य उपनिषद्।

‡ अध्यात्मयोग के लाभ से देव परमात्मा को जान कर विद्वान् हर्ष-

(१) इत्यादि श्रुतियों में निदिध्यासनसंज्ञक योग को आत्म-साक्षात्कार का कारण कहा है।

मनु भगवान ने भी "सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः" इस वचन से योग कोही परमात्मनिष्ठसूक्ष्मता के साक्षात्कार का कारण कहा है।

एवं योगी याज्ञवल्क्य ने भी "इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा-दानस्वाध्यायकर्मणाम् अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनाऽऽत्मदर्शनम्" (२) इस वचन से योगद्वारा आत्मसाक्षात्कार को परम धर्म कहा है।

एवं ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास मुनि ने भी "अपि संराधने प्रत्यक्षाऽनुमानाभ्याम्" (३) इस सूत्र से योग को ही आत्म-साक्षात्कारकारक प्रतिपादन किया है।

न्यायदर्शनकार महर्षि गोतम जी ने भी "समाधिविशेषाभ्यासात्" (४) इस सूत्र से योगाऽभ्यास कोही तत्त्वज्ञान का उपाय कथन किया है।

शोक से रहित हो जाता है, यह कठश्रुति का अर्थ है।

(१) कोईक धीर पुरुष अमृतत्त्व की इच्छा वाला हुआ इन्द्रियवृत्ति को निरुद्ध कर प्रत्यग्आत्मा का साक्षात्कार करता है।

(२) यज्ञ-आचार-दम-अहिंसा-दान-स्वाध्यकर्मों के मध्य में से यही परम धर्म है जो कि योग से आत्मा का ज्ञान हो जाना।

(३) संराधन नाम ध्यान का औ प्रत्यक्ष नाम श्रुति का औ अनुमान नाम स्मृति का है अर्थात् ध्यानकाल में योगीलोक निरस्तसमस्तप्रपञ्च परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं क्योंकि श्रुतिस्मृतियों में ऐसही प्रतिपादित है, तहां श्रुतियां मूल में स्पष्ट ही हैं, औ "योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्" इत्यादि स्मृतियां भी जान लेनी, योगी लोक सनातन परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, यह स्मृति का अर्थ है।

(४) समाधिविशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, यह न्यायदर्शन के ४ अ. २ आन्हिक गत ३८ सूत्र का अर्थ है।

एवं वरुण मुनि ने भी स्वपुत्र भृगु के प्रति "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इस श्रुति से मनइन्द्रिय की एकाग्रतारूप (१) तप-वाच्य योग को ही ब्रह्मज्ञान का कारण कहा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थाऽध्यायगत मैत्रेयी ब्राह्मण के व्यांख्यान में भाष्यकार शङ्कराचार्य्य ने भी "यदैकत्वमेतान्युपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति नान्यथा श्रवणमात्रेण" इस वाक्य से केवल श्रवण को ब्रह्म-साक्षात्कार के अभाव कथन पूर्वक निदिध्यासनसहित ही श्रवण को ब्रह्म के साक्षात्कार का जनक कहा है।

एवं पुराणों में भी "योगात् सं जायते ज्ञानं योगो (२) मय्येकचित्तता" "आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगाद् ऋते नहि"(३) योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरं, प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति" (४) "स्वसंवेद्यं हि तद् ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा, अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम्" (५) "दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका,

---

(१) "मनसश्चेन्द्रियाणां चैवैकाग्र्यं परमं तपः" इस स्मृति से भाष्यकारों ने यहां पर मन औ इन्द्रियों की एकाग्रता का ही नाम तप कहा है।

(२) योग से ज्ञान उत्पन्न होता है औ योग नाम मेरे विषयक चित्त की एकाग्रता का है, यह आदित्यपुराण के वचन का अर्थ है।

(३) आत्मा के ज्ञान से मुक्ति होती है औ सो ज्ञान योग से विना दुर्लभ है, यह स्कन्दपुराण के वाक्य का अर्थ है।

(४) योगरूप अग्नि शीघ्र ही निखिल पापपञ्जरपुञ्ज को दग्ध कर देता है, तिस पाप के दग्ध होने से प्रतिबन्धरहित ज्ञान प्राप्त होता है, औ ज्ञान से निर्वाण संज्ञक मोक्ष प्राप्त होता है, यह कूर्मपुराणस्थ शिव वाक्य का अर्थ है।

(५) यथा कुमारी पतिसङ्गमजन्य स्त्रीसुख को नहीं जान सकती औ जन्मान्ध पुरुष घट को नहीं जान सकता तथा योगाभ्यास से रहित पुरुष आत्मा को भी नहीं जान सकता, यह दक्ष मुनि के वचन का अर्थ है।

योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति" (१) इत्यादि वचनों से योग को ही आत्मज्ञान का जनक कहा है।

एवं च श्रवणमात्र को आत्मसाक्षात्कार का जनक न मान कर श्रवणमननोत्तरभाविनिदिध्यासन पद वाच्य योगयुक्त चित्त को ही आत्मसाक्षात्कार का करण मानना उचित है, अतएव "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" * इत्यादि श्रुतियों में एकाग्र चित्त को आत्मसाक्षात्कार का करण कहा है।

एवं गीताभाष्य में पूज्यपाद शङ्कराचार्य्य जी ने भी "शास्त्राचार्य्योपदेशशमादिसंस्कृतं मन आत्मज्ञाने करणम्" इस वाक्य से योगसहकृत मन को ही आत्मज्ञान का करण कहा है।

एवं बृहदारण्यक में भी "समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" (२) इस श्रुति से समाहितचित्त योगी को ही आत्मज्ञान का अधिकारी कहा है।

एवं छान्दोग्योपनिषद् में भी सनत्कुमार ने नारद के प्रति "सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"(३)

---

(१) हे राम! जन्ममरणरूप संसार संज्ञक जो विषवेग के तुल्य विषूचिका रोग है वह विना योगरूप गारुडमन्त्र से शमन (निवृत्त) होनी असम्भव है, यह वशिष्ठ वाक्य का अर्थ है।

* श्रवण मनन से सूक्ष्म दृष्टिवाले पुरुषों कर निदिध्यासन द्वारा सूक्ष्म औ एकाग्र बुद्धि से आत्मा दृश्य होता है यह कठश्रुति का अर्थ है।

(२) (समाहित) समाधिनिष्ठ हो कर अन्तःकरण में स्थित हुये आत्मा को देखे, यह इस का अर्थ है।

(३) हितमितमेध्यभोजन रूप योग के अङ्ग से अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ध्रुवास्मृति का लाभ होता है औ उस के लाभ से अविवेक बुद्धि सब ग्रन्थियें विमुक्त हो जाती हैं।

इत्यादि से समाधिजन्य ऋतम्भराप्रज्ञासंज्ञक ध्रुवास्मृति को ही मोक्ष का कारण कहा है।

यद्यपि जिन को विपरीतभावना उदय नहीं होती है उन को श्रवण-मनन से ही अप्रतिवद्ध ज्ञान का लाभ होने से कुछ नियम से योग आत्मज्ञान का कारण नहीं है, अतएव "द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव, योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्" (१) इस वाक्य से वशिष्ठमुनि ने विकल्प कहा है, औ ध्यानदीप में "वहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्त्वधीर्नहि, योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन शाम्यति" (२) इत्यादि वाक्यों से विद्यारण्य ने भी विक्षिप्त चित्तों के प्रति ही योगाऽनुष्ठान कहा है कुछ निखिल जिज्ञासुयों के प्रति नहीं, तथापि जिन पुरुषों को पूर्वजन्माऽभ्यस्त योग से इस जन्म में पूर्वाऽभ्यस्त योगवल का लाभ हुआ है उन योगभ्रष्टों विषयक इन वचनों का तात्पर्य होने से दोषाऽभाव जान लेना, नहीं तो शङ्कराचार्य्यादि के मत में भी संन्यास को ज्ञानसाधनता का लाभ नहीं होगा क्योंकि जनकादि को विना संन्यास के ही ज्ञानलाभ होने से तहां संन्यास का व्यभिचार दृष्ट है।

अतएव सर्वज्ञमुनि ने इस व्यभिचार के प्राप्त होने पर "जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिकं च विद्यामवाप्स्यति जनः सकलोऽपियत्र तत्राश्रमे वसन्न

---

(१) चित्तनाश रूप मोक्ष के दो उपाय हैं एक योग औ द्वितीय ज्ञान, यह इस का भाव है।

(२) विक्षिप्त चित्तों को केवल विचार से आत्मज्ञान न होने से योग ही उन के लिये मुख्य है क्योंकि योगद्वारा चित्त विक्षेप से रहित हो जाता है।

निवारयामः" † इस वाक्य से पूर्वजन्मअनुष्ठित संन्यास सद्भाव को मानकर व्यभिचार का परिहार किया है, एवं च जैसे कहीं विना संन्यास से भी ज्ञान का लाभ होने पर पूर्वजन्मकृत संन्यास को मान कर संन्यास को ज्ञान का अङ्ग स्वीकृत है तैसे यहां भी जहां विना योगाभ्यास से ज्ञान प्राप्त हो जाय तहां पूर्व जन्माऽनुष्ठित योग का सद्भाव मान कर योग को आत्मज्ञान का कारण जानना ।

अतएव भगवान ने "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकं, यतते च ततः भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन" (१) इस वाक्य से पूर्वजन्मअनुष्ठित साधन सम्पत्ति से उत्तर जन्म में फल का लाभ कहा है ।

इसी अभिप्राय से ही पुराणों में "जैगीष्यो यथा विप्रो यथा चैवाऽसितादयः, क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाऽऽधारादयो विशः, सम्प्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाऽभ्यस्तस्वयोगतः" (२) इत्यादि वाक्यों से जनकादि को पूर्वाऽभ्यस्तयोग से ज्ञान का लाभ कहा है ।

किञ्च जिन पुरुषों को पूर्वजन्माऽभ्यस्त साधनों से कथञ्चित् तत्त्वज्ञान उदय हो जाता है उन को भी प्रारब्धकर्मप्रयुक्त दृष्ट दुःख की निवृत्ति के अर्थ योग अवश्य ही आश्रय-

(†) यदि पूर्वजन्म में ही संन्यासपूर्वक श्रवणादि का अनुष्ठान किया होय तो उत्तर जन्म में जिस किसी आश्रम में रह कर भी पुरुष विना संन्यास से विद्या का लाभ कर लेता है, इस के निवारण में किसी का सामर्थ्य नहीं है ।

(१) तिस उत्तरजन्म में पूर्व देह में होनेवाली बुद्धि के संग वह योगभ्रष्ट संयोग का लाभ करता है, औ इसी से ही वह शीघ्र २ मोक्ष के लिये यत्न में तत्पर होता है ।

(२) जनकादिक पूर्वजन्माऽभ्यस्त योग से मोक्ष को प्राप्त हुये हैं ।

णीय है क्योंकि आत्मज्ञान आगामी तथा सञ्चित कर्मों के ही नाश करण में समर्थ है कुछ प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति में नहीं।

अतएव ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास जी ने "तदधिगम उत्तर पूर्वाऽघयोरसंश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" † इस सूत्र से प्रारब्ध कर्मों से भिन्न ही कर्मों की आत्मज्ञान से निवृत्ति कही है।

एवं च प्रारब्धप्रयुक्त दृष्ट दुख की निवृत्ति के अर्थ तथा मनोनाशवासनाक्षय द्वारा जीवन्मुक्ति के संपादनार्थ सर्वोत्कृष्ट योग मुमुक्षु को उपादेय है यह सिद्ध हुआ।

यदि कोई यह कहै कि आत्मज्ञान द्वारा विदेहमुक्ति के लाभ से ही कृतकृत्य होने से जीवन्मुक्ति की कुछ आवश्यकता नहीं कि जिस के लिये योगाभ्यास द्वारा मनोनाश वा वासनाक्षय किया जाय, तो उस से हम यही कहेंगे कि आप देवलोक के भोग से ही अपने को कृतकृत्य मानकर विदेह मुक्ति के लिये महा वाक्य का श्रवण भी मत कीजिये।

यदि यह कहो कि क्षय अतिशय आदि दोष विशिष्ट होने से स्वर्ग हेय है तो निखिल दोषों में अग्रगण्य मनोराज्य तथा वासना को स्वयं दोषरूप होने से यह दोनों भी योग द्वारा हेय क्यों नहीं हो सकते, यदि यह कहो कि मनोराज्य से क्या अनिष्ट होता है कि जिस की निवृत्ति के लिये योगाभ्यास अपेक्षित है तो और अनिष्ट तो अपने अन्तर्य्यामी से पूछिये पर जो अनिष्ट कृष्णमहाराज जी ने श्रीमुख से कथन किया है वह हम से श्रवण कीजिये—यथा "ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते," *—इत्यादि

† तिस परमात्मा के साक्षात्कार होने से आगामी तथा सञ्चित पुण्य पाप का संसर्गाभाव औ विनाश हो जाता है क्योंकि वेद में ऐसे ही लिखा है, यह इस का संक्षिप्त अर्थ है। अ. ४ पाद १ सूत्र १३।

* विषयों का ध्यान करते हुये पुरुष का तिन विषयों में (यह विषय मेरे

एवं च निखिलाऽनर्थ भाजन प्रारब्ध कर्म का निवर्तक तथा मनोनाशवासना क्षय द्वारा जीवन्मुक्ति का संपादक जो योगाभ्यास वह अवश्यही मुमुक्षु को उपादेय है, सो यह योग यद्यपि श्वेताऽश्वतर, कठ, मैत्रायणी आदि उपनिषदों में प्रतिपादित है तथापि वह एकत्र साङ्गोपाङ्ग निबद्ध नहीं हैं, अतः परमकृपालु पतञ्जलिमुनि ने मुमुक्षुयों के उद्धारार्थ वह योग सूत्र द्वारा साङ्गोपाङ्ग चार पादों में विभक्त किया है, इसी का नाम योगचतुष्पादी वा योगशास्त्र औ पातञ्जलदर्शन है, इन योगसूत्रों को अतिसंक्षिप्त औ गूढार्थ होने से अनति-प्रौढ़ज्ञानशाली जनों का इन से उपकार न देखकर भगवान वेदव्यास जीने भाष्यद्वारा भूषित औ परिवर्द्धित कर विशद किया है, औ इस भाष्य को भी क्षणिक-परमाणु पुञ्जादिनि-रासप्रभृति अतिगहन विषयों से संवलित जान कर निखि-लतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पतिमिश्र ने तत्ववैशारदी नामक व्याख्या से अलंकृत किया है, यद्यपि अनेक स्थलों में कठिन होने से भाष्य औ व्याख्या को अल्पविवरण द्वारा परिभूषित कर मैंने पाहिलेभी निखिलदेशीय विद्वजनों के यह दृष्टिगोचर किया है, तथापि हिन्दीभाषावेत्ताओं के उपकारार्थ इदानीं हिन्दीभाषा में इस का अनुवाद कर यह प्रकाशित किया जाता है—

सुख के जनक हैं) इस प्रकार सङ्ग हो जाता है इस सङ्ग से (यह विषय मुझे मिलें) इस प्रकार काम होता है और काम से उस काम के हनन करने वाले विषयक क्रोध उत्पन्न होता है औ क्रोध से संमोह=कर्तव्याऽकर्तव्य विवेक का अभाव होता है, औ संमोह से शास्त्राचार्य्योपदिष्ट अर्थ विषयक स्मृति का नाश होता है औ स्मृति के नाश से आत्माऽऽकार बुद्धि का नाश होता है, औ बुद्धि के नाश से पुरुष नाश को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् पुरुषार्थ से भ्रष्ट हुआ मृतप्राय हो जाता है।

नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

भगवान पतञ्जलि बुद्धिमान योगजिज्ञासुजनों की प्रकृत शास्त्र में प्रवृत्ति के अर्थ (लिये) तात्पर्यद्वारा (१) अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन करतेहुये मुखतः (२) चिकीर्षित शास्त्र के आरम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं—

टिप्पण—अथ स्वामी आत्मस्वरुप उदासीन कृत विषमस्थल विवरणम् ।

नमः श्री शरणापन्नपरित्राणपरायणनारायणाय गुरवे ।

(१) जिन्हों के जाने विना ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवीण पुरुषों की प्रवृति नहीं हो सकती है एवंभूत जो ग्रन्थ में प्रवृत्ति के प्रयोजकीभूत विषय प्रयोजन संबन्ध अधिकारी, वह अनुबन्ध कहे जाते हैं, अर्थात् यावत्काल (जब तक) पुरुष को यह ज्ञात नहीं होगा कि इस ग्रन्थ में कौन २ विषय हैं, औ इस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है, औ प्रयोजन के साथ ग्रन्थ का सबन्ध क्या है, औ कौन पुरुष इस का अधिकारी है, तावत्काल (तब तक) बुद्धिमान पुरुष की किसी ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है, इसी से ही शिष्टों ने विषय आदि चारों का नाम अनुबन्ध रक्खा है, क्योंकि यह चारोंही अनु नाम अपने ज्ञान से अनन्तर ज्ञाता पुरुषों को शास्त्र में बद्ध कर देते हैं, एवंच प्रकृत योगशास्त्र में भी पुरुषों की प्रवृत्ति के अर्थ वह अनुबन्ध प्रति पादन करने उचित हैं, नहीं तो प्रकृत शास्त्र में जिज्ञासुजनों की प्रवृत्ति नहीं होगी, सो यहां पर ‘ योगानुशासन ’ इस शब्द से लक्षण, भेद, साधन, फल, सहित योग का निरूपण इस शास्त्र का विषय कथन किया है, औ निखिल अनर्थ प्रहाण पूर्वक चितिशक्ति पुरुष की स्वरूपावस्थिति रूप कैवल्य इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, सो अन्तिम सूत्र से सूत्रकार ने कहा है, एवं अवान्तर प्रयोजन अणिमादि ऐश्वर्य्य का लाभ भी जान लेना, औ जो पुरुष इन्ह दोनों फलों की लिप्सा (लाभ की इच्छा) वाला है वही इस का अधिकारी है, एवं योग औ कैवल्य का साध्यसाधन भाव, तथा शास्त्र औ योग का प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव संबन्ध भी जान लेना, यद्यपि सूत्रकार ने इस प्रकार स्पष्टरूप से श्री मुख से स्वयं यह नहीं कहा है तथापि सूत्रकार का यह अभिप्राय है, इसी से ही ‘ तात्पर्य्य द्वारा ’ यह गुरुचरणों ने लिखा है ।

(२) मुखतः=साक्षात् शब्दोचारण द्वारा, । करने की इच्छा का विषय भूत चिकीर्षित कहा जाता है ।

सू० अथ योगाऽनुशासनम् ॥ १ ॥

भाषा–अथ शब्द यहां पर † अधिकार (आरम्भ) रूप अर्थ का वाचक वा द्योतक है, (१) औ योग नाम अग्रिम सूत्र से वृत्ति निरोधका वाचक है, एवंभूत योग का लक्षण, भेद, साधन, फल, निरूपन पूर्वक अनुशासन=प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्र वह योगाऽनुशासन कहा जाता है।

तथा च यह अर्थ हुआ कि-योग एवं योगोपयोगी अभ्यास वैराग्य यम नियमादिं पदार्थों का लक्षण (२) भेद साधन फल वर्णनवाले योग शास्त्र का मैं आरम्भ करता हूं, (३) यद्यपि सूत्रकार ने योग का ही आरम्भ कहा है तथापि यथा लोक में राजा गमन करता है इस कथन से सेना आदि परिवार सहित ही राजा का बोध होता है तथा यहां भी प्रधान भूत योग का आरम्भ कहने से तत्साधन अभ्यासादि रूप परिवार का भी आरम्भ जान लेना।

यद्यपि (मङ्गलाऽनन्तराऽरम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ) (४) इस कोष

(†) कुछ यह मत जानना कि सर्वत्र ही अथ शब्द का अर्थ आरम्भ ही है क्योंकि (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) इत्यादि मीमांसा सूत्रों में अनन्तर अर्थ भी इस का शिष्टों ने माना है, इसी के बोधनार्थ कहा है 'यहां पर' इति अधिकार, प्रस्ताव आरम्भ, यह तीनों शब्द एकार्थक हैं।

(१) किसी का यह मत है कि अथ शब्द का अर्थ तो आरम्भ नहीं है किन्तु जहां पर अथ शब्द का उच्चारण होय वहां जानलेना कि लिखनेवाले का तात्पर्य्य (आरम्भ करता हूं) इस शब्द के अध्याहार में है, इसी का नाम द्योतक है।

(२) योग का लक्षण २ सूत्र, औ भेद १७। १८। सूत्र से, औ साधन १२ सूत्र से, फल अन्तिम सूत्र से, औ अवान्तर फल तृतीय पाद से जान लेना, एवं अभ्यास का लक्षण भेद १३। १४। सूत्र से, औं वैराग्य का १५। १६। सूत्र से जान लेना। एवं अन्य भी स्थाने स्थाने समझ लेना।

(३) यद्यपि (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः) इस योगी याज्ञवल्क्य के वाक्य से प्राचीनाचार्य्य हिरण्यगर्भ ही योगशास्त्र का वक्ता प्रतीत होते हैं तथापि उसी हिरण्यगर्भ उपदिष्ट योग का पतञ्जलि मुनि सांगोपाङ्ग विस्तरपूर्वक निरूपण करते हैं यह जानलेना, इसी से ही 'योग शासनम्' ऐसे न कहकर मुनि ने 'योगानुशासनम्' यह कहा है, क्योंकि अनु नाम पश्चात् का है, तथा च हिरण्यगर्भ उपदिष्ट योग का ही मैं पुनः विस्तर पूर्वक प्रतिपादन करता हूं यह इस का आशय है।

(४) मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, संपूर्ण इन्ह पांचो अर्थों में अथ अथो शब्द की शक्ति है।

से अथ शब्द के अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं तथापि (अथ इत्ययमधिकारार्थः, †: इ स प्रकृतसूत्रस्थभाष्य से यहां आरम्भार्थक ही जानना ।

यद्यपि शिष्टों के आचरण से (१) वा (ओङ्काराऽथकारौ) इत्यादि सूत्र प्रभृति प्रमाणों से ग्रन्थारम्भ में अवश्य कर्तव्य मङ्गलाचरण के बोधनार्थ भी अथ शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है तथापि यथा लोक में भोजन आदि अन्य प्रयोजन के लिये नीयमान दधि आदि मङ्गल्य पदार्थ भी स्थानान्तर गमन कर्ता पुरुष को प्रयाण समय दृष्टि गोचर हुये शुभ सूचक होते हैं तथा आरम्भ आदि अन्य अर्थ बोधन करने के लिये उच्चारण किया हुआ अथ शब्द भी मृदङ्गादि ध्वनिवत् श्रवण मात्र से ही मङ्गल बोधन करता है (२) कुछ अर्थ इस का मङ्गल नहीं है यह जानना, यही सर्व आचार्यों का मत है, किंच आरम्भार्थक न मानने से प्रकृत शास्त्र के आरम्भ की प्रतिज्ञा का लाभ भी नहीं होगा, इस से शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा के लाभार्थ यहां पर अथ शब्द का आरम्भ अर्थ ही करना उचित है, अन्य अर्थ की तो योग्यता ही नहीं है, यद्यपि शिष्य के प्रश्न से अनन्तर योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं इस प्रकार

(†) यह अथ शब्द आरम्भ अर्थ का वाचक है, यह भाष्य का अर्थ है ।

(१) जिस कार्य्य का कोई श्रुति वा स्मृति साक्षात विधान न करती होय किन्तु शिष्ट जन अनुष्ठान करते होंय वह कार्य भी सदाचार रूप प्रमाण से करना उचित माना जाता है, जैसा कि होलिका दहन बसन्तोत्सव प्रभृति तत्तद्देशीय कार्य्यों का करना, यह पूर्व मीमांसा में निर्णीत है, एवंच मङ्गलाचरण पूर्वक ग्रंथारम्भकरन रूप शिष्टाचार प्रमाण से ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण अवश्य कर्तव्य है यह इस का भाव है, इस प्रकार अन्य ग्रन्थकारों के मत से मङ्गलाचरण की कर्तव्यता प्रतिपादन कर इदानीं श्री ६ स्वामी जी अपने मत से मङ्गलाचरण करने में प्रमाण उपन्यास करते हैं (ओंकार) इत्यादि, यह सूत्र कात्यायनमुनि प्रणीत शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य का १७वां है, आरम्भ में मङ्गलार्थ ओंकार वा अथ शब्द का उच्चारण करना उचित है, यह भाष्यकार उवट्टाचार्य्य ने इस का अर्थ किया है, एवं साङ्ख्य दर्शन के पञ्चमाध्याय के (मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् श्रुतितश्च) इस प्रथम सूत्र से कपिलमुनि ने भी मङ्गलाचरण की अवश्य कर्तव्यता बोधन किंयी है, इसी लिये 'इत्यादि सूत्र' यह आदि पद दिया है, सूत्र प्रभृति पद से 'मङ्गलादीनि' इत्यादि महाभाष्यकार के वाक्य का सङ्ग्रह जानलेना ।

(२) जैसा कि मृदङ्ग दर्शन मङ्गल का बोधक नहीं है किन्तु मृदङ्गध्वनि श्रवण, तैसे अथ शब्द का अर्थ मङ्गल नहीं है किन्तु श्रवणही मङ्गल्य है ।

अनन्तर रूप अर्थ का भी यहां संभव हो सकता है तथापि ऐसी उस की आवश्यकता नहीं है जैसी कि आरम्भ की प्रतिज्ञा की आवश्यकता है, किंच यदि अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य्य माना जायगा तो 'आरभ्यते' इस पद का अध्याहार कर (मैं आरम्भ करता हूं) यह अर्थ करने में गौरव भी होगा, इस से अथ शब्द का यहां आरम्भ ही अर्थ जानना, यहां पर विचारान्तर भाषावेत्ताओं को अनुपयोगी जान कर नहीं लिखा गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार योगशास्त्र के आरम्भ की प्रतिज्ञा कर इदानीं द्वितीय सूत्र से योग का लक्षण कहते हैं—

सू० योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

भाषा—चित्तवृत्तियों के निरोध (रोकने) का नाम योग है, गुणत्रयस्वरूप प्रकृति के सत्व रज तम इन्ह तीनों गुणों में से जो लाघव औ प्रकाश स्वभाव वाले स्वच्छ सत्व गुण का परिणाम * (कार्य्य) विशेष वह चित्त (१) कहा जाता है, इसी चित्त के ही परिणामों की वृत्ति संज्ञा है। अर्थात्—यथा अगाधजल परिपूर्ण नदी में वायु प्रयुक्त चाञ्चल्य से जल ही तरङ्ग भाव से परिणत हुआ गमन आगमन शील हो कभी तीर को त्याग वहिर्मुख होय इतस्ततः (इधर उधर) वहता हुआ प्रवाह से न मिलकर तीर सन्निहित गर्त वा खाड़ी प्रभृति से संबद्ध होकर तदाकार परिणाम को प्राप्त होता है, औ कभी वही जल अपनी वहिर्मुखता का त्याग कर प्रति लोम (उलटे) वेग को धारन कर स्वअङ्गीभूत प्रवाह के सन्निहित ही तरङ्गाकार से परिणत होता है, औ कभी वात प्रयुक्त चंचलता के अभाव से अपने स्वरूपभूत प्रवाह में ही अन्तर्भूत हो जाता है, तथा चित्त रूप नदी में भी विषयज्ञान जनित संस्कार रूप वायु से अनेक

(*) पूर्व धर्म के परित्याग पूर्वक धर्मान्तर के ग्रहण करने को परिणाम कहते हैं, जैसा कि दुग्ध स्वनिष्ट विलक्षण माधुर्य्य तथा अतिद्रवीभूतता औ रेचकता रूपधर्म को त्याग कर काठिन्यादि रूप धर्मान्तर के ग्रहण करने से दधि कहा जाता है, इसी से ही दधि को दुग्ध का परिणाम कहते हैं, सांख्य योग मत में कार्य की परिणाम सञ्ज्ञा है।

(१) यद्यपि सांख्य वा योग दर्शन में तत्वों की उत्पत्ति औ गणना प्रकरण में चित्त तत्व का कहीं नाम नहीं आता है तथापि इन्ह दोनों दर्शनों में बुद्धि के स्थान में चित्त का औ चित्त के स्थान में बुद्धि का परस्पर व्यवहार देखने से बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्व ही का भेद चित्त तत्त्व जानना चाहिये, इसी आशय से ही चित्त को प्रकृति का सात्विक परिणाम कहा है। सांख्यप्रवचनभाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी प्रथमाध्याय के ६४ सूत्र में चित्त का बुद्धि में ही अन्तर्भाव कहा है।

प्रकार की तरङ्गें उत्पन्न होकर कभी नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा बाह्य विविध घटादि पदार्थों से संबद्ध हो उन्ह विषयों के समान आकार को धारन करतीं हैं, औ कभी बहिर्मुख परिणाम को त्याग कर अपने कारणभूत चित्त के सन्निहित ही काम, क्रोध, राग, लोभ, मोहादि रूप से स्थित होती हैं, इन्हीं परिणाम विशेषों का नाम वृत्ति है ।

सो यह चित्तवृत्तियें निरन्तर ही बाह्यघटादि आकार से औ आन्तर कामादि आकार से उत्पन्न होती रहती हैं, सो यहां इन्ह वृत्तियों के स्वभाव सिद्ध प्रवाह का अपने कारण भूत चित में लवलीन होकर रुक जानाही चित्तवृत्तिनिरोध कहा जाता है, (१) अर्थात्—जब पूर्व पुण्य के परिपाक से दीर्घ काल आदरपूर्वक सत्कारसेवित दृढ अभ्यास औ वैराग्य द्वारा चित्त की बहिर्मुख प्रवाहशीलता औ आन्तर कामाकारादिरूप प्रवाह शीलता निवृत्त हो जाती है औ केवल चतुर्भुजादि ध्येयाकार सात्विक तरङ्ग सेही चित परिणत हो जाता है तब वही चित एकाग्र परिणाम वाला कहा जाता है, औ इसी चित की अवस्था को ही संप्रज्ञातयोग वा संप्रज्ञातसमाधि भी कहते हैं ।

औ फिर जब परवैराग्य के सेवन से वही चित आन्तर ध्येयाकारता से भी निवृत होकर निष्पन्द निस्तरङ्ग निर्वातदेशस्थ जलवत् अचल हो जाता है तब वह चित्त निरुद्ध कहा जाता है, इसी अवस्था कोही असंप्रज्ञातयोग वा असंप्रज्ञातसमाधि भी कहते हैं ।

भाव यह है कि-क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध भेद से चित्त पंच प्रकार का है, तहां जो चित्त रजोगुण की बहुलता से अत्यन्त चञ्चलशील होकर ऐहिक मिथ्या विषयसुखादि में सत्यत्व बुद्धि से तत्पर होकर जलौका (जोंक) के तुल्य एक विषय को त्यागकर अन्य विषयों का ग्रहण करताहुआ कदापि स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है वह चित्त क्षिप्त कहा जाता है, यह चित्त बहुलता से दैत्य वा दानवों का होता है, (२)

औ जो चित्त तमोगुण के आधिक्य से कर्तव्याऽकर्तव्य विवेक से शून्य होकर निरन्तर निद्रा तन्द्रा आलस्य प्रभृति में हीं मग्न रहता है औ कदाचित् आलस्य को त्याग किसी कर्म में प्रवृत होने पर भी क्रोधान्ध होकर अकारण किसी

---

(१) जैसे जल तरङ्गाकार परिणाम को त्याग कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तैसे विविधविषयाकार परिणाम त्याग कर चित्त का स्वरूपावस्थित हो जाना ही चितवृतिनिरोध कहा जाता है, यह तत्त्व है ।

(२) इन्हों के समानप्रकृतिक धनमद मत्त पुरुषों का चित भी क्षिप्त हो जानना उचित है ।

के मारण में ही तत्पर हो जाता है वह चित मूढ कहा जाता है, यह चित बहुलता से पिशाच वा राक्षसों का होता है (१) ।

औ जो चित्त सत्व गुण की प्रधानता से सर्वदा दुःखसाधनजातपदार्थों का परित्याग कर-प्रायः सुखसाधनकर्म करने में ही उद्यत रहता है सो चित्त विक्षिप्त (२) कहा जाता है, यह चित्त प्रायः देवताओं का होता है, (३) औ जो चित्त रजतमरूपमल के संपर्क से विरहित हो विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान हुआ किसी सूक्ष्मतत्त्व का आलंबन कर प्रतिक्षण निर्वातदेशस्थदीपशिखावत् स्थिरता को धारन करता है वह एकाग्र कहा जाता है, (४) इसी को एकतान भी कहते हैं, एतादृश चित्त उन्हीं का होता है जो कि यमनियमादि (५) के अभ्यास से संप्रज्ञातसमाधि में आरूढ हो चुके हैं ।

औ जो चित्त निरालम्बन हो स्वकारण प्रकृति में लीन होने से निस्तरङ्ग निष्पन्द होकर दग्धरज्जु के तुल्य केवल संस्कार मात्रहीशेषवाला हुआ भर्जितचणकाकार होने से स्वकार्य्यजनन में असमर्थ होता है वह निरूद्ध (६) कहा

(१) इन्हीं के तुल्य स्वभावशील मदिरापान करनेवालों का चित्त भी मूढ ही समझना ।

(२) यहां पर विक्षिप्त शब्द से अधिक क्षिप्त नहीं जानना किन्तु क्षिप्त चित्त से जो विशिष्ट अर्थात् उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) होय वह विक्षिप्त समझना, उत्कृष्टता इस में यह है कि क्षिप्त चित्त रजोगुण के आधिक्य से सर्वदा चंचल ही रहकर स्थिरता को कभी भी नहीं धारन करता है, औ विक्षिप्त चित्त सत्त्व गुण के प्रभाव से चांचल्य को परित्याग कर समय २ स्थिरता को भी स्वीकार करलेता है ।

(३) निष्काम कर्मानुष्ठान वाले जिज्ञासुओं का चित्त भी विक्षिप्त ही होता है ।

(४) विक्षिप्त चित्त से एकाग्र चित्त का यह भेद है कि विक्षिप्त चित में रजोगुण के लेश सहित सत्वगुण प्रधान रहता है औ एकाग्र में वह रजो लेश भी न रह कर विशुद्ध सत्वगुण प्रधान होता है ।

(५) यमनियमादि अङ्गों का निरूपण द्वितीयपाद में होगा ।

(६) एकाग्र चित्त से निरुद्ध चित्त का यही भेद है कि एकाग्र में किसी न किसी तत्व का आलम्बन ' सहारा ' बना रहता है, औ निरुद्ध चित्त निरालम्बन हो कर मृत प्राय हो जाता है । यहां पर यह भी जान लेना उचित है कि जैसे क्षिप्तादि अवस्थाएं चित्त का धर्म हैं तैसे निरुद्धावस्था भी चित्त का ही धर्म है कुछ पुरुष का नहीं, क्योंकि पुरुष को नित्य कूटस्थ होने से परिणामिता का अभाव से तिस में वृति का कभी उदय औ कभी निरोध होना संभव नहीं है, इसी सेही भाष्यकारों ने निरोध को चित्त का धर्म कहा है ।

जाता है, एतादृश चित्त परवैराग्य * शीलों का होता है, इसी निरुद्ध चित्त वाले को ही प्रक्षीणक्लेश, कृत्यकृत्य औ जीवन्मुक्त कहा जाता है।

इस प्रकार यह एकही चित्त क्षिप्तादि भूमिका (अवस्था) के भेद से पंच प्रकार का कहा जाता है, इन्ह पाचों अवस्थाओं में से अन्त की दो अवस्था ही योग शब्द वाच्य हैं अन्य नहीं, कारण यह कि क्षिप्त-मूढ अवस्था तो रजतम की अधिकता से योग की विरोधिनी ही है, केवल विक्षिप्तावस्था कुछ कुछ योग के अनुकूल हो सकती है परन्तु उस में भी रजोगुण का संपर्क रहने से वह भी हेय कोटि में ही है,(१)इसी से ही भाष्यकारों ने (विक्षिप्त चित्त(२)में होने वाली निरोध संज्ञक स्थिरता को वहुल विक्षेप संवलित होने से योग-शब्द वाच्यता का अभाव कह कर)(जो एकाग्र चित (३) में होने वाला राजसतामस वृति का निरोध परमार्थ भूत ध्येय वस्तु का साक्षात्कार करता है, औ क्लेशों का समूल उच्छेद करता है, औ बन्धन के कारण कर्मजन्य अदृष्टों को भूंज कर आगामि जन्मादि उत्पादन में असमर्थ कर देता है, औ असम्प्रज्ञातसमाधि के लाभ की योग्यता का संपादन कर देता है वह निरोध संप्रज्ञातयोग * कहा जाता है, सो यह संप्रज्ञात वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार का है, यह आगे कहा जायगा ※, औ जिस निरोध में ध्येयाकार वृत्ति भी नहीं रहती है वह असम्प्रज्ञातयोग कहा जाता है) इस प्रकार एकाग्र औ निरुद्ध अवस्था को ही योग पद वाच्य कहा है अन्यों को नहीं, बस यही दो प्रकार का योग सूत्रकार ने चित्तवृत्तिनिरोध पद से लक्षित किया है।

आशङ्का—इस पूर्व कथन से यह निश्चित हुआ कि एकाग्रावस्था में विद्यमान(होने-

---

(*) पर वैराग्य का लक्षण १६ वें सूत्र में देखो।

(१) यद्यपि विक्षिप्तावस्था में स्थिरता के सद्भाव से कुछ २ योग के संचार होने की संभावना हो सकती है तथापि उस स्थिरता को चित्त पर अत्यन्त ही सूक्ष्म काल रहने से वह स्थिरता योग की उपयोगिनी नहीं है, यह इस का भाव है।

(२) 'विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते' इस भाष्य का अनुवाद करते हैं, 'विक्षिप्त इत्यादि से'।

(३) 'जो एकाग्र' यहां से लेकर 'वह असंप्रज्ञात योग कहा जाता है,' यहां पर्य्यन्त 'यस्त्वेकाग्रेचेतसि' इत्यादि भाष्य का अनुवाद है, भाष्य का पाठ लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं है, इस से नहीं लिखा।

(*) सम्यक् प्रकार से ध्येय वस्तु का प्रज्ञान=साक्षात्कार होता है जिस निरोध में वह संप्रज्ञात कहाजाता है।

(※) इस पाद के १७ वें सूत्र के व्याख्यान में यह स्पष्ट होगा।

वाली) ध्येयाकार सात्विकी चित्तवृत्ति औ निरुद्धावस्था में विद्यमान निखिल वृत्तियों का निरोध यह दोनों ही योग शब्द के वाच्य हैं, औ यही भाष्यकारों ने माना है, परन्तु ऐसा मानने से जो चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग का लक्षण सूत्रकारों ने कहा है सो लक्षण अव्याप्ति दोष ग्रस्त (१) होने से दुष्ट होगा, क्योंकि संप्रज्ञात योग में ध्येयाकार वृत्तिके सद्भाव से वृत्तियों का निरोध न होने से वृत्ति निरोध रूप लक्षण वहां पर वर्तमान नहीं है, यदि यह कहा जाय कि (सूत्र में (२) सर्व शब्द का ग्रहण तो सूत्रकार ने किया ही नहीं जिससे निखिल वृत्तिनिरोध को ही योग माना जाय किन्तु वृत्ति निरोधमात्र कहा है, एवं च किसी एक वृत्ति का निरोध चाहिये, सो राजसतामस वृत्तियों का निरोध एकाग्रावस्था में होनेवाले संप्रज्ञातयोग में भी विद्यमान है, इस से यह लक्षण अव्याप्ति दोष ग्रस्त नहीं है,) सोभी समीचीन नहीं है, कारण यह कि-ऐसे मानने से अव्याप्ति दोष का यद्यपि वारण हो सकता है परन्तु अतिव्याप्तिरूप दोष (३) एक अन्य गलेपतित हो जाता है, क्योंकि सर्व पदके न ग्रहन करने से आप ने यही अर्थ माना है कि किसी न किसी वृत्ति के निरोध का ही नाम योग है, एवं च जैसे राजसतामस वृत्ति का निरोध संप्रज्ञात में है ऐसे सात्विक वृत्ति के निरोध को क्षिप्त अवस्था में, औ राजस वृत्ति के निरोध को मूढादि अवस्था में विद्यमान होने से उन्हीं को भी योग मानना पड़ेगा, परन्तु सो किसी को संमत नहीं, तथा च किसी न किसी वृत्ति निरोधरूप योग लक्षण को अलक्ष्य क्षिप्तादि अवस्थाओं में वर्तने से यह लक्षण भी दुष्ट ही है ।

---

(१) जो लक्षण निखिल लक्ष्य में न रहकर किसी एक लक्ष्य में वरते वह लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त कहा जाता है, अतएव (कपिलवर्णवाली गईया कही जाती है, यह गौ का लक्षण दुष्ट माना जाता है क्योंकि यह लक्षण रक्तवर्णवाली गईया में वर्तमान नहीं हैं, एवं च चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग लक्षण भी संप्रज्ञातयोग रूप लक्ष्य में न रहकर केवल असंप्रज्ञातयोग में वर्तने से अव्याप्तिदोष ग्रस्त होगा, यह इस का भाव है ।

(२) जिस उपाय को आश्रयण कर भाष्यकारो नें अव्याप्ति का परिहार किया है उसी उपाय का प्रदर्शन कर दोष निरास करते हैं (सूत्र में) इत्यादि ग्रन्थ से ।

(३) जो लक्षण लक्ष्य में रह कर अलक्ष्य में भी वर्ते वह लक्षण अतिव्याप्ति रूप दोष युक्त कहा जाता है, जैसा कि गईआ का लक्षण शृङ्गवाली, क्योंकि यह लक्षण गो रूप लक्ष्य में रहकर अलक्ष्य महिष प्रभृति में भी वर्तमान है, तैसे यहां पर किसी एक वृत्ति के निरोध को योग लक्षण कहने से अलक्ष्य क्षिप्तादि अवस्था में भी इस लक्षण की विद्यमानता से यह लक्षण भी अति व्याप्ति रूप दोष युक्त कहा जायगा यह इस का भाव है ।

समाधान—योगजिज्ञासुजन! योगतत्त्ववेत्ता विचक्षणजन इस आशङ्का का वारण इस प्रकार करते हैं कि न तो हम अव्याप्ति के भय से निखिलवृत्ति निरोध को योग कहते हैं, औ न अतिव्याप्ति के भय से किसी एक वृत्ति के निरोध को ही योग कह सकते हैं किन्तु क्लेश कर्म वासना का समूल नाशक जो वृत्तिनिरोध वही योग पद का वाच्य मानते हैं (१), एवंच एकाग्रवस्था में विद्यमान (होनेवाले) संप्रज्ञातपद वाच्य राजसतामसवृत्ति के निरोध को औ निरुद्धावस्था में विद्यमान असंप्रज्ञातपद वाच्य निखिलवृत्तिनिरोध को क्लेशादि का नाशक होने से यह दोनों ही अवस्था योगपदवाच्य हुयीं, औ विक्षिप्त भूमिका में विद्यमान ध्येयाकार सात्विकवृत्ति के निरोध को औ क्षिप्त भूमिका में विद्यमान सात्विकतामसवृत्ति के निरोध को औ मूढ़ावस्था में विद्यमान सात्विक राजस वृत्ति के निरोध को क्लेशादि का नाशक न होने से यह तीनों अवस्थ्या योगपद वाच्य नहीं है, इस प्रकार अव्याप्ति अतिव्याप्ति रूप दोषविनिर्मुक्त होने से यह लक्षण ही सर्वथा आश्रणीय है, औ यही भाष्यकारों का आशय है, अतएव प्रथमसूत्र के व्याख्यान में वेदव्यासजी ने (जो (२) एकाग्रचित्त में विद्यमान क्लेश कर्मवासना का समूल नाशक निरोध वह संप्रज्ञात योग कहा जाता है) इस प्रकार संप्रज्ञातयोग को क्लेशादि का नाशक कहा है, जब कि संप्रज्ञातयोग भी क्लेशादि का नाशक है तो असम्प्रज्ञातयोग सुतरां ही क्लेशादिनाशक हुआ, तथा च क्लेशादिनाशकत्व रूप धर्म को एकाग्र निरुद्धभूमिका में विद्यमान होने से यही लक्षण समीचीन है, इसी लक्षण को आश्रयण कर ही टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अव्याप्त्यादि दोष का उद्धार किया है।

जो कि योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु ने (किसी एक वृत्ति के निरोध को योग कहने से क्षिप्तादि भूमिकाओं को भी योगपद वाच्यत्व हो जावेगा) इस प्रकार अतिव्याप्तिरूप दोष का आपादन कर (द्रष्टा पुरुष की अपने शुद्ध रूप में अवस्थिति का हेतु जो निरोध सो योग पद अभिधेय है) इस प्रकार

(१) अविद्यादि क्लेश, पुण्य पाप रूप कर्म, तथा शुभाशुभ वासनाही पुरुषों को बन्धकारक हैं अतः इन्हों का नाश ही पुरुषों को मुख्यतया अभीष्ट है, औ इन्हों के नाशार्थ ही पुरुष योग में प्रवृत्त होते हैं, सो इन्ह सब का नाश संप्रज्ञात औ असंप्रज्ञात योग से ही होता है अन्य से नहीं इस से यह दोनों ही अवस्थ्या योगपद वाच्य हैं अन्य नहीं, इसी को ही लक्षणसमन्वय द्वारा स्पष्ट करते हैं, 'एवंच' इत्यादि ग्रन्थ से, क्लेशादि का लक्षण, भेद द्वितीय पाद में स्पष्ट रीति से कहा जायगा।

(२) सम्प्रज्ञात योग भी क्लेशों का नाशक है इस में प्रमाण के लिये 'क्षिणोति च क्लेशान्' इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं 'जो' इत्यादि से'।

उत्तर सूत्र (१) के संग इस सूत्र की एकवाक्यता संपादन द्वारा समाधानान्तर का आश्रयण कर पूर्वोक्त दोष का निराकरण (वारण) किया है, सो भाष्यविरुद्ध (२) होने से हेय जानना, किंच परस्पर अन्वय की योग्यता के अभावसे एकवाक्यता का संभव भी नहीं हो सकता है, किंच सम्प्रज्ञात योग में ध्येयाकारवृत्ति के सद्भाव से द्रष्टापुरुष की स्वरूपावस्थिति का अभाव होने से यह लक्षण अव्याप्तिदोष से भी ग्रस्त है, यदि यह कहो कि असम्प्रज्ञात द्वारा सम्प्रज्ञातयोग भी स्वरूपावस्थिति का हेतु हो सकता है, तो फिर भाष्यकारानुसारी वाचस्पति मिश्र उक्त सरलमार्ग को त्याग कर परम्परा का आश्रयण करना 'पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि, (३) इस न्याय के तुल्य उपहासजनक ही कहा जायगा, अलम् ।

यहां पर एक आशङ्का यह भी उत्थित होती है कि एकही चित्त का परस्पर विलक्षण क्षिप्तादिभूमिकाओं से संबन्ध किम निमित्त से होता है ? औ असम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा ध्येयाकार सात्विकी वृत्ति का भी निरोध करने में क्या कारण है ?

इस आशङ्का का वारण भाष्यकारों ने इस प्रकार किया है कि-चित्त त्रिगुण है, औ गुणों का स्वभाव चंचल है, इस से गुणों के न्यूनाधिकभाव से ही चित्त अनेक भूमिकाओं से संबद्ध हो जाता है कुछ स्वभाव से नहीं, अर्थात्–रज्जुवत् सत्वादि गुणत्रय निर्मित होने से चित्त त्रिगुण है, अतएव जब वह प्रख्या–प्रसाद–प्रीति–लाघवादि (४) धर्मशील होता है तब वह चित्त सात्विक कहा जाता है,

---

(१) (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) यह उत्तर सूत्र है,

(२) भाष्यकारों ने इस सूत्र के अवतरण में (तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते) इस वाक्य से (तिस योग के लक्षण कथन की इच्छा से यह उत्तर सूत्र प्रवृत्त होता है) इस प्रकार इस एक ही सूत्र को योगलक्षणपरत्व कथन किया है, यदि दोनों ही सूत्र मिलकर योगलक्षण परत्व होते तो (इदंसूत्रं) यह एकवचन असङ्गत होगा, क्योंकि आप के मत में द्विवचन ही कहना उचित था, इस प्रकार भाष्यविरोध जानलेना ।

(३) एक मनुष्य कुक्कुर को ग्रास (कौर) देने लगा तो वह कुक्कुर ग्रास त्यागकर उस के हाथ को चाटनेलगा, यह न्याय का अर्थ है अर्थात् वाचस्पति मिश्र उक्त लक्षण को त्यागकर अपने मन से दुष्टलक्षण रचना आप की निष्फल है ।

(४) (प्रख्या) तत्वज्ञान, (प्रसाद) प्रसन्नता, (प्रीति) अभिरुचि, उत्साह, (लाघव) हलकापन, आदि शब्द से प्रकाश, दया, क्षमा, धैर्य्य, कर्तव्याऽकर्तव्य-विवेकादि सात्त्विक धर्मों का ग्रहण जानलेना ।

औ जब प्रवृत्ति–परिताप–शोकादि (१) धर्मों को धारण करता है तब राजस कहा जाता है, औ जब स्थिति–आवरण–दैन्य–गौरव–आलस्यादि (२) धर्मविशिष्ट होता है तब तामस कहा जाता है।

भाव यह है कि–यद्यपि प्रकृति का सात्त्विक परिणाम होने से चित्ततत्त्व स्वभावतः ज्ञानशील ही है तथापि त्रिगुणात्मक होने से जिस काल में सत्त्वगुण से न्यून औ परस्पर दोनों तुल्य रजतम गुणों से संबद्ध हो जाता है तब वह शब्दादि विषयों को औ अणिमादि ऐश्वर्य्य को ही प्रिय जानकर उन्हीं में ही आसक्त होकर विह्वल हो जाता है, अतएव एतादृश चित क्षिप्त कहा जाता है। औ जिस समय में सत्त्व औ रजोगुण को परास्त कर केवल तमोगुण ही पसर कर चित्त को आवरण कर लेता है तब वह चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य्य (३) निद्रादि में मग्न होने से मूढ़ कहाजाता है। औ जिस समय में आवरणस्वभाव तमोगुण की प्रक्षीणता से चित्त में सत्त्वगुण का विकाश होता है तब वह प्रकृति आदि सूक्ष्म तत्त्व की विवेचना में नैपुण्यशाली, औ रजोगुण की लेशमात्र से संमिलित होने से धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादि विषयों में उन्मुख (प्रवृत्तिशील) हो जाता है, एतादृश चित्त ही क्षिप्त से विशिष्ट होने से विक्षिप्त कहा जाता है।

औ जिस काल में अभ्यास वैराग्य द्वारा एकवार रज औ तमोगुण के अपास्त (निवृत्त) होने से विशुद्ध सत्त्वगुण का प्राधान्य हो जाता है तब वह चित्त स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप निज रूप में अवस्थित हुआ प्रकृति पुरुष के विवेक में मग्न हो धर्ममेघ समाधि (४) में उन्मुख हो जाता है, इस धर्ममेघसमाधिनिष्ठ चित्त को ही योगीजन परप्रसङ्ख्यान (५) कहते हैं।

---

(१) (प्रवृत्ति) कर्मों के आरम्भ करने में उद्योगशीलता, (परिताप) अभिलषित कार्य्य की पूर्णता न होने से चिन्ताविशेष, (शोक) पुत्र कलत्रादि के वियोगप्रयुक्त खेद, आदि शब्द से लोभ, ईर्ष्यादि अन्य राजसधर्मों का भी ग्रहण जानलेना।

(२) (स्थिति) प्रवृत्ति का विरोधी स्तब्धीभाव, या विह्वलता, (आवरण) तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञान का शक्तिविशेष, (गौरव) भारापन, (दैन्य) धीरता का अभाव, आलस्यादि इस आदि पद से भयआदि अन्य भी तामस धर्मों का ग्रहण जानलेना।

(३) (अनैश्वर्य्य) इच्छा का प्रतिघात अर्थात् मनोरथ की पूर्णता का अभाव।

(४) धर्ममेघ समाधि चतुर्थपाद के २९ सूत्र में वर्णन किया जायगा।

(५) विवेकपूर्वक ध्येयतत्त्व के साक्षात्कार का नाम परप्रसंख्यान है, यद्यपि यह प्रसंख्यान एकाग्रचित्त का धर्म ही है कुछ चित्तस्वरूप नहीं, तथापि धर्मधर्मी के अभेद को आश्रयण कर चित्त को ही परप्रसंख्यान कहा गया है, यह जानना।

औ जब (१) फिर विवेकख्याति के उदय होने से ऋतम्भराप्रज्ञा द्वारा योगी का चित्त (चितिशक्तिरूप पुरुप तो परिणामत्रय रहित, (२) गुणत्रयातीत, निर्लेप (३) दर्शितविषय, शुद्ध, अनन्त है, औ विवेकख्यातिसञ्ज्ञक ध्येयाकारसात्विकबुद्धिवृत्तिरूप जो प्रसंख्यान वह परिणामशील, सत्त्वगुणात्मक, ध्येयलिप्त, जन्य, मलिन, सान्त होने से पुरुप से विपरीत है, अतः यह प्रसङ्ख्यान भी हेयकोटि में ही है) इस भावना (विचार) से विवेकख्याति में भी रागरहित होकर पुरुप का निजरूप में अवस्थान के अर्थ ज्ञानप्रसादसञ्ज्ञक परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति को भी निरुद्ध कर अवस्थित हो जाता है, तब वह निरुद्धावस्थ चित्त संस्कारशेष कहा जाता है, यह संस्कारशेष चित्त ही निर्बीजसमाधि (४) नाम से व्यवहृत होता है, इसी निरुद्धावस्था को ही योगतत्त्वविज्ञाता असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं, क्योंकि इस दशा (अवस्था) में ध्येयाकार वृत्ति का भी अभाव होने से किसी वस्तु का सम्यक् प्रकार से ज्ञान नहीं होता है।

इस प्रकार गुणों के न्यूनाऽधिकभाव से एक ही चित्त का अनेक भूमिकाओं से संबन्ध औ पुरुप की स्वरूपावस्थिति के अर्थ ध्येयाकार वृत्ति के निरोध का आवश्यकत्व जान लेना (५)।

---

(१) इस प्रकार एकचित्त का अनेक भूमिकाओं से संबन्ध होने में गुणों के न्यूनाधिक भाव को निमित्त कह कर इदानीं विवेकख्याति के निरोध में कारण प्रदर्शनपूर्वक निरोधभूमिका का स्वरूप निरूपण करते हैं (औ जब) इत्यादि ग्रन्थ से।

(२) धर्म, लक्षण, अवस्था, रूप भेद से तीन प्रकार के परिणामों का निरूपण तृतीयपाद के १३ वें सूत्र के व्याख्यान में देखलेना।

(३) निर्लेप=जैसे नेत्रादिइन्द्रियों द्वारा विषयों से बुद्धि संबद्ध होती है तैसे पुरुप किसी से संबद्ध नहीं है, क्योंकि यह असङ्ग है, इसी से निर्लेप कहा जाता है। यदि पुरुप निर्लेप ही है तो फिर विषयों का प्रकाश कैसे करता है ? इस का उत्तर कहते हैं, (दर्शितविषय) इति, बुद्धि दिखलाती है विषय जिस को वह दर्शितविषय कहा जाता है, अर्थात् बुद्धिवृत्ति रूप उपाधि से ही विषयों का प्रकाश पुरुप करता है कुछ स्वभाव से नहीं, अतएव सुखदुःखमोह रूप बुद्धिनिष्ठ धर्मों से असंबद्ध होने से स्वभावतः पुरुप शुद्ध है, यह सब तृतीय चतुर्थ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट होगा।

(४) अविद्यादि क्लेशों से अनुविद्धही जन्म औ भोग के देनेवाले जो धर्माऽधर्म रूप बीज सो सब इस समाधि के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं, इस से इस अवस्था का नाम निर्बीज कहा जाता है।

(५) भाव यह है कि–जब तक ध्येयाकारवृत्ति विद्यमान रहेगी तब तक पुरुप

इन सब भूमिकाओं में से अन्तिम दोनों भूमिका ही चित्तवृत्तिनिरोध पद से सूत्रकार को अभिमत है, औ यह दोनों ही योग औ समाधि पद का वाच्य हैं (१)-

जो कि योगी याज्ञवल्क्य ने 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' इस वाक्य से जीवात्मा के परमात्मसमानरूपत्व (२) हो जाने को योग कहा है सो भी चित्तवृत्तिनिरोध का ही उपलक्षक जानना क्योंकि चित्तनिरोध से विना आत्मा का परमात्मरूपत्व होना असम्भव है, अर्थात्–योगमत में जीवात्मा परमात्मा का एतावन्मात्र (इतना) ही भेद है कि—जीवात्मा क्लेश कर्म वासना से संबद्ध है औ परमात्मा क्लेशादि से विनिर्मुक्त है औ जब योगद्वारा जीवात्मा भी क्लेशादि से विरहित होकर निजरूप में अवस्थित हो जाता है तब वह परमात्मस्वरूप कहा जाता है, इसी को ही जीवात्मपरमात्मा का संयोग याज्ञवल्क्य ने कहा है, सो यह समानरूपता योग से विना असाध्य है अतएव उत्तरसूत्र से क्लेशादिविनिर्मुक्तनिजरूप में पुरुष की स्थिति को योग का फल कहा है।

एवं च योगफल कथन द्वारा यह वाक्य भी चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग का ही लक्षक (जलखायक) जानना।

भाव यह है कि–जैसे वेद में साधन औ फल को एक मानकर (आयुर्वै घृतम्) इस वाक्य से आयुर्वृद्धि के साधनभूत घृत को आयु कहा है, तैसे यहां भी जीवात्मा का परमात्मसमानरूपत्व के साधनभूत योग को जीवात्मपरात्मैक्यरूप कहा है, कुछ यह मत जानना कि यह योग का लक्षण ही है।

की अपने निज रूप में अवस्थिति का असंभव है, औ निज रूप में अवस्थिति होना ही योग का मुख्य फल है, इस से ध्येयाकारवृत्ति का निरोध अवश्य ही कर्तव्य है, यही ध्येयाकारवृत्ति के निरोध में कारण है, जब कि ध्येयाकारवृत्ति का भी निरोध करना आवश्यक है तो अन्य वृत्तियों का निरोध तो सुतरां कर्तव्य है यह इस का तत्त्व है।

(१) यहां पर यह भी जान लेना उचित है कि-जो एकाग्र चित्त में विद्यमान राजसतामसवृत्ति निरोधपूर्वक ध्येयाकार वृत्ति है वही परप्रसङ्ख्यान, सम्प्रज्ञातयोग संप्रज्ञातसमाधि, सबीजसमाधि, सविकल्प समाधि इत्यादि नाम से व्यवहृत होती है, औ जो निरुद्ध चित्त में विद्यमान निखिलवृत्तिनिरोध वह असम्प्रज्ञात योग, असम्प्रज्ञात समाधि निर्बीजसमाधि, निर्विकल्पसमाधि इत्यादि नाम से व्यवहृत होता है।

(२) यद्यपि जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग ही याज्ञवल्क्य जी ने कहा है तथापि विभु पदार्थों के संयोग का अनङ्गीकार से यहां संयोग से जीवात्मा का परमात्म समानरूपता हो जाना ही जानना, इसी आशय से योग का अर्थ करते हैं (जीवात्मा का परमात्मसमानरूपत्व) इति ।

इसी प्रकार जो गीता में भगवान ने "तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् (१) इस वाक्य से निखिल दुःख संयोग के वियोग को योग कहा है सो भी साधन फल को एक मान कर कहा है, क्योंकि योग के लाभ से निखिल दुःखों का अभाव होने से यह भी योग का फल ही है।

इसी प्रकार जो लिङ्गपुराण में 'सर्वार्थविषयप्राप्तिरात्मनो योग उच्यते' इस वाक्य से निखिल पदार्थों की प्राप्तिरूप योग का लक्षण किया है सो भी साधन फल को एक मान कर जानलेना, क्योंकि योग लाभ से अनन्तर पुरुष को आप्तकाम हो जाने से यह भी योगका फल ही है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानलेना (२)।

यहां प्रसङ्ग से यह भी जानलेना उचित है कि–योगशब्द यहां पर (युज समाधौ) इस धातु से निष्पन्न हुआ है कुछ (युजिर्योगे) इस धातु से नहीं अतएव भाष्यकारों ने प्रथम सूत्र के व्याख्यान में योग शब्द का अर्थ समाधि किया है (३)।

यद्यपि द्वितीयपाद के २९ सूत्र में समाधि को योग का अङ्ग कहने से योग औ समाधि यह दोनों भिन्न ही पदार्थ प्रतीत होते हैं क्योंकि अङ्ग औ अङ्गी को एक कथन युक्तिविरुद्ध है, तथापि अङ्ग औ अङ्गी रूप से समाधि को दो प्रकार का मानने से यह युक्तिविरुद्ध नहीं है, अर्थात्–समाधि शब्द दो प्रकार का है एक तो 'समाधानं (४) समाधिः' भावसाधन, जिस का अर्थ चित्त की वृत्तियों का रुक जाना है, औ एक 'समाधीयते चित्तमनेनेति समाधिः' करणसाधन, जिस का अर्थ वृत्तियों के निरोध का करण 'उपाय' है, तहां पर जो भाव-साधन समाधि शब्द है वह अङ्गी का वाचक है औ जो करणसाधन है वह अङ्गवाचक है, एवं च भावसाधन समाधि शब्द के अभिप्राय से भाष्यकारों ने योग शब्द का अर्थ समाधि किया है औ करणसाधन समाधि शब्द के अभिप्राय से सूत्रकार ने समाधि को योग का अङ्ग कहा है यह व्यवस्था जान कर विरोध का परिहार कर लेना।

भावसाधन अङ्गिवाचक समाधि शब्द को औ योग शब्द को एकार्थ होने से ही स्कन्दपुराण में (यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः, स नष्टसर्व-

---

(१) जैसे राक्षसों को पापजन होने पर भी विरुद्ध लक्षणा से पुण्यजन कहा जाता है तैसे दुःखसंयोग वियोग को भी विरुद्ध लक्षणा से योग कहते हैं यह भी जानो।

(२) भाव यह है कि–इह सब वाक्यों में योग के फल का कथन किया है कुछ योग का लक्षण नहीं कहा है, लक्षण तो योग का चित्तवृत्तिनिरोध ही है।

(३) एवं च समाधि औ योग यह दोनों शब्द एकार्थक हैं यह सिद्ध हुआ।

(४) समाधान, निरोध, चित्त की वृत्तियों का रुकजाना, यह तीनों एकार्थक हैं

सङ्कल्पः समाधिरभिधीयते) (१), (परमात्मात्मनोर्योयमविभागः परन्तप, स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव) (२), इत्यादि वाक्यों में समाधि औ योग का समान लक्षण कथन सङ्गत होता है, नहीं तो अङ्ग औ अङ्गी का समान लक्षण प्रतिपादन असङ्गत हो जायगा, सूत्रकारों ने भी इसी अभिप्राय से सम्प्रज्ञातयोग को सबीज समाधि (३) औ असम्प्रज्ञातयोग को निर्बीज समाधि शब्द (४) से निर्देश किया है। तथा च सूत्र-भाष्य-पुराणादिवचनों की एक-वाक्यता से यह सिद्ध हुआ कि समाधि औ योग यह दोनों शब्द एकार्थक हैं, अलम् ॥ २ ॥

आशङ्का—आप के कथन से यह ज्ञात हुआ कि योग औ समाधि यह दोनों शब्द एकार्थक हैं औ निरुद्धावस्था में ध्येयाकारवृत्ति का भी निरोध होने से चित्त संस्कारशेषमात्र हुआ स्वकारण प्रकृति में लीन हो जाता है, एवंच जिस समय में निरुद्ध हुआ चित्त असम्प्रज्ञातावस्थाविशिष्ट होजाता है उस काल में पुरुष का स्वभाव क्या होता है अर्थात्-किस स्वरूप से पुरुष अवस्थित होता है क्योंकि जिस २ आकार को चित्त धारण करता है वही आकार शीलता पुरुषका स्वभाव है औ निरुद्धावस्था में चित्त को निराकार होने से निस्वभाव पुरुष का रहना असंभव है ? (५) ।

इस आशङ्का का वारण करते हुये सूत्रकार योग का फल कथन करते हैं—

सूत्र० तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

---

(१) जिस दशा में सर्व सङ्कल्पादि चित्तविकार के नाश होने से जीवात्मा परमात्मा के समान हो जाता है अर्थात् पुरुष अपने शुद्धस्वरूप में अवस्थित हो जाता है, उसी का नाम समाधि कहा जाता है यह इस का भावार्थ है ।

(२) परमात्मा औ आत्मा का जो अविभाग=एकरूपता वही परयोग है, सो मैं संक्षेप से आप के प्रति कह चुका हूं अर्थात् जिस के लाभ से जीवात्मा परमात्मा के समान शुद्ध रूप से अवस्थित हो जाता है वही योगपद का वाच्य है। इन दोनों वचनों में भी फल कथनपूर्वक ही योग औ समाधि का लक्षण कथन किया है कुछ स्वरूप से नहीं, यह जानना ।

(३) इस पाद के ४६ सूत्र में देखो, ।

(४) इस पाद के ५१ सूत्र में देखो ।

(५) आशङ्का करनेवाले का तात्पर्य यह है कि—क्या नैयायिक की तरह आत्मा को वस्तुगत्या जड मानकर व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्ति की सन्निधि से पुरुष चेतन प्रतीत होता है औ निरुद्धावस्था में बुद्धिवृत्ति के अभाव से काष्ठवत् अप्रकाशरूप होकर स्थित हो जाता है यह मानते हो ? वा इस अवस्था में मरणवस्था के तुल्य

भाषा—(तदा) तिस निखिलवृत्तिनिरोध रूप असम्प्रज्ञातावस्था में (द्रष्टुः) दृक्शक्तिरूप चेतन पुरुष की, (स्वरूपे) अकल्पित असङ्ग निर्विकार स्वरूप निजरूप में (अवस्थानम्) अवस्थिति होती है।

अर्थात्—यथा कैवल्यावस्था में औपाधिक शान्त घोर मूढादि रूप (१) त्याग कर चितिशक्ति पुरुष अपने स्वाभाविक असङ्ग चेतन रूप में स्थित होता है तैसे असम्प्रज्ञातावस्था में भी पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है, कुछ चित्त औ आत्मा एक पदार्थ नहीं है जिस से चित्त के लय होने से आत्मा का भ अभाव माना जाय (२)।

भाव यह है (३) कि-कुछ शान्तादि रूप पुरुष का स्वभाव नहीं है जिस से निरोधावस्था में शान्तादि रूप के अभाव से पुरुष का अभाव माना जाय क्योंकि वह सब शान्तादि रूप औपाधिक हैं, एवं च बुद्धिरूप उपाधि के अभाव से औपाधिक शान्तादिरूप का ही अभाव हो सकता है कुछ पुरुष का अभाव नहीं पुरुष तो अपने अनौपाधिक रूप में स्थित ही रहता है।

आशङ्का—यदि निरोधावस्था में चितिशक्ति (४) स्वरूपप्रतिष्ठित होती है तब व्युत्थानकाल में वह स्वरूप में अवस्थित नहीं थी यह अवश्य ही सिद्ध हुआ, एवं च चितिशक्ति भी परिणामशीला हुयी क्योंकि जो सदा एकरस न

पुरुष का अभाव मानते हो ? अथवा आत्मा है तो असङ्ग प्रकाशस्वरूप परन्तु व्युत्थान-काल में बुद्धिरूप उपाधि से ज्ञातृत्वादि मिथ्याधर्मविशिष्ट वह प्रतीत होता है औ निरु-द्धावस्था में उपाधि के अभाव से कल्पितरूप को त्यागकर शान्त आनन्दादि निजरूप में अवस्थित हो जाता है यह मानते हो ?। इन सब में से अन्त का पक्ष सिद्धान्तभूत है सोई इस अग्रिम सूत्र से कहा जायगा, यह भी जानो।

(१) सात्त्विक राजस, तामस चित्त का यथा क्रम शान्त, घोर, मूढ, यह नामान्तर है।

(२) जैसे जपाकुसुम रूप उपाधि के अभाव से स्फटिकमणि अपने स्वच्छरूप में अवस्थित हो जाता है तैसे बुद्धिवृत्ति रूप उपाधि के अभाव से पुरुष भी अपने स्वच्छ निर्विकार रूप में अवस्थित हो जाता है कुछ पुरुष का अभाव नहीं होता है, यह इस का भाव है।

(३) जो पूर्व यह आशङ्का कियी थी कि शान्तादि आकारविशिष्टचित्त के आकारों को धारन करना ही पुरुष का स्वभाव है औ निरोधकाल में चित्त के तादृश आकारों का अभाव होने से पुरुष निस्वभाव कैसे रह सक्ता है, इस का उत्तर देने के लिये कहते हैं (भाव यह है) इति।

(४) चितिशक्ति--दृक्शक्ति--पुरुष-आत्मा, यह शब्द एकार्थक हैं।

रहकर अनेक रूप को धारण करता है वह परिणामशील कहा जाता है, यदि यह कहा जाय कि—व्युत्थानकाल में भी चितिशक्ति स्वरूप में ही अवस्थित रहती है तो समाधि औ व्युत्थान में भेद (१) ही क्या ?

समाधान—सात्त्विकजन ! व्युत्थान काल (२) में भी चितिशक्ति स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहती है परन्तु तिस रूप से चितिशक्ति का भान उस काल में नहीं होता है।

अर्थात्—चितिशक्तिरूप पुरुष कूटस्थनित्य होने से कभी भी स्वस्वरूप से प्रच्युत नहीं होता है अतः यादृश निरोधकाल में पुरुष का स्वभाव है तादृश ही व्युत्थानकाल में है परन्तु अविवेक से तादृश प्रतीत नहीं होता है, अतएव वह अपरिणामी है।

भाव यह है कि—जैसे पुरुष को शुक्ति (सीप) में रजत (चांदी) भ्रमकाल में यह रजत है इस ज्ञान से शुक्ति का अभाव औ रजत की उत्पत्ति नहीं होती है औ फिर भ्रमनाश के अनन्तर (यह रजत नहीं है किन्तु शुक्ति है) ऐसे ज्ञान से कुछ शुक्ति की उत्पत्ति औ रजत का अभाव भी नहीं होता है केवल भ्रान्ति से ही अस्ति नास्ति आदि व्यवहार होते हैं तैसे चेतन सर्वदा एक रस ही है परन्तु व्युत्थानकाल में अविवेक से अन्य रूप से भान होता है औ निरोधकाल में निज शान्तरूप से भान होता है, यही निरोध औ व्युत्थान में भेद है ॥ ३ ॥

आशङ्का—यदि व्युत्थानकाल में निजरूप से पुरुष का भान नहीं होता है तो अन्य किस रूप से भान होता है ?

इस आशङ्का का उत्तर महर्षि चतुर्थ सूत्र से कहते हैं—

सू० वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

भाषा—(इतरत्र) व्युत्थानकाल में (३) (वृत्तिसारूप्यम्) चित्त की

---

(१) जब सर्वदा निजरूप में अवस्थित ही है तो समाधि करने का फल ही क्या यह भी जानो ।

(२) भाष्य के अनुसार इस का उत्तर कहते हैं—'व्युत्थान' इत्यादि ।

(३) पूर्व सूत्र में 'तदा' इस पद से निरोधकाल का ग्रहण कर पुरुष की निजरूप में अवस्थिति कह कर इस सूत्र में (इतरत्र) यह कहा है, औ इतरत्र का अर्थ पूर्व कथित से अन्य है, एवं च पूर्वोक्त निरोधकाल से भिन्न व्युत्थानकाल इस पद का अर्थ हुआ । इसी आशय से अर्थ करते हैं (व्युत्थानकाल में) इति, यहां पर निरोधसमाधि की अपेक्षा से सम्प्रज्ञात योग भी व्युत्थानकाल ही जानना क्योंकि वहां भी ध्येयाकार वृत्ति की विद्यमानता है ।

वृत्तियों के समानरूपत्व द्रष्टा का होता है अर्थात्—व्युत्थानकाल में यादृश यादृश चित्त की वृत्तियें उत्पन्न होती हैं शान्त वा घोर वा मूढ़ तादृश तादृश रूप (आकार) से ही पुरुष का भान होता है।

यहां पर वृत्तिसारूप्य होने में हेतुप्रदर्शन के अर्थ भाष्यकारों ने इस सूत्र के आदि में (दर्शितविषयत्वाद्)इस पद का अध्याहार किया है, बुद्धिकर दर्शित (निवेदित) (१) विषय होने से ही पुरुष बुद्धिवृत्ति के समानरूपवाला होता है कुछ स्वाभाविक नहीं यह इस का अर्थ है, एवं च वृत्तिसारूप्य औपाधिक है यह सिद्ध हुआ अर्थात्–विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो अनेक प्रकार की वृत्तियें उत्पन्न होती हैं वह सब बुद्धि का ही धर्म है कुछ पुरुष का नहीं, पुरुष तो ज्ञानं स्वरूप ही है, परन्तु चित्त औ पुरप के अविवेक से पुरुष का धर्म प्रतीत होता है (२)।

पञ्चशिखाचार्य्य ने भी (एकमेव दर्शनम्) इस सूत्र से ज्ञान को एक कह कर पुनः (ख्यातिरेव दर्शनम्) इस सूत्र से (शब्दादि विषयक ज्ञान वा प्रकृति पुरुष विषयक विवेकज्ञान यह सब बुद्धि की ही ख्याति=वृत्ति हैं, कुछ यह नहीं है कि बुद्धि को पृथक् ज्ञान औ पुरुष को पृथक् ज्ञान होता है) इस प्रकार ज्ञान को एक कथन द्वारा बुद्धि वृत्ति को ही उत्पत्तिविनाशधर्मशील ज्ञान का आधार कहकर पुरुष को ज्ञानस्वरूप ही माना है कुछ ज्ञान का आधार नहीं(३)।

अर्थात्–यद्यपि परमार्थतः पुरुष असङ्गही है तथापि अयस्कान्तमणि के(४)

---

(१) बुद्धि का यह स्वभाव है कि—इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण कर फिर उन्ह विषयों का प्रतिबिम्ब रूप चेतन में सर्मपण कर देती है, इसी का नाम निवेदित विषय है, ऐसेही विष्णुपुराण में कहा है–"गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति, अन्तः-करणरूपाय तस्मै विश्वात्मनेनमः" इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर जो आत्मा के प्रति-समर्पण करता है तिस अन्तःकरण के प्रति नमस्कार होय, यह इस का अर्थ है।

(२) यह सब द्वितीय पाद के २० सूत्र औ तृतीयपाद के ३५ सूत्र औ चतुर्थ पाद के २२ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट रीति से कहा जायगा।

(३) इस कहने से यह बोधन किया कि—कुछ हम ही पुरुष को ज्ञानस्वरूप मानते हैं यह नहीं जानना किन्तु साङ्ख्याचार्य्य पञ्चशिख जी भी ऐसेही मानते हैं। इस अंश में साङ्ख्य, योग, वेदान्त यह तीनों एक मत हैं, यह भी जानो।

(४) अयस्कान्तमणि नाम चुम्बक का है, अर्थात् जैसे चुम्बकमणि सन्निधिमात्र से ही शल्यनिष्कासन रूप उपकार करता हुआ भोगसाधन होने से पुरुष का स्व कहा जाता है तैसे चित्त भी सन्निधिमात्र से विषयनिवेदन रूप उपकार करता हुआ पुरुष का स्व औ

तुल्य सन्निधिमात्र से उपकारकरणशील चित्तरूप दृश्य का दृश्यत्वरूप से (१) पुरुष के सङ्ग अनादि स्वस्वामिभाव संबन्ध है, इस से शान्त घोर मूढ़ाकारवृत्तिविशिष्ट चित्त की सन्निधि से पुरुष अपने को चित्त से भिन्न न जान कर मैं शान्त (सुखी) हूं मैं घोर (दुःखी) हूं, मैं मूढ़ हूं इस प्रकार अपने में चित्तधर्मों का आरोप करलेता है, एवं च जैसे मलिन दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख में मलिनता का आरोपकर अविवेकी जन मैं मलिन हूं इस प्रकार शोच करता है तैसे पुरुष भी उपाधिधर्मों का अपने में आरोप कर मैं सुखी वा दुःखी हूं इस प्रकार भ्रमजाल में पतित होकर शोकग्रस्त हो जाता है, यही वृत्तिसारूप्य पद का अर्थ है।

यद्यपि पुरुष को असङ्ग होने से देशकृत वा कालकृत चित्त की सन्निधि का संभव होना दुर्घट है तथापि योग्यतालक्षण सन्निधि का संभव होने से वही यहां पर आश्रणीय है।

भाव यह है कि–पुरुष में भोक्तृत्व शक्ति औ द्रष्टृत्वशक्ति है औ चित्त में दृश्यत्व शक्ति औ भोग्यत्व शक्ति है यही इन दोनों की परस्पर योग्यता है, इस योग्यतालक्षण सन्निधि से ही चित्त सुखदुःखमोहाकार रूप परिणाम से भोग्य औ दृश्य हुआ स्व कहा जाता है औ पुरुष भोक्ता औ द्रष्टा हुआ स्वामी कहा जाता है, सो यह जो पुरुष के भोग का हेतु स्वस्वामिभाव संबन्ध है सो भी चित्त से अपने निजरूप के अविवेक प्रयुक्त है (२) अविवेक औ वासना का प्रवाह बीज अंकुरवत् अनादि है, इस प्रकार चित्तवृत्तिविषयक उपभोग में जो चेतन का अनादि स्वस्वामिभाव संबन्ध वही वृत्ति सारूप्य में कारण है।

जैसे जलाशय (नदी वा तालाब) में जब विविध प्रकार की तरङ्गें उछलती रहती हैं तब गगनस्थ चन्द्रमण्डल का प्रतिबिम्ब उस जलाशय में स्थिर निज यथार्थ रूप से भान नहीं होता है औ जब तरङ्गें निवृत्त हो जाती हैं तब स्वच्छ निश्चल रूप से प्रकाशमान हुआ चन्द्र प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है तैसे जब

पुरुष उस का स्वामी कहा जाता है, कुछ यह मत जानना कि चित्त से पुरुष संयुक्त है, यह दृष्टान्त का भाव है।

(१) सुखदुःखमोहाकार परिणाम को प्राप्त हुआ चित्त भोग्यभाव से अपने स्वामी चेतन भोक्ता का स्व हो जाता है यह दृश्यत्वरूप से इस का अर्थ है।

(२) यद्यपि सुखादि भोग भी चित्त का ही धर्म है तथापि चित्त औ चेतन को विविक्त (भिन्न) न जानकर पुरुष अपने में मान लेता है, इस से यह अविवेक प्रयुक्त है। यह सब द्वितीय पाद के १७।२०। सूत्र में स्पष्ट रीति से कहा जायगा।

चित्त की वृत्तियां विषयाकार होने से चञ्चल रहती हैं तब चेतन भी चन्द्रमण्डलवत् चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होने से निजरूप से नहीं भासता है औ जब चित्तवृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं तब चन्द्रमण्डलवत् चेतन निज स्थिररूप में स्थित हो जाता है(१), यह इन दोनों सूत्रों का फलितार्थ है ॥४॥

आशङ्का—पुरुष के लिये शास्त्र उसी कर्तव्य का उपदेश कर सकता है जो कि पुरुष प्रयत्न से साध्य हो औ पूर्वोक्त वृत्तिनिरोध रूप कर्तव्य पुरुषयत्न से साध्य नहीं हो सकता है क्योंकि वृत्तिनिरोध वृत्तिज्ञान के अधीन है औ वृत्तियों का ज्ञान वृत्तियों को असङ्ख्यात होने से असम्भव है (२) एवंच असाध्य कार्य्य के उपदेश करने से यह शास्त्र हेय है? इस आशङ्का के वारणार्थ जिन वृत्तियों के निरोध से योग की प्राप्ति होती है उन वृत्तियों का स्वरूप औ सङ्ख्या प्रतिपादक सूत्र का आरम्भ करते हैं—

सू० वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

भाषा-(वृत्तयः) जिन वृत्तियों के निरोध से योग होता है वह वृत्तियें (पञ्चतय्यः) अग्रिमसूत्रोक्तप्रमाणादि भेद से पञ्च प्रकार की हैं (३) उन पांचो में से प्रत्येक प्रत्येक भी (क्लिष्टाऽक्लिष्टाः) क्लिष्ट औ क्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं।

इस सूत्र के आदि में भाष्यकारों ने (ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति

---

(१) यहां पर प्रसङ्ग से यह भी जान लेना उचित है कि—जब कि सूत्रकार ने द्वितीय सूत्र से योग का लक्षण कह कर तृतीय सूत्र से उसी योग के फल कथन द्वारा पुरुष की स्वरूपावस्थिति को निरोध संज्ञक असंप्रज्ञात योग का फल कहा है तब यह निश्चय हुआ कि निरोधसंज्ञक असंप्रज्ञात योग ही मुख्य योग सूत्रकार को अभिप्रेत है संप्रज्ञात योग नहीं क्योंकि संप्रज्ञात में ध्येयाकार वृत्ति की सत्ता से पुरुष को वृत्तिसारूप्य होने से वह स्वरूपावस्थिति का कारण नहीं है, अतः असम्प्रज्ञात योग का कारण होने से सम्प्रज्ञात योग को गौणयोग ही जानना यह तत्त्व है।

(२) जैसे समुद्र के तट निकट स्थित होकर पुरुष यह निश्चय नहीं कर सकता कि कितनी तरङ्गें समुद्र में से उत्थित होती हैं तैसे चित्तरूपी समुद्र में भी कितनी तरङ्गें (वृत्तियें) उत्पन्न होती हैं यह निश्चय होना भी दुर्घट है, यह इस का भाव है।

(३) पञ्चतय्यः—इस पद में अवयवार्थक तयप् प्रत्यय की प्रकाररूप अर्थ में लक्षणा है इस मत से अर्थ करते हैं—(पंचप्रकार) इति, कोई यह भी कहते हैं कि भाष्यकारों ने पंच ऐसे ही कहा है इस से यहां पर तयप् प्रत्यय स्वार्थ में है।

वाचस्पतिमिश्र ने तो वृत्तिरूप अवयवी के प्रमाणादि पञ्च वृत्तिरूप अवयव हैं इस से पञ्च अवयववाली वृत्तियें हैं, यह कहा है यही समीचीन है।

चित्तस्य) इस वाक्य का अध्याहार किया है, तथाच मिलकर यह अर्थ हुआ कि–यद्यपि चित्त की वृत्तियें बहुत होने से असङ्ख्यात हैं तथापि जो निरोद्धव्य अर्थात् जिन्हों का निरोध अपेक्षित है वह वक्ष्यमाण प्रमाण आदि भेद से पञ्च ही हैं।

भाव यह है कि–यद्यपि लज्जा तृष्णादि भेद से वृत्तियां असङ्ख्यात हैं तथापि प्रमाणादि पञ्च वृत्तियों में ही सब का अन्तर्भाव जानलेना, एवंच इन पंचों के निरोध से ही यावत् वृत्तियों का निरोध हो जाने से अन्य वृत्तियों के निरोधार्थ प्रयत्नान्तर की अपेक्षा न होने से वृत्तिनिरोध साध्य है यह सिद्ध हुआ (१)।

सो यह प्रमाणादि पञ्च वृत्तियें प्रत्येक २ दो प्रकार की हैं, एक क्लिष्ट अर्थात् राजस तामस प्रवृत्ति–परिताप–क्रोध लोभादिक औ एक अक्लिष्ट अर्थात्–सात्त्विक प्रख्या–प्रसाद प्रभृति, तात्पर्य्य यह है कि–जो (२) वृत्तियें धर्म अधर्म वासना समूह का उत्पादक हैं वह अविद्यादि क्लेश मूलक होने से क्लिष्ट कही जाती हैं औ जो वृत्तियें प्रकृतिपुरुष के विवेक को विषय करती हैं औ गुणाधिकार की विरोधिनी हैं (३) वह अक्लिष्ट कही जाती हैं।

यद्यपि प्राणिमात्र रागद्वेषयुक्त होने से क्लिष्टवृत्तिप्रवाहवाला ही है तथापि अभ्यास औ वैराग्यद्वारा क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह को अभिभव कर अक्लिष्टवृत्ति-प्रवाहवाला भी हो सकता है अर्थात्–जब अभ्यास औ वैराग्य की न्यूनता होती है तब क्लिष्टप्रवाह का आधिक्य हो जाता है औ जब अभ्यास वैराग्य का प्राबल्य होता है तब अक्लिष्ट प्रवाह का आधिक्य हो जाता है औ जब फिर दीर्घकालपर्य्यन्त निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन से अभ्यास वैराग्य दृढ़ हो जाता है तब एक वार ही क्लिष्टवृत्तियों को परास्त कर अक्लिष्टवृत्तियां ही निरन्तर प्रवाहशील होती रहती हैं औ प्रतिदिन अक्लिष्ट ही संस्कारों को वह उत्पन्न करती रहती हैं

---

(१) इस कथन से जो यह शङ्का हुयी थी कि वृत्तियों को असंख्य होने से निरोध दुर्घट है सो उच्छिन्न हुयी क्योंकि पांचों के निरोध से ही सब का निरोध होने से यह कुछ दुर्घट नहीं है।

(२) प्रकृतसूत्रस्थ भाष्य के अनुसार क्लिष्टाऽक्लिष्ट पद का अर्थ करते हैं 'जो' इत्यादि से।

(३) धर्म औ अधर्म्म के उत्पादन द्वारा आगामि जन्मादि का आरम्भ करना गुणों का अधिकार है औ विवेकख्याति का उदय होना ही इस अधिकार का अवधि है, अतः विवेकख्यातिरूप सात्त्विक अक्लिष्टवृत्तियें गुणाधिकार की विरोधिनी हैं।

औ फिर उन अक्लिष्टसंस्कारों से भी अक्लिष्टवृत्तियें ही उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार असम्प्रज्ञातसमाधि पर्यन्त यह वृत्तिसंस्कारचक्र (१) निरन्तर आवर्त्तमान होता रहता है, असम्प्रज्ञातसमाधि में इन अक्लिष्टवृत्तियों का भी निरोध करना पड़ता है इस से असम्प्रज्ञातसमाधि ही इस वृत्तिसंस्काररूप चक्र की सीमा है (२) फिर जब विवेकख्याति के उदय होने से चित्त भी अपने कर्तव्य से निवृत्त हो जाता है औ अक्लिष्टवृत्तियें भी परवैराग्य द्वारा निरुद्ध हो जाती हैं तब चित्त कृतकार्य्य हुआ आत्मस्वरूप से (३) अभिन्न होकर स्थित हो जाता है अथवा प्रलय अर्थात् अपने कारण प्रकृति में लीन (४) हो जाता है। यह चित्त की प्रलयावस्था ही योग की चरम सीमा है।

यहां पर यह क्रम है कि—प्रथम विवेक आदि अक्लिष्टवृत्तियों के आश्रयण से क्लिष्टवृत्तियों का निरोध करे फिर परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति आदि अक्लिष्टवृत्तियों का निरोध करे, इस अभिप्राय से ही सूत्रकारने (क्लिष्टाऽक्लिष्टाः) यह यथाक्रम निर्देश किया है ॥ ५ ॥

जिन पञ्चवृत्तियों का सामान्य से पूर्वसूत्र में निर्देश किया गया है उन्हीं वृत्तियों का अब भिन्न २ नाम से निर्देश करते हैं—

सू० प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

भाषा—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति यह पंच चित्त की वृत्तियां हैं॥६॥

---

(१) वृत्तियों से संस्कार औ संस्कारों से फिर वृत्तियें औ फिर उन्ह से संस्कारों का निरन्तर होना ही वृत्तिसंस्कारचक्र कहा जाता है।

(२) सीमा नाम अवधि का है जिस को लोक में सिवान वा हद बोलते हैं। भाव यह है कि—अक्लिष्टवृत्तियों के अवलम्बन द्वारा क्लिष्टवृत्तियों का परित्याग कर फिर पर वैराग्य से अक्लिष्टवृत्तियों का भी निरोध करना पड़ता है अतः असम्प्रज्ञात समाधि तक ही अक्लिष्टवृत्ति की परम्परा होने से वह समाधि अवधि कहा जाता है।

(३) 'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः यन्मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते' इस वचन से वशिष्टमुनि ने संकल्प विकल्प रूप क्रिया धारण से आत्मा को ही मन पद का वाच्य कहा है, एवं च जब समाधि के बल से वह संकल्प विकल्प निवृत्त हो जाता है तब वह आत्मस्वरूप से अवस्थित होता है यह सुतरां सिद्ध हुआ।

(४) (लीन) इस कथन से वशिष्टकथित स्वरूपनाश औ अरूपनाश का ग्रहण जानना, तहां इतना विशेष है कि—जीवनुमुक्ति में चित्त का स्वरूपनाश औ विदेहमुक्ति में अरूपनाश होता है, जीवन्मुक्ति काल में रूप रहते भी चित्त नपुंसक होकर पड़ा रहता है इस से सरूपनाश है, विदेहमुक्ति में चित्तरूप का भी अभाव होने से यहां अरूपनाश है।

इदानीं यथाक्रम इन पांचों वृत्तियों के लक्षण कथन की इच्छावाले आचार्य प्रथम प्रथमउक्त प्रमाण वृत्ति का सामान्यलक्षण कथन द्वारा विभाग करते हैं—

सू० प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

भाषा—पूर्वोक्त पंचवृत्तियों में से जो प्रथम प्रमाण संज्ञक वृत्ति है वह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम भेद से तीन प्रकार की है।

यहां पर (प्रमाणानि) इस पद की आवृत्ति (१) कर (प्रमाणानि प्रमाणानि) इस प्रकार प्रथम प्रमाण का सामान्य लक्षण कर पुनःविभागपरत्व योजना करनी नहीं तो प्रथम ही विभाग कथन सूत्रकारोक्त असङ्गत होगा, अर्थात्—शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि–प्रथम सामान्य लक्षण कथन कर फिर विशेष लक्षण वा विभाग किया जाता है. सो यहां पर प्रमाण का सामान्यलक्षण न कथन कर विभाग लक्षण कथन से सूत्रकार की न्यूनता प्रतीत होती है (२) अतः न्यूनता के वारणार्थ यहां भी (प्रमाणानि) इस पद को दो वार उच्चारण कर एक पद को रूढ़ औ एक पद को (प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्). इस प्रकार प्रमाकरण रूप अर्थ में व्युत्पन्न मानकर प्रमा का जो करण=साधन (जनक) वह प्रमाण कहा जाता है (३) इस प्रकार पहिले सामान्य लक्षण का आश्रयण कर फिर यह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम भेद से तीन प्रकार का है ऐसे विभाग करलेना।

तहां (४) अनधिगत अबाधित पदार्थ विषयक जो पौरुषेयबोध (पुरुषनिष्ठ

---

(१) एक शब्द को दो वार उच्चारण करना ही आवृत्ति पद का अर्थ है।

(२) जैसे विपर्य्यय विकल्पआदि वृत्तियों का सूत्रकार ने भिन्न २ लक्षण किया हैं तैसे प्रमाण वृत्ति का लक्षण न कहने से भी न्यूनतापत्ति दोष जानलेना।

(३) यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि अव्युत्पन्न प्रमाण पद लक्ष्यपर है औ व्युत्पन्न प्रमाणपद लक्षणपर है।

(४) जिस प्रमा का जनक होने से चित्तवृत्ति को प्रमाण कहा जाता है उस प्रमा का लक्षण कथन करते हैं–(अनधिगत) इत्यादि से, जो वस्तु प्रथम किसी ज्ञान का विषय नहीं हुआ है वह अनधिगत कहा जाता है औ जिस वस्तु विषयक ज्ञान का अन्य ज्ञान बाधक न होय वह अबाधित कहा जाता है एवंभूत वस्तु विषयक जो पुरुषनिष्ठ ज्ञान वह प्रमा कहा जाता है। अनधिगत कहने से स्मृतिज्ञान को प्रमात्व का वारण हुआ क्योंकि स्मृति को प्रथम अन्य ज्ञान के विषयीभूत वस्तु विषयक होने से वह अनधिगतविषयक नहीं है, अबाधित कहने से जो शुक्ति में भ्रान्ति से रजतज्ञान है

ज्ञान) वह प्रमा कहा जाता है, इसी को ही यथार्थ अनुभव वा सत्यज्ञान कहते हैं सो यह यथार्थाऽनुभवसंज्ञक प्रमा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा वा लिङ्गज्ञान द्वारा वा आप्तवाक्यश्रवण द्वारा चित्तवृत्ति से जन्य होती है इस से चित्तवृत्ति को प्रमा का करण होने से प्रमाण कहा जाता है।

तहां इतना विशेष है जो चक्षुआदि इन्द्रियों द्वारा विषयाकार चित्त की वृत्ति उदय होती है वह प्रत्यक्षप्रमाण नाम से व्यवहृत होती है औ जो वृत्ति लिङ्ग ज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है वह अनुमानप्रमाण नाम से व्यवहृत होती है औ जो आप्त-वचनश्रवण से चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है वह शब्द प्रमाण वा आगम पद का वाच्य होती है, इन्ह तीनों प्रमाणों द्वारा जो पुरुष को ज्ञान होता है वह फलप्रमा कही जाती है, सो यह प्रमा भी चित्तवृत्ति रूप प्रमाणों को तीन प्रकार होने से प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, शाब्दीप्रमा भेद से तीन प्रकार की है।

भाव यह है कि (१)—चक्षुआदि इन्द्रिय द्वारा (२) घट आदि वाह्य पदार्थों से चित्त का उपराग (वृत्तिद्वारा संबन्ध) होने से जो घटादि पदार्थाऽऽकार से जातिविशिष्टव्यक्ति विषयक (यह घट है) इस आकार विशिष्ट चित्त की वृत्ति वह प्रत्यक्षप्रमाण नाम से व्यवहृत होती है औ तदनन्तर अहं घटं जानामि † इस आकारवाला जो विषयसहित चित्तवृत्ति-विषयक पुरुषनिष्ठ ज्ञान सो फलप्रमा कहा जाता है, यहां इतना विशेष यह भी जानलेना कि—सांख्ययोग मत में प्रकृत में प्रमाण, प्रमा-प्रमाण, प्रमा, प्रमाता, साक्षी भेद से पंच पदार्थ माने जाते हैं। तहां जैसे तालाब का जल कुल्या द्वारा क्षेत्र में प्रविष्ट हो क्षेत्राकार हो जाता है तैसे नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा वाह्यविषयों से संबद्ध होकर तिस तिस आकाररूप परिणाम को प्राप्त हुये चित्त की जो यह घट है इत्याऽऽकार चित्तवृत्ति (३) वह बौद्धप्रमा कही जाती है,

---

उस को प्रमात्व का वारण किया क्योंकि यह ज्ञान उत्तरकाल में होने वाले (यह रजत नहीं है) इस ज्ञान से वाधित है, अतः इस का विषय वाधित है, फलितार्थ यह है कि स्मृति औ भ्रम से भिन्न जो ज्ञान वह प्रमा कहा जाता है।

(१) इस प्रकार सामान्य से प्रमा-औ प्रमाण-का लक्षण कथन कर इदानीं विशेष रूप से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के लक्षणनिरूपण के लिये कहते हैं (भाव यह है) इत्यादि।

(२) जैसे तालाव से क्षेत्र में जल के जाने के लिये कुल्या द्वार है तैसे चित्तवृत्ति का वाह्य पदार्थों में जाने का चक्षु आदि द्वार हैं।

† मैं घट विषयक ज्ञानवाला हूं यह इस का अर्थ है।

(३) यहां पर चित्त औ बुद्धि दोनों एक हैं यह मत विस्मरण करना।

इस प्रमा का विषयसंबन्ध द्वारा नेत्रादि इन्द्रिय जनक हैं, अतः वह प्रमाण पद वाच्य हैं, औ जो पूर्वोक्त चित्तवृत्ति है वह इन्द्रियों का फल औ पुरुषनिष्ठ-ज्ञानरूप फलप्रमा का करण होने से प्रमा प्रमाण इन दोनों नामों से व्यवहृत होती है (१); औ जो पुरुषनिष्ठ बोध है सो केवल प्रमा ही कहा जाता है क्योंकि वह फल होने से किसी का करण नहीं है। औ जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चेतन इस प्रमा का आश्रय है वह प्रमाता कहा जाता है। औ जो बुद्धिवृत्ति उपहित शुद्ध चेतन है वह साक्षी जानना।

जो कि विज्ञानभिक्षु ने "प्रमाता चेतनं शुद्धः" इस वाक्य से शुद्ध चेतन को प्रमाता कहा है सो "असङ्गो ह्ययं पुरुषः(२). इत्यादि श्रुति विरुद्ध होने से हेय जानना, किञ्च शुद्ध को प्रमाता कहना युक्ति से भी विरुद्ध है क्योंकि शुद्ध नाम निखिलधर्मरहित का है औ प्रमाता नाम प्रमारूपधर्मविशिष्ट का है, तथाच धर्मरहित धर्मविशिष्ट है यह कथन अवश्य ही युक्तिविरुद्ध हुआ।

एवं च चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन ही प्रमा का आधार होने से प्रमाता है कुछ शुद्धचेतन नहीं यही समञ्जस जानना।

तात्पर्य्य यह है कि—प्रमा रूप जो बोध है वह पुरुष का मुख्य धर्म नहीं है क्योंकि मुख्यधर्म मानने से "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (३)" इत्यादि वेदवचन असंगत हो जांयगे, किन्तु चित्त में प्रतिबिंबित चेतन को चित्त से आविविक्त होने से पुरुष में वह उपचरित है (४)।

अत एव "ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन, ज्ञानस्वरूप एवाऽऽत्मा नित्यः सर्वगतः शिवः" इत्यादि वाक्यों में (ज्ञान आत्मा का धर्म वा गुण नहीं है किन्तु ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है) इसप्रकार शुद्ध पुरुष को साक्षी कहा है, औ विज्ञानभिक्षु ने भी द्वितीयपाद २० सूत्र के व्याख्यान में आरोप से प्रमा का अधार कह कर परमार्थतः बुद्धि का साक्षी ही पुरुष को माना है (५),

---

(१) एवं च इन्द्रियों की अपेक्षा से बुद्धिवृत्ति को प्रमा औ फलप्रमारूप पुरुषनिष्ठ बोध की अपेक्षा से प्रमाण होने से बौद्धप्रमा के प्रमा--प्रमाण यह दो नाम है यह सिद्ध हुआ।

(२) यह जो सब का आत्मभूत पुरुष है वह असङ्ग है अर्थात् किसीधर्मों से संबद्ध न होने से निर्धर्मक है।

(३) चेतन पुरुष निर्गुण होने से केवल साक्षी ही है यह इस का भाव है।

(४) (उपचरित) उपचार (गौणता वा अविवेक) से प्रतीत होता है।

(५) 'कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुषः' यह वहां का विज्ञान भिक्षु का लेख है, पुरुष में प्रमातृत्व कल्पित है औ साक्षित्व वास्तव है यह भाव है।

एवं सांख्यप्रवचनभाष्य में भी (पुरुपस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमाता*) इस वाक्य से पुरुप को प्रमा का साक्षी कह कर प्रमा के आश्रयत्व का निपेध किया है, तथाच श्रुति-स्मृति-युक्ति-स्वोक्ति के सङ्ग विरोध होने से पुरुप को यहां प्रमाता कहना विज्ञानभिक्षु का प्रमाद ही है यह सिद्ध हुआ।

जो कि फिर विज्ञानभिक्षु ने यह कहा है कि-(यदि बुद्धि को ही प्रमाता माना जायगा तो पुरुप ही नहीं सिद्ध होगा) सो भी समीचीन नहीं क्योंकि-जैसे चेतन से विना व्यवहार सिद्ध न होने से चेतनभूत प्रमाता मा... पुरुप की सिद्धि की जाती है तैसे साक्षीभूत चेतन से विना भी व्य... सिद्धि के अभाव से साक्षीरूप से भी पुरुप सिद्ध होसकता है(१), अतः पूर्वो... व्यवस्था ही समीचीन जाननी।

यहां पर इतना विशेप और भी जान लेना कि कपिल मुनि ने "द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा" (२) इस सूत्र से बुद्धि औ पुरुप इन दोनों को ही प्रमा का आधार कहा है, इसी से ही हम ने पूर्व पौरुपेयप्रमा की अपेक्षा से चित्त वृत्ति को प्रमाण औ बौद्धप्रमा की अपेक्षा से चक्षु आदि को प्रमाण कहा है। वस्तुतः तो दो प्रमा मानने की कुछ आवश्यकता नहीं है, अत एव इस सूत्र के व्याख्यान में वेदव्यास जी ने चित्तवृत्ति को प्रमाण औ पौरुपेयबोध को प्रमा कहा है, कुछ चित्तवृत्ति को प्रमा नहीं कहा है, इसी से ही पूर्वोक्त साङ्ख्यसूत्र में (एकतरस्य वा) इस प्रकार अनियमबोधक वा शब्द का प्रयोग किया है, औ वाचस्पतिमिश्र को भी यही अभिमत है, चक्षु आदि को तो परंपरा से (३) ही प्रमाकरण होने से प्रमाण व्यवहार होता है कुछ साक्षात् नहीं, साक्षात् प्रमाण तो चित्त की वृत्ति ही है यह तत्व है।

* साङ्ख्य के ८७ सूत्र के व्याख्यान में देखो।

(१) यदि हम केवल बुद्धि को प्रमाता मानते तो यह कथन संभव हो सकता कि बुद्धि को प्रमाता मानने से पुरुप सिद्ध नहीं होगा सोतो हम मानते ही नहीं किन्तु बुद्धि-प्रतिबिम्बित चेतन को प्रमाता मानते हैं, तब पुरुप का अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है यह भी जानो।

(२) अज्ञात अर्थ का जो ज्ञान वह प्रमा है, सो यह प्रमा बुद्धि औ पुरुप इन दोनों का धर्म है, वा एक बुद्धि का ही धर्म जानना यह सूत्र का अर्थ है, यह सूत्र प्रथमाध्याय का ८७ है।

(३) परम्परा=चित्तवृत्ति की विपयाकारता करने में कारण होने से चक्षुरादि प्रमाण हैं, अर्थात् प्रमाण का उपयोगी होने से इन्द्रिय प्रमाण हैं, यह इस... भाव है।

इस (१) पूर्वविचार से यह सिद्ध हुआ कि—इन्द्रियद्वारा घटाद्याकार जो चित्तवृत्ति वह प्रत्यक्ष प्रमाण औ तज्जन्य जो पुरुषनिष्ठ ज्ञान वह प्रत्यक्ष-प्रमाका वाच्य है। एवं जो चित्तवृत्ति सपक्षों में विद्यमान औ विपक्षों से व्यावृत्त लिङ्ग के ज्ञान द्वारा जन्य होती है वह अनुमानप्रमाण पद का वाच्य होती है, अर्थात्–जो वस्तुविशेष अज्ञात हुआ किसी हेतुद्वारा सामान्यरूप से सिद्ध किया जाता है वह साध्य कहा जाता है, औ वह साध्य जिस स्थान में नियम से वर्तता है वह सपक्ष औ जिस स्थान में कदापि साध्य की सत्ता का संभव न हो सके वह विपक्ष कहा जाता है, औ जिस में साध्य की सिद्धी कियी जाती है वह पक्ष पद का वाच्य है, जिस द्वारा पक्ष में साध्य की विद्यमानता प्रतीत होती है वह लिङ्ग वा हेतु कहा जाता है, जिस दृष्टान्त से पक्ष में साध्य सत्ता का निश्चय होता है वह उदाहरण कहा जाता है (२)

यहां पर प्रयोगरचना यह है कि—चन्द्रसूर्य्यतारा प्रभृति (३) गमनशील हैं क्योंकि जिस देश में पूर्व स्थित थे उस देश से भिन्न देश में प्रतीत होने से, जो अन्यत्र स्थित हुआ अन्यत्र प्रतीत होता है वह अवश्य गमनशील है, जैसा कि पुरुष, जो गमन नहीं करता है वह अन्यत्र स्थित हुआ अन्यत्र प्राप्त भी नहीं होता है जैसा कि विन्ध्य आदि पर्वत, यहां पर देशान्तरप्राप्तिरूप लिङ्ग सपक्षभूत पुरुषों में विद्यमान है औ विपक्ष पर्वतादिकों से व्यावृत्त है, एवं च देशान्तरप्राप्ति रूप लिङ्ग के ज्ञान से जन्य जो पक्षस्वरूप सूर्य्यादि में गमनरूपसाध्यज्ञानाकार चित्तवृत्ति वह अनुमान प्रमाण हुयी औ तज्जन्य जो (सूर्य्यादि गमनशील हैं) इस प्रकार पुरुषनिष्ठ ज्ञान यह अनुमिति प्रमा

---

(१) प्रसङ्गप्राप्त विचार को समाप्त कर इदानीं निर्गलितार्थ कथन पूर्वक अनुमानादि प्रमाणों के लक्षण कथन का आरम्भ करते हैं (इस पूर्व) इत्यादि से।

(२) पर्वत वन्हिवाला है धूमसंबद्ध होने से पाकगृहवत्, इस स्थल में पर्वत पक्ष है क्योंकि इस में अज्ञात हुये वन्हि की सिद्धि करनी है, एवं वन्हि साध्य औ धूम हेतु है, औ पाकगृह यह दृष्टान्त है, प्रकृत में पाकगृह सपक्ष है क्योंकि इस में साध्य भूत वन्हि का रहना निश्चित है औ जलाशय (तालाब) विपक्ष है क्योंकि इस में वन्हि के रहने का संभव नहीं है, एवं च सपक्ष में विद्यमान औ विपक्ष में ऽविद्यमान जो धूमरूप लिङ्ग तिसके ज्ञान से (जहां धूम तहां वन्हि अवश्य होती है) इस प्रकार नियमस्मरण प्रयुक्त जो पर्वत में वन्हिविषयक चित्तवृत्ति वह अनुमानप्रमाण हुयी।

(३) भाष्यकारोक्त अनुमान प्रयोग प्रदर्शन करते हैं—(चन्द्र सूर्य्य) इत्यादि से।

हुई (१) एवं जो चित्तवृत्ति आप्तउच्चरित वाक्य से उदय होती है सो आगमप्रमाण पद वाच्य होती है, अर्थात्-जिस शब्द से आप्तजन अपने दृष्ट वा श्रुत वा अनुमित पदार्थों का अपर जनों के चित्त में स्वसमान ज्ञान जनन के लिये उपदेश करते हैं तिस शब्द से जो श्रोता की तज्जन्य तदर्थविषयक चित्तवृत्ति वह आगमप्रमाण वा शब्दप्रमाण से व्यवहृत होती है, औ तज्जन्य जो पुरुषनिष्ठ ज्ञान है वह शाब्दीप्रमा कहा जाती है।

तत्त्वज्ञान तथा कारुण्य युक्त जो यथादृष्टयथाश्रुतपदार्थवादी पुरुष वह आप्त कहा जाता है। आप्त कहने से जो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि (२) पुरुषदोष युक्त अनाप्त हैं उन के उपदेश प्रमाणजनक नहीं है यह फलित हुआ।

भाव यह है कि-वेदविरुद्धवादी अनाप्तचार्वाकादि उच्चरित शब्दों से जो अर्थबोध होता है वह केवल बोधमात्र ही है कुछ प्रमाण नहीं जानना, औ जो मनुआदि महर्षियों के वचनों से बोध होता है वह प्रमाण जानना क्योंकि वह आप्तोक्त औ वेदमूलक हैं. अत एव "यः कश्चित्कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः (३), इस श्लोक से भृगु मुनि ने मनुप्रोक्त धर्मों को वेदमूलक कहा है।

यद्यपि वेदोक्त अर्थ का प्रतिपादक होने से मनुवचनों को पुनरुक्तदोष औ अनुवाददोष ग्रस्त होने से प्रमाणता युक्त नहीं हो सक्ती है क्योंकि अपूर्व अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को ही मीमांसकलोक प्रमाण मानते हैं अन्य को नहीं, तथापि वेद में किसी शाखा में अष्टका आदि कर्मों की उत्पत्ति, औ किसी

(१) इस स्थल में सूर्य्यादि पक्ष हैं क्योंकि इन्हों में गमन सिद्ध करना है, औ गमन साध्य है औ देशान्तरप्राप्ति लिङ्ग है क्योंकि वह गमनशील सपक्ष पुरुषों में वर्तमान है औ गमनरहित पर्वतादिक विपक्षों में अवर्तमान है; जैसा कि पुरुष यह अन्वयी उदाहरण है, विन्ध्यपर्वत यह व्यतिरेकी उदाहरण है।

(२) वक्तव्यपदार्थविषयक सन्देह को भ्रम कहते हैं, औ चित्त के चाञ्चल्य से वक्तव्यपदार्थविषयक निश्चयाभाव का नाम प्रमाद है, अन्य प्रकार से जाने हुये पदार्थ का अन्यप्रकार से प्रतिपादन करना विप्रलिप्सा कही जाती है, इसी का नाम प्रतारणा है, अन्य वर्ण के उच्चारण की इच्छा होने पर भी जो इन्द्रियों को दुष्ट होने से वर्णान्तर का उच्चारण हो जाना वह करणापाटव है।

(३) जो कुछ वर्ण वा आश्रम का धर्म मनु ने प्रतिपादन किया है वह सब वेद में लिखा है, क्योंकि मनुजी निखिल वेद के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं।

शाखा में देवता औ किसी शाखा में मन्त्र तथा विनियोग लिखा है, औ मनु-भगवान ने उन विप्रकीर्ण धर्मों को लोकोपकारार्थ सुखबोध के लिये एकत्र उपनिबद्ध किया है अतः अपूर्व एकत्रसंग्रह रूप अर्थ का प्रतिपादक होने से औ वेदाविरुद्ध होने से मनुवचन प्रामाणिक ही हैं अप्रमाण नहीं (१)।

इन सब विषयों का इस स्थान में विस्तरपूर्वक लिखने का आवश्यक नहीं है क्योंकि यह प्रमेय शास्त्र है अतः इतना ही बहुत है ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रमाणसञ्ज्ञक वृत्ति का विभाग प्रतिपादन कर इदानीं क्रमप्राप्त द्वितीय विपर्य्ययवृत्ति का लक्षण कहते हैं--

सू०--विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

भाषा--(मिथ्याज्ञानम्) रज्जु में सर्पज्ञान के समान जो बाधित ज्ञान है, वह (विपर्य्ययः) विपर्य्यय ज्ञान है क्योंकि वह (अतद्रूपप्रतिष्ठम्) वस्तु के यथार्थ रूप में स्थित नहीं है (२)

अर्थात्--जो रज्जु में सर्प वा एकचन्द्र में द्विचन्द्र रूप मिथ्याज्ञान है वह विपर्य्यय कहा जाता है क्योंकि वह अपने रूप में स्थित नहीं है, जो वस्तु के यथार्थरूप से कभी भी न प्रच्युत होकर वस्तु के यथार्थ रूप को ही भासमान करता है वह तद्रूपप्रतिष्ठ होने से सत्यज्ञान है जहां वस्तु तो अन्य है औ चित्तवृत्ति अन्य प्रकार की है वहां चित्त की वृत्ति तिस वस्तु के यथार्थरूप में स्थित नहीं है अतः वह अतद्रूपप्रतिष्ठित होने से विपर्य्ययज्ञान पद का वाच्य होती है। भाव यह है कि--जैसे अग्नि के संयोग से द्रवीभूत (पिघला हुआ) राङ्गा वा चान्दी आदि धातु किसी मूषा (सांचा) में ढाल देने से यादृश मूषा का आकार होता है तादृश आकार को ही धारन कर लेता है तैसे चित्त भी मूषास्थानापन्न बाह्यवस्तु से संबद्ध हुआ संयुक्त वस्तु के समानाकार से परिणत हो तदाकार हो जाता है, यह चित्त का विषयाकार परिणाम ही वृत्ति वा ज्ञान तथा

---

(१) कोई यह भी कहते हैं कि (बहुत सी वेद की वह शाखा उच्छिन्न हो गयी हैं कि--जिन्हों में स्मार्तधर्म का प्रतिपादन किया था, औ मनु भगवान सर्वज्ञ होने से उन को जानते थे अतः उन शाखाओं के धर्मों को ही निबद्ध किया है इस से पुनरुक्ति दोष युक्त औ वेदविरुद्ध न होने से मनुवचन प्रामाणिक हैं) परन्तु यह मत मनुभाष्यकार मेधातिथि भट्ट ने अयुक्त होने से अप्रामाणिक माना है क्योंकि वेद की शाखायें जितनी वेद में लिखी है उस से अधिक औ उच्छिन्न मानने में कुछ प्रमाण नहीं है।

(२) मिथ्याज्ञान--यह लक्षण है, औ विपर्य्ययः--यह लक्ष्य है, औ मिथ्याज्ञान क्यों है इसमें हेतु प्रदर्शन के लिये अतद्रूपप्रतिष्ठम् यह कहा है।

प्रमाणपद का वाच्य होता है। यदि सांचा तो अन्य प्रकार का है परन्तु किसी दोष से ढालेहुये धातुमय वस्तु में कुछ विलक्षणता हो जाय तो वह वस्तु का आकार दोषविशिष्ट होने से स्वरूप में अप्रतिष्ठित हुआ दुष्ट कहा जाता है ऐसे ही यदि वस्तु का आकार तो कुछ और ही हो औ चित्त की वृत्ति किसी दोष से अन्य प्रकार की हो जाय तो वह चित्त का आकार भी वस्तु के समानाकार न होने से स्वरूप में अप्रतिष्ठित हुआ मिथ्या वा दुष्ट वा भ्रान्तिज्ञान कहा जाता है, जैसा कि एकचन्द्र में द्विचन्द्रज्ञान औ रज्जु में सर्पज्ञान, इसी चित्त के वस्तु से विलक्षण आकार को ही विपर्य्ययज्ञान कहते हैं (१) यद्वा (२) जो ज्ञान निजरूप में प्रतिष्ठित नहीं है वह अतद्रूपाप्रतिष्ठं कहा जाता है अर्थात्—चन्द्र में जो एकत्वज्ञान औ सर्प में जो सर्पज्ञान वह निजरूप में प्रतिष्ठित होने से प्रमाणज्ञान है औ जो चन्द्र में द्विचन्द्रज्ञान वा रज्जु में सर्पज्ञान वह उत्तर काल में होने वाले यथार्थ ज्ञान से बाधित होने से निजरूप में अप्रतिष्ठित है क्योंकि उत्तर कालिकज्ञान ने स्वरूप से प्रच्युत कर उस की प्रतिष्ठा का भङ्ग कर दिया है।

एवं च सर्पविषयक सर्पज्ञान किसीज्ञान से बाधित न होने से स्वरूपप्रतिष्ठित हुआ प्रमाण पदका वाच्य औ रज्जुविषयक सर्पज्ञान उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से बाधित होने से स्वरूप में अप्रतिष्ठित हुआ विपर्य्ययज्ञान पद का वाच्य होता है यह फलित हुआ (३)।

जिस कारण से यह ज्ञान उत्तरज्ञान से बाधित होजाता है इसी से ही यह ज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि जो ज्ञान यथार्थ वस्तु को विषय कर अबाधित होता है वही प्रमाण कहा जाता है, इसी से ही सत्यपदार्थविषयक एकचन्द्रज्ञान से मिथ्याभूतद्विचन्द्रज्ञान का बाध हो जाता है।

---

(१) विषय के समान आकार से परिणत चित्तवृत्ति को प्रमाण औ विषय से विलक्षण आकार से परिणत चित्तवृत्ति को विपर्य्यय कहते हैं, यह तत्त्वं है।

(२) अतद्रूपाऽप्रतिष्ठं—इस पद में तद्रूप से वस्तु के रूप को आश्रयण कर वस्तु के स्वरुप में अस्थित ज्ञान को विपर्य्यय कहा, इदानीं तद्रूपसे ज्ञान का निजरूप ग्रहण कर अर्थान्तर कहते हैं—(यद्वा) इत्यादि।

(३) जैसे विपर्य्ययज्ञान रूपाप्रतिष्ठित है तैसे संशय भी उत्तरकालिक ज्ञान बाधित होने से रूपाप्रतिष्ठित है, एवंच संशय भी विपर्य्यय के अन्तर्गत हुया, तथा च तत्प्रयुक्त न्यूनता नहीं जाननी। यथा अश्राद्धभोजी शब्द में आदिमनिषेधार्थक अकार का भोजी के सङ्ग संबन्ध कर श्राद्ध में जो भोजन नहीं करता है सो वाच्य होता है तथा यहां अकार का प्रतिष्ठ के साथ अन्वय कर अपनें रूप में जो प्रतिष्ठित नहीं है वह तद्रूपाप्रतिष्ठ जानना, यह भी जानों।

जो यह विपर्य्ययसंज्ञक चित्त की वृत्ति है वही अविद्या कही जाती है। सो यह अविद्यासंज्ञक विपर्य्ययज्ञान अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश भेद से पञ्च प्रकार का है, इन्हीं को ही पञ्चक्लेश कहते हैं (१)।

इन पांचों को ही "तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसञ्ज्ञितः, अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः" इस विष्णुपुराण के वाक्य में तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र इन पांचो स्वअनुरूप नामों से निर्देश किया है।

जो यह पांचो क्लेशों के यथा क्रम तम आदि नामान्तर हैं वह अवान्तर भेद से ६२ वासठ प्रकार के हैं—जैसा कि साङ्ख्यस्मृति में कहा है।

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः,
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः" ॥ ४८ ॥

अर्थात्—प्रकृति-महत्तत्त्व-अहङ्कार-शब्दादिपञ्चतन्मात्र रूप अष्ट प्रकृति विकृतिरूप अनात्मपदार्थों में जो आत्मबुद्धि रूप अज्ञान वह तम कहा जाता है, सो यह अविद्यासंज्ञक तम अष्टविषय विषयक होने से आठ प्रकार का है।

एवं गौणफलरूप अणिमादि ऐश्वर्य्यों में जो परमपुरुषार्थ रूप ज्ञान वह अस्मितासंज्ञक मोह कहा जाता है, यह भी अणिमादि (२) की आठ होने से आठ प्रकार का है। एवं अष्टविध ऐश्वर्य्य को संपादनकर जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक लौकिक औ दिव्य विषयों में अनुराग वह रागसंज्ञक महामोह कहा जाता है, यह भी दशविषय विषयक (३) होने से दश प्रकार का है। एवं उन विषयों के भोगार्थ प्रवृत्त होने पर किसी प्रतिबन्धक के बल से जो उन्ह विषयों का भोग लाभ न होने से प्रतिबन्धकविषयक द्वेष वह तामिस्रकहा जाता है, यह भी दश विध विषयों की अप्राप्ति प्रयुक्त होने से दश प्रकार का है। एवं आठ प्रकार के ऐश्वर्य्य होने पर औ दशविध विषयों के भी उपस्थित होने पर जो यह चित्त में भय कि (यह सब कल्प के अन्त में विनष्ट हो जायंगे) वह अभिनिवेश अन्धतामिस्र कहा जाता है, यह भी अष्ट ऐश्वर्य्य औ दशविध विषय प्रयुक्त होने से अष्टादश प्रकार का है। यह सब अज्ञान-

(१) इस कथन से जो यह शङ्का उत्थित होने की संभावना थी कि—(अविद्यादि पंच क्लेशों को भी चित्तवृति होने से चित्त की वृतियां पंच ही हैं यह सूत्रकारोक्तिन्यूनतादोषग्रस्त होने से असङ्गत है) सो भी उच्छिन्न हुयी, क्योंकि यह सब विपर्य्ययवृत्ति के अन्तर्भूत ही हैं, क्लेशों का लक्षण द्वितीयपाद के तृतीयादि सूत्रों में कहा जायगा।

(२) अणिमादि ऐश्वर्य्यों का निरूपण तृतीयपाद के ४५ सूत्र में होगा।

(३) इस लोक में होनेवाले औ दिव्य अर्थात् देवलोक में होनेवाले जो पंच २ शब्दादि वह दश विषय हैं।

मूलक औ दुःखजनक होने से अज्ञान, अविद्या, विपर्य्ययज्ञान, भ्रान्तिज्ञान, क्लेश इत्यादि नामों से शास्त्र में व्यवहृत होते हैं ॥ ८ ॥

इदानीं क्रमप्राप्त तृतीय विकल्पवृत्ति का लक्षण कथन करते हैं—

सू० शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

भाषा—(वस्तुशून्यः) जो ज्ञान वस्तु से शून्य है, अर्थात् जिस ज्ञान का विषय अलीक (मिथ्या) है किन्तु (शब्दज्ञानाऽनुपाती) शब्द ज्ञान के प्रभाव से ही अनुपतन अर्थात् उस अलीकपदार्थ के आकार से उत्पन्न हो जाता है वह (विकल्पः) विकल्प पद का वाच्य होता है—

अर्थात् शब्दजन्य ज्ञान से पश्चात् होने वाला जो अलीकपदार्थ विषयक चित्त का तदाकार परिणाम वह विकल्प कहा जाता है।

यथा (राहोः शिरः) इस शब्द जन्य ज्ञान से अनन्तर सवपुरुष को यह बोध होता है कि राहु का शिर है परंतु जब शास्त्रदृष्टि से यह विचार किया जाता है कि (शिर ही का नाम तो राहु है कुछ जैसे देवदत्त का वस्त्र है इस कथन से वस्त्र भिन्न औ देवदत्त भिन्न प्रतीत होता है तैसे तो यहां नहीं है) तब यह बोध वस्तुशून्य अर्थात् अलीकविषयक होने से विकल्प स्वरूप कहा जाता है।

इसी प्रकार (चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं) यह ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है, क्योंकि चैतन्य पुरुष का स्वरूप है यह इस वाक्य का अर्थ है परन्तु जैसे देवदत्त से वस्त्र भिन्न है तैसे कुछ पुरुष से भिन्न चैतन्य नहीं है क्योंकि पुरुष ही चेतन है इस से यह ज्ञान भी वस्तु शून्य होने से विकल्प है,

आशङ्का—यदि शब्दज्ञान से अनन्तर ही विकल्पात्मकवृत्ति उदय होती है तो यह शब्द प्रमाण के ही अन्तर्गत हुयी क्योंकि जो शब्दज्ञानाऽनुपाती (१) चित्त की वृत्ति है वहीशब्दप्रमाण का वाच्य है औ यदि वस्तुशून्यचित्तवृत्ति का नाम विकल्प है तो यह विपर्य्यय के अन्तर्भूत हुयी क्योंकि जो वस्तुशून्य वृत्ति होती है वह विपर्य्यय कही जाती है, एवं च इन दोनों से भिन्न एक नूतन विकल्प वृत्ति मानने का क्या फल है ?

समाधान—यद्यपि शब्दज्ञान से अनन्तर यह विकल्पवृत्ति उदय होती है तथापि वह प्रमाण पद वाच्य नहीं हो सकती क्योंकि यदि इस ज्ञान के विषय का बाध न होता तो सुतरां हम इस को शब्दप्रमाण कह सकते परन्तु सो है नहीं क्योंकि विचार करने से यह पूर्वोक्त ज्ञान मिथ्यावस्तु-

---

(१) अनुपाती=शब्दज्ञान के अनन्तर उदय होनेवाली।

विषयक होने से बाधित प्रतीत होता है इस से प्रमाण नहीं हो सकता है, एवं यदि निखिल जनों को बोध न होता कभी उत्तरकालिक ज्ञान से बाध भी हो जाता तो इस को विपर्य्यय ज्ञान कहते परन्तु सो है नहीं क्योंकि जैसा (चैत्रस्य वस्त्रं) इस शब्द प्रयोग से चैत्र औ वस्त्र का परस्पर भेद होने से विशेष्य-विशेषणभाव प्रतीत होता है तैसे (चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं) इस वाक्य से भी विशेष्यविशेषणभाव (१) प्रतीत होता है, इस से विपर्य्यय भी नहीं।

परन्तु जब यह विचार किया जाता है कि चैतन्य औ पुरुष को एक होने से विशेष्यविशेषणभाव असंभव है तब यह ज्ञान वस्तुशून्य होने से मिथ्या ज्ञान के तुल्य प्रतीत हो जाता है कुछ वस्तुगत्या मिथ्या नहीं है।

अत एव सूत्रकार ने प्रमाण औ विपर्य्यय ज्ञान से भिन्न ही विकल्प वृत्ति निर्दिष्ट कियी है।

निखिल जनों को जिस में बाध बुद्धि उदय होय वह विपर्य्यय ज्ञान औ अतिनिपुण शास्त्रज्ञों को विचारद्वारा जिस में बाध ज्ञान होय वह विकल्पज्ञान कहा जाता है यह तत्त्व है (२)

यह विकल्पवृत्ति ही कहीं अभिन्न पदार्थों का भेद प्रदर्शन करा देती है जैसा कि 'राहो शिरः, औ कहीं भिन्न पदार्थों की अभिन्नता बोधन करा देती है जैसा कि—'अयःपिण्डो दहति (३) इति।

इसी प्रकार (प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः) यह भी विकल्पज्ञान ही है क्योंकि निखिल पदार्थनिष्ठ धर्मों से रहित औ क्रिया के अभाववाला पुरुष है यह इस वाक्य का अर्थ है सो यह साङ्ख्य योग मत से विरुद्ध है क्योंकि जब कि हम एक स्वतन्त्र अभाव पदार्थ को स्वीकार करते तो यह कहा जा सकता है कि क्रिया के अभाववाला पुरुष है, परन्तु अभावपदार्थ का इस मत में स्वीकार नहीं, क्योंकि जिस आधार में लोक अभाव मानते हैं

(१) जैसे चैत्रस्य वस्त्रं यहांपर चैत्र विशेषण औ वस्त्र विशेष्य है तैसे यहां पर पुरुष विशेषण औ चैतन्य विशेष्य है।

(२) इस आशय से ही पूर्वसूत्र में वाचस्पति मिश्र ने मिथ्याज्ञान शब्द से सर्वजनानुभव सिद्ध बाध के विषयभूत ज्ञान का ग्रहण किया है, यदि सामान्य से मिथ्याज्ञान का ग्रहण होता तो विकल्पज्ञान में भी विपर्य्ययज्ञान के लक्षण की विद्यमानता से विपर्य्ययलक्षण अतिव्याप्तियुक्त हो जाता, यह इस का भाव है। विज्ञानभिक्षु ने तो विपर्य्यय लक्षण में विकल्पभिन्न इतना और विशेषण देकर अतिव्याप्ति का वारण किया है, अस्तु।

(३) अयःपिण्ड नाम लोहे के गोले का है, यहां पर दाह करना यद्यपि वन्हि का धर्म है तथापि अभेद से लोक लोहपिण्ड को दाहक कहते हैं।

उस आधार को ही हम अभावस्वरूप मानते हैं, एवं च अभावरूपपदार्थान्तर के अभाव से विशेष्यविशेषणभाव का यहां असंभव होनेपर भी जो पूर्वोक्त व्यवहार होता है वह विकल्पज्ञानात्मक ही जानना।

तात्पर्य्य यह है कि—जैसा कि नैयायिकादि मत में इस भूतल में घट का अभाव है यहां पर भूतल को आधार औ अभाव को पदार्थान्तर मानकर घटाभाव को आधेय मानते हैं तैसे साङ्ख्ययोगनयाऽनुयायी नहीं मानते हैं किन्तु भूतल का जो कैवल्यलक्षण (एकलापनरूप) परिणामविशेष सोई घटाभाव है कुछ अधिकरणभूत भूतल से वह भिन्न नहीं है यह मानते हैं। इस (१) वन में आम्र के वृक्ष हैं यहां पर जैसे वन औ वृक्षों को एक होने पर भी आधाराधेयभाव प्रतीत होता है तैसे भूतल औ घटाभाव को एक होनेपर भी भूतल में घटाभाव है इस प्रकार आधाराधेयभाव जानलेना (२)।

एवं बाणस्थित था बाण स्थित है बाण स्थित होगा (३) इत्यादि व्यवहार भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि यहां पर बाण में गतिनिवृत्ति के अनुकूल यत्न का (४) अभाव होने से बाण में कर्तृत्व औ तिसकर्ता में वर्तमानकालादि प्रत्ययत्रय का अर्थ असंभव है, केवल गतिनिवृत्तिमात्र स्था धातु का अर्थ प्रतीत होता है, अतः यह भी वस्तुशून्य होने से विकल्पात्मक ही है।

एवं (अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः) इस वाक्य से जो (उत्पत्तिरूप धर्म के अभाववाला पुरुष है) यह बोध होता है सो भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि अभावरूप पदार्थान्तर के अनङ्गीकार से पुरुषव्यतिरिक्त क्रिया के अभाव का यहां संभव नहीं है, एवं च वस्तुशून्य होने पर भी जो शब्दज्ञान के प्रभाव से अनुत्पत्तिरूप धर्मवाला पुरुष है यह बोध है सो भी विकल्पात्मक ही है, एवं अहं (मैं) हूं यह व्यवहार भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि यहां पर चेतन औ अहङ्कार को भिन्न भिन्न होने पर भी दोनों का अभेदज्ञान प्रतीत होता है अतः भिन्नविषयक अभिन्नात्मक होने से यह भी विकल्प ही है, एवं च जो जो चित्तवृत्ति वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से विना केवल शब्दज्ञान के प्रभाव से ही

---

(१) यदि भूतल औ घटाभाव दोनों एक ही हैं तो फिर भूतल में घटाभाव है यह आधाराधेयभाव कैसे क्योंकि भिन्न ही पदार्थों का आधाराधेयभाव हो सकता है, इस आशङ्का का वारन करते हैं, (इस वन) इत्यादि से।

(२) यहां पर विचारान्तर कठिन जान कर त्याग दिया है, जिसे देखना हो वह हमारे निर्मित योगतत्त्वसमीक्षाप्रकाश में देख ले।

(३) यथाक्रम भूत वर्तमान भविष्यत्काल के यह उदाहरण हैं।

(४) यत्न गुण चेतन का है औ बाण जड है, इस से बाण में यत्न का अभाव है।

अलीकपदार्थ विषयक उदय होती है वह सब विकल्पात्मक ही (१) जाननी ॥९॥

अधुना अवसरप्राप्त निद्रावृत्ति का निर्वचन (लक्षण) करते हैं—

सू० अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना*वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

भाषा–निखिल पदार्थों के अभावविषयक जो प्रत्यय (ज्ञान) उस को आलम्बन (आश्रयण) करनेवाली जो चित्तवृत्ति वह निद्रा पद का वाच्य है।

अथवा(२) जाग्रत्स्वप्नवृत्तियों के अभाव का प्रत्यय (कारण) जो बुद्धिनिष्ठ सत्त्वगुण का आच्छादक तमोगुण वा अज्ञान वही है आलम्बन (विषय) जिस चित्तवृत्ति का वह निद्रा कही जाती है, इसी चित्तवृत्ति का ही नामान्तर सुषुप्ति अवस्था है, इस वृत्ति विशिष्ट पुरुष को ही सुषुप्त औ अन्तःप्रज्ञ कहा जाता है।

भाव यह है कि–जिस समय में बुद्धिनिष्ठ सत्व औ रजोगुण को तिरस्कृत कर केवल तमोगुण ही आविर्भाव होकर निखिल इन्द्रियों का आवरणकर लेता है उस समय में दूरीभूत इन्द्रियों के अभाव से बुद्धि का विषयाकार परिणाम न होने से जो अज्ञानरूप से परिणत तमोगुण को विषय करनेवाली-तमोगुणप्रधान चित्त की वृत्ति वह निद्रा कही जाती है।

यह वृत्ति ही सुषुप्ति में होनेवाले स्वरूपभूत सुख औ अज्ञान को विषय करती है।

तहां इतना विशेष है कि–योग मत में सुषुप्तिअवस्था को चित्त की वृत्ति-मानने से चित्तवृत्ति ही सुषुप्तिकालिक सुख औ अज्ञान को विषय करती है औ वेदान्त मत में अन्तःकरण का अविद्या में लय मानने से सुषुप्ति में चित्त-वृत्ति के अभाव से चित्तनिष्ठवासनाउपहितअज्ञानोपाधिक चेतन ही सुषुप्तिका-लिक सुख औ अज्ञान को प्रकाशता है, अतएव सुषुप्तिकालिक सुखादिकों को साक्षिभास्य कहा जाता है।

---

(१) अन्य दर्शनकार विकल्पात्मक वृत्ति नहीं मानते हैं इस से उन के भ्रमो-न्मूलन के लिये अनेक उदाहरण दिखाये गये हैं, यह भी जानो।

(*) यद्यपि पूर्व सूत्रों के तुल्य इससूत्र मे भी वृत्तिनिरूपणरूपप्रकरण के बल से वृत्तिपद का लाभ हो जाने से वृत्तिपद यहां अनर्थक है तथापि जैसे अन्य नैयायिकादि निद्रा को वृत्तिरूप न मान कर केवल ज्ञानाभाव मानते हैं तैसे हम नहीं मानते हैं किन्तु निद्रा भी एक चित्तका वृत्तिविशेष ही है, इसप्रकार बोधनार्थ ही वृत्तिपद का उपादानकिया है। यह इसी सूत्र में आगे स्पष्ट हो जायगा।

(२)प्रत्ययपद को ज्ञानार्थक मान सूत्र का अर्थ-निरूपण कर इदानीं वाचस्पतीमिश्र के मत से प्रत्ययपद का कारणरूप अर्थ मान कर व्याख्यानान्तर कहते हैं (अथवा) इत्यादि।

जो कि * यहां पर विज्ञानभिक्षु ने श्रुतिओं के तात्पर्य्य को न जानकर यह कहा है कि (यथा जाग्रत् औ स्वप्न अवस्था चित्त की वृत्ति है तथा सुषुप्ति भी चित्त की ही वृत्ति है कुछ अविद्या की नहीं, एवं सुषुप्तिकालिक अज्ञान तथा सुख साक्षिभास्य है यह शङ्कराचार्य्य की उक्ति असङ्गत है क्योंकि साक्षी को अपरिणामी होने से उस में संस्कारों के अभाव से स्मरण का संभव नहीं हो सकता है.(१))सो समञ्जस नहीं है क्योंकि यदि सुषुप्तिकाल में चित्त की क्रिया विद्यमान रहती तो यह संभव हो सकता कि सुषुप्ति में चित्त ही अज्ञानादि का प्रकाश करता है परन्तु सो संभव नहीं क्योंकि सुषुप्तिकाल में चित्त का लय होने से वहां चित्त निष्क्रिय हो जाता है, अतएव "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति(२)" "ज्ञानानामुपसंहारे बुद्धेः कारणतास्थितिः, वटबीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते (३)" इत्यादि श्रुति–स्मृतियों में सुषुप्तिअवस्था में अन्तःकरण का अव्याकृतअविद्यारूप से अवस्थान प्रतिपादन किया है।

एवं बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्यायस्थ अजातशत्रुगार्ग्य के संवाद में सुषुप्तिअवस्थानिरूपणपर प्रकरण में भी (गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुः गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः) इत्यादि श्रुति से सुषुप्तिअवस्था में वाक्–नेत्र–श्रोत्रादि के सहित ही अन्तःकरण का अज्ञान में लय कहा है।

गौडपादाचार्य्य ने भी "लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते" इत्यादि वचन से चित्त के लय औ निग्रह के भेद से सुषुप्ति से समाधि का भेद निरूपण किया है।

---

* इदानीं स्वामीजी योगवार्तिक की समालोचना प्रसङ्ग से करते हैं--"जो कि" इत्यादि,

(१) निद्रा से उत्थित जन को जो यह स्मरण होता है कि--(मैं सुख से शयन किया औ कुछ भी नहीं जाना) सो स्मरण तब हो सकता है जब कि सुषुप्तिकाल में सुखादि का ज्ञान औ तज्जन्यसंस्कार होय, सो साक्षी को परिणामशून्य होने से उस में ज्ञान या संस्कार रूप परिणाम का संभव नहीं है, इस से सुखादिक साक्षिभास्य नहीं किन्तु चित्तवृत्तिभास्य हैं, यह विज्ञानभिक्षु का भाव है।

(२) सुषुप्तिकाल में निखिल बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों का लय होने से केवल तमोगुणप्रधान अज्ञानोपहित हुआ पुरुष अपने सुखरूप में स्थित हो जाता है, यह कैवल्यश्रुति का अर्थ है।

(३) जैसे वट के बीज में अव्यक्तरूप से वट वृक्ष स्थित है तैसे निखिल बाह्यज्ञानों के अभाव पूर्वक जो बुद्धि आदि की अज्ञान में अव्यक्तरूप से स्थिति हो जानी वही सुषुप्तिपद का वाच्य है, यह इस का अर्थ है।

(सुषुप्ति काल में चित्त का स्वकारणभूत अज्ञान में लय होता है औ समाधि में चित्त निगृहीत होता है अर्थात्—सुषुप्ति में तमोगुणप्रधान अविद्या में चित्त का लय होता है औ समाधि में अविद्यादि अनर्थ विरहित पुरुष के निजरूप में चित्त अवस्थित हो जाता है, यही सुषुप्ति से समाधि का भेद है, यह गौडपादीय वाक्य का भावार्थ है)।

एवं "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इस छान्दोग्य श्रुति में औ "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" इस बृहदारण्यक श्रुति में भी चित्तोपाधिकजीव का निजरूप में अवस्थान कथनद्वारा उपाधिभूत चित्त का लय बोधन किया है।

(उद्दालकमुनि अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रति कहते हैं कि हे सोम्य=प्रियदर्शन पुत्र! जिस काल में गाढ़निद्रा होने से पुरुष सुप्त हो जाता है तिस काल में जीव सद्रूप ब्रह्म से सङ्गत हुआ एकी भूत हो जाता है। अर्थात् अन्तःकरण का लय होने से अंतःकरणसंसर्गप्रयुक्त जीवभाव को त्याग कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यह छान्दोग्यश्रुति का अर्थ है। जैसे कामुकपुरुष प्रियरमणी से आलिङ्गित हुआ विषय सुख में मग्न हो बाहर भीतर के विषयों को नहीं परिज्ञात करता है तैसे सुषुप्ति काल में जीव भी अपने प्रज्ञानघनस्वरूप से आलिङ्गित हुआ एकीभूत हो निजस्वरूपभूत आनंद में मग्न हो बाह्य औ आभ्यंतर के पदार्थों को नहीं जानता है अर्थात् इंद्रियों का लय होने से बाह्य जाग्रत्पदार्थों का ज्ञान औ चित्त का लय होने से स्वाप्नादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है किंतु स्वरूप सुख में ही जीव मग्न रहता है, यह बृहदारण्यक श्रुति का अर्थ है (१))

सुषुप्ति में चित्तादि का लय होने से ही पुराणों में इस को नित्यप्रलय कहा गया है।

विज्ञानभिक्षु ने भी "समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" (*) इस साङ्ख्यसूत्र के व्याख्यान में सुषुप्ति में बुद्धि का लय माना है।

एवं च श्रुति-स्मृति-स्वोक्ति के संग विरोध होने से यहां पर चित्त के लय का अभाव कहना विज्ञानभिक्षु की अनवधानता ही है।

---

(१) यद्यपि इन श्रुतियों में शुद्ध ब्रह्म में ही जीव का लय निरूपण किया है तथापि अज्ञानोपहित चेतन में ही जानना, नहीं तो मुक्ति औ सुषुप्ति को समान होने से सुषुप्तों के तुल्य मुक्त पुरुषों का पुनर्जन्म, वा मुक्ति की न्याईं सुषुप्ति से पुनरुत्थानाभाव यह दो दोष प्रसक्त होंगे, विस्तर गौडपादीय आगम प्रकरण के भाष्य में देखो।

* अध्याय ५ सूत्र ११६।

जो कि(१)सूत्रकार ने सुषुप्ति को चित्त का वृत्ति कहा है उस का तात्पर्य्य यह है कि—योगमत में सत्कार्य्यवाद के अङ्गीकार से सूक्ष्मरूप से कारण में स्थित होने का ही नाम लय कहा जाता है, एवंच यद्यपि स्थूलचित्त का सुषुप्ति में अभाव है तथापि कारणभूतअविद्या रूप से वह विद्यमान ही है, तथा च कारणावस्थापन्न चित्त की वृत्ति होने से सूत्रकार ने सुषुप्ति को चित्त की वृत्ति कहा है कुछ साक्षात् नहीं।

यद्वा—जैसे निरोधसंज्ञकअसम्प्रज्ञात में चित्त का लय हो जाने पर भी निरोध को चित्त का धर्म कहा जाता है तैसे सुषुप्ति में चित्त का लय होने पर भी सुषुप्ति को चित्त की वृत्ति कहा गया है, अर्थात्—चित्त के विकाश होने से पुरुष प्रबुद्ध औ चित्त के संकोच होने से पुरुष सुप्त कहा जाता है, अतः चित्त के सद्भाव असद्भाव प्रयुक्त ही जाग्रदादि चित्त की अवस्था कही जाती हैं, तथा च चित्त के असद्भावप्रयुक्त होने से निरोधवत् सुषुप्ति भी चित्त की वृत्ति जाननी।

यद्वा कारणभूत अविद्यापदवाच्य प्रकृति औ कार्य्यभूत चित्त को एकमान कर सुषुप्ति को चित्त की वृत्ति कहा है । कार्य्यकारण को अभिन्न मानने सेही किसी स्थल में प्रधानपुरुष के अविवेक को औ किसी स्थल में बुद्धिपुरुष के अविवेक को बंध का हेतु (२) इस शास्त्र में निर्दिष्ट किया है।

विज्ञानभिक्षु ने भी ५८ साङ्ख्यसूत्र के व्याख्यान में स्थूल सूक्ष्म भेद से बुद्धि को दो प्रकार की मानकर (जहां बुद्धि के अविवेक से बन्ध कहा है वहां भी कारणावस्थापन्न सूक्ष्मबुद्धि का ग्रहण कर प्रकृति ही ग्रहण करनी) इस प्रकार कारण कार्य्य का अभिन्न निर्देश माना है (३)।

जो कि यहकहा था कि—(साक्षी को अपरिणामी होने से उस को भासकत्व कैसे) सो भी शाङ्करमत के अज्ञानपूर्वक ही है क्योंकि यदि वेदान्ती केवल चेतन को भासक मानते तो ज्ञानरूप क्रिया का आधार होने से चेतन परि-

(१) यदि सुषुप्ति में चित्त का लय मानते हो तो सूत्रकार ने सुषुप्ति को चित्त की वृत्ति क्यों कहा ? इस आशङ्का के वारणार्थ स्वामी जी सूत्रकार का तात्पर्य्य निरूपण करते हैं (जोकि) इत्यादि ग्रन्थ से ।

(२) द्वितीय पाद के १९ सूत्र में भाष्यकारों ने प्रधान पुरुष के संयोग को बन्धकारण कहा, औ १७ सूत्र में बुद्धि पुरुष के संयोग को बन्ध का हेतु कहा है एवं अन्यत्र भी बहुत स्थान में है।

(३) एवंच श्रुतिस्मृतियों के संग अविरोध के लिये यह पूर्वोक्त युक्तिघटित मदुक्त कल्पना ही समीचीन जाननी, यह स्वामी जी का भाव है।

णामी कहा जाता पर सो वह मानते नहीं क्योंकि अविद्यावृत्ति द्वारा ही चेतन को वह भासक मानते हैं, तथा च साक्षात् क्रिया का आधार न होने से पुरुष अपरिणामी ही है कुछ भासक होने से परिणामी नहीं हो सकता, (१)

यदि यह कहो कि–(अविद्या की वृत्ति को द्वार मानने से साक्षिभास्य कैसे ?) तो यह भी शाङ्करमत के अज्ञान प्रयुक्त है क्योंकि अविद्यावृत्ति से विना ही जिसका चेतन प्रकाश करे कुछ उसका नाम साक्षिभास्य नहीं है किन्तु इन्द्रिय अनुमानादि प्रमाण से विना केवल वृत्तिमात्र द्वार से ही जिस का प्रकाश करता है वह साक्षिभास्य कहा जाता है, अत एव साक्षिभास्य स्थल में पद्मपादाचार्य्य ने (अहं अहं) इत्याकार अन्तःकरण की वृत्ति मानी है, एवं सर्वज्ञमुनि ने भी प्रातिभासिक (मिथ्यारजतज्ञान) स्थल में रजताकार अविद्या की वृत्ति मानी है।

इस प्रसङ्गागत विचार से यह सिद्ध हुआ कि–अज्ञान तथा सुख को विषय करनेवाली जो कारणावस्थापन्न सूक्ष्मचित्त की वृत्ति वह निद्रापद का वाच्य है।

आशङ्का—यथा नैयायिकादि सुषुप्ति अवस्था में निखिल ज्ञान का अभाव मानते हैं तथा आप भी निरोध की न्याईं वृत्तियों का अभाव ही सुषुप्ति में क्यों नहीं मानते ?

समाधान—यदि सुषुप्ति में निखिल वृत्तियों का अभाव माना जायगा तो निद्रा से उत्थित प्रबुद्ध पुरुष को जो यह स्मरण होता है कि (सुख से मैंने शयन किया औ कुछ भी मैंने वहां नहीं जाना) सो अनुपपन्न होगा क्योंकि यह नियम है कि–जिसका संस्कार अन्तः करण में स्थित रहता है उसी पदार्थ का पुरुष को स्मरण होता है अन्य का नहीं औ संस्कार विना ज्ञान से उत्पन्न नहीं हो सकता, एवं च प्रबुद्धपुरुषनिष्ठ स्मरणज्ञान द्वारा यह अनुमान हुआ कि–सुषुप्तिकाल में सुख औ ज्ञानाभाव विषयक इस को ज्ञान था, सो ज्ञान कारणावस्थापन्न सूक्ष्मचित्त की वृत्ति वा अविद्या की वृत्तिस्वरूप है (२) क्योंकि अन्यज्ञान का वहां संभव नहीं है, तथा च सुखाद्याकार वृत्ति की विद्यमानता से वहां वृत्ति का अभाव मानना अयुक्त है, । यहां पर इतना विशेष यह भी जानलेना कि–जिस निद्रा में सत्वगुण के लेश सहित तमोगुण का प्रचार होता है उस निद्रा से उत्थित पुरुष को (सुख से मैंने शयन किया, मन भी मेरा

(१) एवंच सुखादिज्ञानजन्य संस्कार को अविद्यानिष्ठ होनेसे पुरुष अपरिणामी है यह सिद्ध हुआ।

(२) यहां इतना विशेष है कि–सुषुप्ति में वह ज्ञान चित्तवासनावासितअज्ञान की वृत्ति है औ जागरण में वह चित्तरूप से परिणत अज्ञान की वृत्ति है. ।

प्रसन्न है, औ प्रज्ञा भी स्वच्छ है) इस प्रकार ज्ञान होता है। औ जिस निद्रा में रजोगुण केलेश सहित तमोगुण का संचार होता है तिस निद्रा से प्रबुद्धपुरुष को (दुःखपूर्वक मैं सोया, औ मन भी मेरा अकर्मण्य (ढीला) है क्योंकि स्थित न होकर निरन्तर भ्रमण कर रहा है) इस प्रकार ज्ञान होता है। औ जिस निद्रा में केवल तमोगुण का ही प्राबल्य होता है उस निद्रा से उत्थित पुरुष को (मैं खूब गाढ़ निद्रा से मूढ होकर सोया, औ शरीर भी मेरा भारी है, औ चित्त भी मेरा थकित पुरुष के तुल्य अलसयुक्त है क्योंकि बद्ध तस्कर के तुल्य स्तब्धीभूत है) इस प्रकार ज्ञान होता है। यदि सुषुप्ति कालिक सुखादि विषयों का अनुभव नहीं माना जायगा तो यह तीन प्रकारका जो प्रबुद्ध पुरुष को स्मरण वह अनुपपन्न होगा।

अर्थात् यह तीन प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक तो है नहीं, किन्तु स्मृतिरूप है सो स्मृति अज्ञात विषय की हो नहीं सकती अतः निद्रा को वृत्त्यभाव न मान कर वृत्तिविशेष ही मानना उचित है।

इस पूर्व विचार से जो कि नैयायिकों को यह भ्रम था कि-(सुषुप्ति में ज्ञानसाधन इन्द्रियों के अभाव से औ प्रबोधकाल में स्मरण के न होने से सुषुप्ति में निखिलज्ञानों का अभाव होता है) सो भी उच्छिन्न हुआ क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से यह दोनों हेतु असिद्ध (१) हैं।

यद्यपि विक्षेपजनक होने से प्रमाणादि वृत्तियां ही योग की विरोधिनी हैं कुछ निद्रावृत्ति नहीं क्योंकि, निद्रा को एक प्रकार की एकाग्रता होने से यह योग का प्रतिपक्षीभूत नहीं है, तथापि तमोगुणप्रधान से निद्रा को भी सबीज निर्बीज समाधि का प्रतिपक्षीभूत होने से इतरवृत्तियों की तरह यह भी निरोधनीय (निरोध करने योग्य) ही है, अतएव निरोध करने योग्य वृत्तियों में सूत्रकार ने इस की परिगणना कियी है।

गौडपादाचार्य्य ने भी "उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः, सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा" इत्यादि वचनों से निद्रावृत्ति का निग्रह ही योगी के प्रति कर्तव्य उपदेश किया है।

(विषयभोग में प्रवृत्ति द्वारा विक्षिप्त जो चित्त औ श्रम के अभाव से निद्राप्राप्त प्रसन्न जो चित्त इन दोनों का ही अभ्यासादि उपाय से निग्रह करना उचित है क्योंकि यथा विक्षिप्त चित्त अनर्थ का हेतु है तथा लयसे प्रसन्नता

---

(१) सुषुप्ति में अविद्या की वा सूक्ष्मचित्त की वृत्ति मानने से ज्ञानसाधन का अभाव रूप हेतु असिद्ध है, स्मरणसद्भाव से स्मरणाभावरूप हेतु असिद्ध है।

को प्राप्त भी चित्त अनर्थ जनक है, यह गौडपादीय वाक्य का अर्थ (१) है १०॥
इदानीं क्रमप्राप्त स्मृति वृत्ति का लक्षण कहते हैं—

सू० अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

भाषा—(अनुभूतविषय) प्रथम किसी ज्ञान का गोचर हो चुका जो विषय, उस का जो फिर (असम्प्रमोष) चित्त में आरोह पूर्वक तन्मात्रविषयक ज्ञान वह स्मृति है ।

अर्थात्—प्रत्यक्षादिप्रमाण द्वारा अनुभूत (ज्ञातहुये) विषय का जो फिर उद्बोधक सन्निधान से संस्कारद्वारा चित्त में स्फुरण, वह चित्त का परिणाम-विशेष स्मृति पद का वाच्य है ।

तात्पर्य्य यह है—कि जब कोई वस्तु दृष्ट वा श्रुत होता है तब अवश्य ही एकप्रकार का चित्त में तदाकार संस्कार अङ्कुरित हो जाता है फिर जब किसी समय में उद्बोधक सामग्री (२) के उपस्थित होने पर वह चित्तवर्ती संस्कार प्रफुल्लित हो जाता है तब वह ज्ञात हुये पदार्थ के आकार से चित्त को रञ्जित कर तदाकार ही चित्त का परिणाम कर देता है, यह जो ज्ञात पदार्थ-विषयक चित्त का तदाकार परिणाम वही स्मृति वा स्मरण पद का वाच्य है ।

यद्यपि चित्त में अनेक प्रकार के संस्कार विद्यमान रहते हैं तथापि जिस की उद्बोधकसामग्री संवलित होती है वही संस्कार स्मरण को उत्पन्न करता है अन्य नहीं, सो उद्बोधक सामग्री कहीं चित्त की एकाग्रता औ कहीं अभ्यास औ कहीं सहचारज्ञानादि हैं, (३) औ कहीं स्नेह ही उद्बोधकसामग्री है जैसा कि (सो मेरी माता) यह स्मरण है ।

---

(१) सुषुप्ति में सबीज अज्ञानोपहित चेतन में चित्त लीन होता है औ समाधि में शुद्ध निर्बीज ब्रह्मरूप से अवस्थित होता है, इस से लय से निवृत्त कर शुद्धब्रह्मस्वरूप में अव-स्थिति का संपादन करना ही योगी के लिये परम कर्तव्य है, यह इसका भाव है ।

(२) माता पिता के स्मरण में राग (प्रीति) उद्बोधकसामग्री है, औ शत्रु-विषयक स्मृति में द्वेष उद्बोधक सामग्री है, औ पढ़े हुये के याद आने में अभ्यास उद्बो-धक सामग्री है, एवं अन्य भी ऊहापोह से जानलेना ।

(३) जैसे किसी पुरुष ने पूर्व रथसहित सारथि देखा हो औ फिर कहीं केवल सारथि ही दृष्टि गोचर हो जाय तो वह सारथि का ज्ञान ही उद्बोधक हुआ उस को रथ का स्मरण करा देता है, इसी को सहचारज्ञान कहते हैं, उद्बोधक सामग्रियों की सङ्ख्या औ संज्ञा न्यायदर्शन में निर्दिष्ट हैं, जिसे देखना होय वह स्वामी जी निर्मित न्यायदर्शन-प्रकाश के तृतीयाध्याय द्वितीयाह्निक के ४४ सूत्र के विवरण में देखले ।

अनुभव से स्मृति में इतना ही भेद है कि अनुभव अज्ञातवस्तुविषयक होता है औ स्मृति ज्ञातवस्तुविषयक होती है क्योंकि स्मृति का यह नियम है कि–जितना विषय अनुभव ने प्रकाशित किया है उस विषय से अधिक विषय का यह प्रकाश नहीं करती है क्योंकि यदि अधिक विषय का यह प्रकाश करेगी तो यह भी अज्ञात विषय का प्रकाश करने से अनुभव ही हो जायगी, इसी के बोधनार्थ ही सूत्रकार ने (असम्प्रमोप) यह पद दिया है।

तहां (मुषस्तेये) इस धातु से निष्पन्न होने से सम्प्रमोपनाम तस्करता (चोरी) का है औ असम्प्रमोप नाम तस्करता के अभाव का है, जैसे लोक में पुत्र अपने पिता की वस्तु से भिन्न किसी अन्य की वस्तु ग्रहण करने से ही चौर कहाजाता है कुछ पितृस्वत्वग्रस्त वस्तु के ग्रहण से नहीं, तैसे स्मरणज्ञान भी अपने पिता * अनुभव कर प्रकाशित से अन्य किसी विषय का प्रकाश करने से ही संप्रमोप (चोरी) वाला कहा जायगा कुछ अनुभव-प्रकाशित विषय का प्रकाश करने से नहीं, सो स्मरणज्ञान अनुभूत विषय से अधिक विषय का प्रकाश करता नहीं अतः यह भी संप्रमोप से रहित ही है, यह अनुभूत विषय से अधिक विषय का प्रकाश न करना ही स्मृति में असम्प्रमोप है।

यहां पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि–असंप्रमोप पद से अधिक विषय का न ग्रहण करना इसी अर्थ का लाभ होता है कुछ न्यूनविषय का ग्रहण नहीं करणा इस अर्थ का लाभ नहीं होता है, एवं च जहां (सो मेरी माता) इस प्रकार स्मरण न हो कर केवल (हाय-मेरी माय) इस प्रकार प्रमुष्टतत्ताक (१) स्मरण होता है वहां भी लक्षण समन्वय हुआ क्योंकि यहां पर तत्तारूप 'सो' इस अंश का संप्रमोप होने से यद्यपि अनुभव से यह न्यूनविषयक है तथापि अधिक विषय का ग्रहण न करने से असंप्रमोप यहां पर विद्यमान ही है।

एवं च जो विज्ञानभिक्षु ने इस लक्षणसमन्वय को न जानकर प्रमुष्टतत्ताकस्मरण को अनुभवमाना है वह अदार्शनिकता का चिन्ह है क्योंकि कोई भी दार्शनिक प्रमुष्टतत्ताकस्मरण को अनुभव नहीं मानते हैं।

आशङ्का—चित्त जो स्मरण करता है सो प्रत्ययमात्र (ज्ञानमात्र) का ही

(*) स्मरण ज्ञान को संस्कारद्वारा अनुभव जन्य होने से स्मरणज्ञान भी अनुभव का पुत्र ही है अतएव अनुभव को पिता कहा है, ।

(१) सो मेरी माता इस स्मरण में जो (सः) यह अंश है वह (तत्ता) इस नाम से व्यहृत होता है औ जहां इस तत्ता का प्रमोप (अभाव) होता है वह स्मरण प्रमुष्टतत्ताक पद का वाच्य होता है।

स्मरण करता है वा ग्राह्यमात्र (विषयमात्र) का स्मरण करता है वा ग्राह्य-ग्रहण (विषय औ ज्ञान) इन दोनों का ही * स्मरण करता है ?

समाधान—यद्यपि ज्ञानविषयक अनुभव के अभाव से विषय का ही स्मरण होना संभव है तथापि पूर्व अनुभव को ग्राह्य-ग्रहण उभयाकार विशिष्ट होने से तज्जन्य संस्कार भी उभयआकार संयुक्त हुआ ग्राह्यग्रहण उभयस्वरूप ही स्मृति को उत्पन्न करता है कुछ एकविषयक नहीं, अतः ज्ञानसंबद्ध विषय का ही स्मरण होता है न केवल ज्ञान का औ न केवल विषय का ।

तात्पर्य्य यह है कि—अनुभव-संस्कार-स्मरण यह तीनों समान ही आकार से भान होते हैं विभिन्न आकार से नहीं, औ (मैं घट विषक ज्ञान वाला हूं) इस अनुभव में घट औ घटज्ञान इन्ह दोनों का ही भान होता है तो इस अनुभव जन्य संस्कार भी दोनों विषयक ही मानना पड़ेगा, एवं च इस संस्कार से जन्य स्मृति को भी उभयविषयक ही होना उचित है एक विषयक नहीं ।

तथा च यह फलित हुआ कि—ग्राह्य औ ग्रहण इन्ह दोनों का ही स्मृति प्रकाश करती है कुछ एक एक का नहीं ।

सो यह स्मृति दो प्रकार की है एक भावितस्मर्तव्या अर्थात् मिथ्यापदार्थ-विषयक, जो कि स्वप्नावस्था में होती है औ एकअभावितस्मर्तव्या अर्थात् यथार्थ पदार्थ को विषय करने वाली जो कि जागरण काल में होती है ।

यद्यपि (१) स्वप्न मानस विपर्य्ययज्ञानविशेष ही है कुछ स्मृति नहीं क्योंकि स्मृति मानने से जो यह स्वप्न में ज्ञान होता है कि (यह अश्व धावन करता है) सो अनुपपन्न होगा क्योंकि यह ज्ञान प्रत्यक्ष स्थल में ही संभव हो सकता है स्मृतिस्थल में नहीं, स्मृतिस्थल में तो (सो अश्व) इस प्रकार ही ज्ञान का होना उचित है क्योंकि यही स्मृति का आकार है, एवं स्वप्न से अनन्तर प्रबुद्ध पुरुष को जो यह स्मरण होता है कि (मैंने राजा को देखा) सो भी अनुपपन्न होगा क्योंकि स्मृतिवादी के मत में (मैंने अमुकराजा का स्मरण किया) इस प्रकार के ही स्मरण का संभव हो सकता है अन्य प्रकार का नहीं,

एवं च स्वप्न को स्मृति न मानकर स्वप्न में नूतन ही प्रातिभासिक (मिथ्या)

(*) यद्यपि भाष्यकारों ने (किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहो स्विद् विषयस्य) इस भाष्य से दो ही विकल्प किये हैं तथापि उभयग्रहण का सिद्धान्त करने से तीसरा विकल्प भी भाष्यकारों को अभिप्रेत है, इस आशय से तृतीय विकल्प का भी उपन्यास किया गया है, यह जानना ।

(१) श्रुतिआदिकों के संग अविरोध के लिये स्वप्न को स्मृति प्रतिपादक भाष्य के तात्पर्य्य निरूपणार्थ विचारान्तर का उत्थापन करते हैं (यद्यपि) इत्यादि से, ।

पदार्थों की मनोमयी रचना औ मिथ्या ही उन का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यही मानना समीचीन है।

अत एव बृहदारण्यक उपनिषद् में (न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते) (१) इस श्रुति से नूतन ही प्रातिभासिक सृष्टि की उत्पत्ति निरूपण कियी है,

तथापि स्मृतिवत् (स्मृति की तरह) स्वप्नज्ञान को भी संस्कारजन्य होने से संस्कारजन्यत्व रूप सादृश्य को आश्रयण कर (२) ही भाष्यकारों ने स्वप्न को स्मृति कहा है कुछ वस्तुगत्या वह स्मृति नहीं है यह जान कर विरोधका परिहार करलेना। अतएव इसभाष्य के व्याख्यान में वाचस्पति मिश्र ने (यह स्वप्न स्मृति नहीं है किन्तु विपर्य्यय लक्षण युक्त होने से विपर्य्य ही है स्मृति के तुल्य प्रतीत होने से भाष्यकारों ने स्मृति कहा है कुछ वस्तुगत्या नहीं) (३) इस प्रकार स्वप्न को विपर्य्यय ज्ञान ही माना है स्मृति नहीं।

जो कि शारीरकभाष्य में शङ्कराचार्य्य जी ने (४) स्वप्न को स्मृति कहा है सो भी इसी अभिप्राय से ही जानलेना।

यह* पूर्वोक्त स्मृतिज्ञान प्रमाण विपर्य्यय विकल्प–निद्रा स्मृति संज्ञक वृत्तियों के अनुभव से ही उत्पन्न होता है स्वतन्त्र नहीं, अतएव निखिल वृत्तियों के अन्त में इस का निरूपण किया गया है।

यह (५) निखिल ही प्रमाणादि वृत्तियां सुख दुःख मोह स्वरूप हैं औ सुख–दुःख-मोह क्लेशस्वरूप हैं † अतः इन वृत्तियों का निरोध ही करना उचित है। यद्यपि सूत्रकार ने राग-द्वेष-अविद्यादि को ही क्लेश कहा है कुछ

(१) तिस स्वप्नावस्था में न रथ ही हैं औ न रथयोग (अश्व) ही हैं औ न रथचलने का मार्ग ही है परन्तु नूतन ही रथ–अश्व–मार्ग का जीव सर्जन कर लेता है यह इस श्रुति का अर्थ है।

(२) असन्निहितविषयक होने से भी स्वप्न औ स्मृति दोनों सदृश हैं।

(३) ("नेयं स्मृतिरपि तु विपर्य्ययः तल्लक्षणोपपन्नत्वात् स्मृत्याभासतया तु स्मृतिरुक्ता) यह वाचस्पति मिश्र का लेख है,

(४) द्वितीयाध्याय २ पाद के २९ सूत्र का भाष्य देखो।

(*) प्रसङ्गप्राप्त विचार को समाप्त कर इदानीं प्रकृत का अनुसरण करते हैं।

(५) जिन क्लेशों से पुरुष दुःखित होता है उन्हीं का निरोध करना पुरुष को उचित हो सकता है कुछ प्रमाणादि वृत्तियों का नहीं क्योंकि यह सब क्लेशजनक नहीं हैं इस आशङ्का का वारण करते हैं (यह) इत्यादि से —

(†) सात्विक राजस तामस वृत्तियों का यथाक्रम सुखदुःख मोह यह नि[illegible] है।

सुख-दुःख-मोह को नहीं तथापि सुख दुःख को रागद्वेप का जनक होने से वह भी क्लेशजनकत्वरूप धर्म से क्लेश ही जानने, अतएव सूत्रकार द्वितीयपाद में (सुखानुशयी रागः , दुःखानुशयी द्वेपः) इन दोनों सूत्रों से सुख दुःख को क्लेशजनक कहेंगे, मोह औ अविद्या को एक होने से मोह भी क्लेश ही हैं, तथा च क्लेशजनक सुखदुःखमोहस्वरूप होने से यह निखिलवृत्तियां अवश्य ही निरोध करने योग्य हैं यह फलित हुआ।

इन पांच प्रकार की वृत्तियों का निरोध होने से ही सम्प्रज्ञातयोग औ तद्द्वारा असम्प्रज्ञातयोग का लाभ होता है ॥ ११ ॥

पूर्व प्रकरण से निरोधनीय वृत्तियों का निरूपण कर इदानीं (इन वृत्तियों के निरोध में कौन उपाय है) इस आशङ्का के शमनार्थ जिन उपायों के सेवन से वृत्तियों का निरोध होता है उन उपायों का प्रतिपादक सूत्र उच्चारण करते हैं-

सू० अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

भाषा—(अभ्यासवैराग्याभ्याम्) वक्ष्यमाणलक्षण अभ्यास औ वैराग्य से (तन्निरोधः) तिन पूर्वोक्त वृत्तियों का निरोध (रुकावट) होता है।

अर्थात्—चित्तवृत्ति निरुद्ध करने के दो उपाय हैं एक अभ्यास औ एक वैराग्य, तहां स्वाभाविक जो चित्त की वाहिर्मुखप्रवाहशीलता सो वैराग्य द्वारा निवृत्त होती है औ अभ्यासवल से आत्मोन्मुख जो आन्तरिकप्रवाहशीलता वह स्थिर होजाती है।

भाव यह है कि—चित्तनामक (१) नदी के दो प्रवाह हैं एक तो कल्याणवह औ द्वितीय पापवह, तहां जो प्रवाह आत्मानात्मविवेक रूप मार्ग से वहता हुआ कैवल्यपर्य्यन्त विश्रान्त होता है वह कल्याणवह कहा जाता है औ जो प्रवाह अविवेकरूप मार्ग से वहता हुआ विपयभोगपर्य्यन्त विश्रान्तिशील होता है वह पापवह कहा जाता है। इन दोनों में से जो विपयभोगरूप पापवह प्रवाह वह विपयदोपदृष्टिरूप वैराग्य से निरुद्ध होता है औ विवेकरूप जो कल्याणवह प्रवाह वह विवेकज्ञाना ऽभ्यास से उद्घाटित होता है, इस प्रकार अभ्यासवैराग्य यह दोनों मिलकर वृत्तिनिरोध के उपाय हैं, अतः इन दोनों के अधीन ही चित्तवृत्ति का निरोध है।

अर्थात्—यथा तीव्रवेगवाला नदी का प्रवाह प्रथम सेतुबन्धन द्वारा मन्द-

---

(१) चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी) इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये अभ्यास वैराग्य इन दोनों का कर्तव्य भेद से समुच्चय प्रदर्शन करते हैं (चित्तनामक) इत्यादि से।

वेग संपादन कर फिर कुल्याद्वारा क्षेत्र के उन्मुख तिर्य्यक् (तिरछा) प्रवाहवाला संपादन किया जाता है तथा चित्त नदी का विषयप्रवाहरूप वेग भी प्रथम वैराग्यद्वारा निवारण कर फिर अभ्यासद्वारा विवेकोन्मुख किया जाता है, एवं च समाधि के उत्पादन में अभ्यास वैराग्य इन्ह दोनों का समुच्चय ही जानना कुछ (अभ्यास से वा वैराग्य से चित्तका निरोध होता है) इस प्रकार विकल्प मत जानना, इसी से ही भगवान् ने "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते " इस वाक्य में समुच्चय वोधक चकार का उपादान किया है।

सूत्रकार ने भी (अभ्यासवैराग्याभ्यां) इस प्रकार समासघटित पद के उपादान द्वारा यही वोधन किया है क्योंकि विकल्प अर्थ में एतादृश समास का संभव नहीं है।

यद्यपि केवल वैराग्य से ही बाह्यप्रवृत्तिनिरोध पूर्वक चित्त की अन्तर्मुखता हो सकती है तथापि अन्तर्मुखता की स्थिरता के लिये अभ्यास भी अपेक्षित है क्योंकि विना स्थिरता से चित्त एकाग्र नहीं होगा।

यद्यपि सूत्रकार ने प्रथम अभ्यास ही का उपादान किया है तथापि योग्यतानुसार कार्य्यानुरोध से प्रथम वैराग्य ही उपादेय जानना (१)

अभ्यास औ वैराग्य की क्षमता (सामर्थ्य) सर्वापेक्षया अधिक औ विलक्षण है यह अग्रिम दोनों सूत्रों की व्याख्या में कहा जायगा ॥ १२ ॥

इन दोनों उपायों में से प्रथमनिर्दिष्ट अभ्यास का लक्षण कहते हैं—

सू० तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

भाषा—(तत्र) तिस पूर्वोक्त निरोध में (स्थितौ) चित्त की स्थिरता के निमित्त, जो (यत्न) मानस उत्साह पूर्वक यमादि अङ्गों का अनुष्ठान वह (अभ्यासः) अभ्यास कहा जाता है।

अर्थात्—राजसतामसवृत्तिरहित चित्त की जो प्रशान्तवाहिता (सात्विकवृत्तिप्रवाहशीलतारूप विमलतासंज्ञक स्थिति) तिस स्थिति के संपादनार्थ जो मानस उत्साहपूर्वक दृढ़ होकर यम नियमादि अङ्गों के अनुष्ठान में तत्परतारूप यत्न वह अभ्यास पद का वाच्य है

यह अभ्यास ही स्थिरता को संपादन कर चित्त को एकाग्र कर देता है, यह भी एक अद्भुतशक्तिविशेष अभ्यास में ही पाया जाता है जो कि असाध्य कार्य्य

---

(१) भाव यह है कि-जब तक वैराग्य से चित की अन्तर्मुखता नहीं होगी तब तक अभ्यास निरर्थक ही है क्योंकि अन्तर्मुखता की स्थिरता के अर्थ ही अभ्यास अपेक्षित है जो अन्तर्मुखता वैराग्य से बिना असाध्य है, अतः वैराग्य ही प्रथम अनुष्ठेय है।

भी इस के बल से वशीभूत हो जाते हैं देखिये जिस विष * अहिफेन प्रभृति के भक्षण से पुरुष मृत वा मूर्छित हो जाते हैं उन विषादि के सेवनाऽभ्यासी उन को वशीभूतकर लेते हैं प्रत्युत विषादि के न सेवन से ही वह मृतप्राय हो जाते हैं, इसी प्रकार जब मुमुक्षु भी चित्त स्थिरता के अर्थ अभ्यास निष्ठ होंगे तो वह स्थिरता भी उस के अवश्य ही वशीभूत हो जायगी, क्योंकि दुःसाध्य को सुसाध्य कर देना कुछ अभ्यास के आगे दुष्कर नहीं है ॥ १३ ॥

इदानीं जिसप्रकार यह अभ्यास दृढ़मूल हुआ अनादिकाल से प्रवृत्त विषयवासनाजनित व्युत्थानसंस्कार का बाधक होता है वहप्रकार उपदेश करते हैं—

सू० स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य्य-सत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

भाषा—(स तु) सो यह पूर्वोक्त अभ्यास (दीर्घकाल) बहुतकालपर्य्यन्त (नैरन्तर्य्य) व्यवधान रहित (सत्कारासेवित) ब्रह्मचर्य्य-श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनुष्ठित हुआ (दृढभूमिः) दृढ अवस्था वाला हो जाता है ।

अर्थात्—यदि यह अभ्यास तितिक्षा-ब्रह्मचर्य्य-श्रद्धापूर्वक ओङ्कारादि जपरूप विद्या से आदृत हुआ निरन्तर अनुष्ठान किया जायगा तो फिर यह अभ्यास दृढावस्थावाला हुआ कदापि व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होगा प्रत्युत उन्हों के ही तिरस्कार करने में यह प्रवृत्त हो जाय गा ।

भाव यह है (१) कि—अनादिकाल से ही यह चित्त विषयभोगवासनाजन्य व्युत्थान संस्कारों से चञ्चलता का ही अभ्यास करता चला आता है इस से चञ्चलता चित्त का एकस्वभावभूत धर्म ही हो गया है सो यह स्वभावभूत चञ्चलता आगन्तुक अल्पकालसाध्य किसी उपाय से निवृत्त होनी असम्भव है, अतः जिस उपाय से चञ्चलता पराभूत हो जाय औ स्थिरता चित्त का स्वभावभूत धर्म हो जाय वह उपाय ही योगलिप्सु को उपादेय है, औ एतादृश उपाय अभ्यास की दृढ़ता के सिवाय अन्य कोई देखने में आता नहीं, अतःबहुकाल पर्य्यन्त अभ्यास का अनुष्ठान करना ही एक स्थिरता का मुख्य उपाय है, बहुकाल करने पर भी यह नहीं है कि चलो दिन में एक दो

(*) (विष) संखीया, (अहिफन) अफीम, आदि शब्द से गाञ्जा प्रभृति का ग्रहण कर लेना ।

(१) अनादिकाल से प्रवृत्त चञ्चलता के प्रवाह को आधुनिक अभ्यास कैसे पराभव कर सकता है इस आशङ्का का वारण करते हुये सूत्र–भाष्य का तात्पर्य्य कहते हैं (भाव यह है) इत्यादि ।

यहां (१) पर वशीकारसञ्ज्ञक वैराग्य के कथन से अन्य पूर्वभावी वैराग्य त्रय का भी ग्रहण जान लेना क्योंकि उन तीनों के बिना वशीकार वैराग्य का होना असम्भव है।

भाव यह है कि—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार भेद से वैराग्य की चार संज्ञा हैं, तहां (चित्तवर्ती राग द्वेषादि मल ही इन्द्रियों को अपने २ विषयों में प्रवृत्त कराते हैं सो यह रागादिमल इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न करें तो श्रेष्ठ होय) इस विचार से जो रागादिमल की निवृत्ति के लिये मैत्री-आदि (२) भावना का अनुष्ठान करना वह वैराग्य यतमानसंज्ञा (३) नाम से व्यवहृत होता है।

औ मैत्रीआदि भावना के सेवन करते २ जो चिंकित्सक वत् पक्व औ अपक्व मलों का व्यतिरेकनिश्चय (इतने चित्तमल निवृत्त हो चुके हैं औ इतने निवृत्त होने वाले हैं औ यह निवृत्त हो रहे हैं इस प्रकार निवृत्त औ विद्यमान चित्त-मलों का जो पृथक् २ रूप से ज्ञान) वह व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य कहा जाता है (४) औ जब निवृत्त हुये चित्तमल इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति करने में असमर्थ होकर केवल चित्तमात्र में ही अवस्थित हुये कुछ २ विषयों में उत्कण्ठित रहते हैं तब वह वैराग्य की तृतीयावस्था एकेन्द्रियसंज्ञा पद से वाच्य होती है।

जब फिर विवेकबल से निखिल विषयों में उपेक्षा बुद्धि होने से वह उत्कण्ठा भी निवृत्त हो जाती है तब वह वैराग्य की तुरीयावस्था वशीकारसंज्ञा पद से व्यवहृत होती है।

यह वैराग्य की तुरीयावस्था ही सूत्रकार ने निर्दिष्ट कियी है, औ यह अवस्था ही अपर वैराग्य की सीमा है, औ इसी क्रम से ही इस की उत्पत्ति होती है।

एवं च यहां वशीकारसंज्ञक वैराग्य के कथन से पूर्वभावी तीन वैराग्य

---

(१) अपरवैराग्य को चारप्रकार का होने से सूत्रकार ने एक ही प्रकार क्यों कहा, इस के समाधानार्थ कहते हैं (यहां पर) इत्यादि।

(२) मैत्री आदि भावना का निरूपण इस पाद के ३३ सूत्र में होगा, जिसप्रकार मैत्री आदि भावना से रागादिमल निवृत्त होते हैं वह प्रकार भी इसी सूत्र के व्याख्यान में प्रदर्शन किया जायगा।

(३) गुरुमुख से शास्त्रद्वारा संसार में सार-असार का निश्चय करने के लिये जो उद्योग वह भी यतमान ही जानना।

(४) निवृत्तमलों से विद्यमानमलों को पृथक् जानकर उन्ह की निवृत्ति करना ही व्यतिरेक वैराग्य का फल है।

भी अर्थ से लब्ध हुये (१) क्योंकि उनतीनों के विना इस की उत्पत्ति का असम्भव है ॥ १५ ॥

इस प्रकार सम्प्रज्ञातयोग के साधनभूत अपरवैराग्य का लक्षण प्रतिपादन कर इदानीं सम्प्रज्ञातसमाधि का फलभूत औ असम्प्रज्ञातसमाधि का कारण जो परवैराग्य उस का लक्षण कहते हैं—

सू० तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

भाषा—(पुरुषख्यातेः) विवेकज्ञान के उदय से, जो (गुणवैतृष्ण्यम्) गुणकार्य्य विवेकज्ञान में भी तृष्णा का अभाव (तत्परम्) वह परवैराग्य कहा जाता है।

अर्थात्—ऐहिकपारलौकिक विषयों में दोषदृष्टि द्वारा विरक्त हुये चित्त में जो गुणस्वरूप प्रकृति से भिन्नरूपता से पुरुष (निजरूप) का साक्षात्काररूप पुरुषख्याति * तिस पुरुषख्याति से जो गुणवैतृष्ण्य (समाधि के फल भूत विवेकख्याति में भी तृष्णा का अभाव) वह परवैराग्य कहा जाता है।

भाव यह है कि—सम्प्रज्ञातसमाधि में विद्यमान ध्येयाकारवृत्ति के निरोध के लिये जो उस में वैरस्यज्ञान अर्थात् समाधि के फल में भी इच्छा का अभाव वह परवैराग्य (२) है।

इस वैराग्य को ही ज्ञानप्रसादमात्र कहते हैं क्योंकि इस में रजतमगुण का गन्धमात्र भी नहीं रहता है।

इस वैराग्य के उदय होने से ही योगी धर्ममेघसमाधिनिष्ठ हुआ अपने मन में यह मानता है कि जो हमें प्रापणीय था सो प्राप्त हुआ, औ जो क्षय करने योग्य पंचक्लेश थे सो भी मेरे क्षीण (नष्ट) हुये, औ जिस धर्मअधर्म के समूह से घटीयन्त्रवत् निरन्तर ही जन्मोत्तरमरण औ मरणोत्तरजन्म को पुरुष प्राप्त होता है सो धर्माऽधर्मसमूह भी मेरा उच्छिन्न हुआ।

---

(१)एवं च वशीकार के ग्रहण से सब का ग्रहण होने से तत्कथनाऽभाव प्रयुक्त न्यूनता दोष यहां नहीं है, यह तत्त्व है।

(*) पुरुष चेतन, शुद्ध, अनन्त है, औ प्रकृति जड, मलिन, सान्त होने से उससे भिन्न है इस प्रकार भिन्नरूपता से जो पुरुष का साक्षात्कार इसी का नाम पुरुषख्याति है।

(२)जो जो त्रिगुणात्मक बुद्धि का कार्य्य है सो सबी योगी को हेयकोटि में है औ विवेकख्याति भी सत्त्वगुणात्मक औ बुद्धि का कार्य्य है इस से यह भी त्याज्यही है इस अभिप्राय से जो उस में तृष्णा का अभाव वह पर वैराग्य है।

यह वैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा (अवधि) है औ कैवल्य भी इसी वैराग्य का अविनाभावि (१) है १६ ॥

इस प्रकार निरोध के उपायभूत अभ्यास-वैराग्य का लक्षण प्रतिपादन कर इदानीं निरुद्धचित्तवृत्ति योगी को जो सम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होता है (१) उस का अवान्तरभेद सहित स्वरूप निर्देश करते हैं।

सू वितर्कविचाराऽऽनन्दाऽस्मितास्वरूपाऽनुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

भाषा—वितर्क, विचार, आनन्द—अस्मिता नामक स्वरूपों के अनुगम (सबन्ध) प्रयुक्त जो निरोध वह निरोध सम्प्रज्ञात कहा जाता है।

अर्थात्—जिस भावना में संशयविपर्य्ययज्ञान के अभावपूर्वक यथार्थरूप से ध्येय (२) वस्तु का ज्ञान होता है उस भावनाविशेष का नाम सम्प्रज्ञात है, सो यह सम्प्रज्ञात ध्येय के भेद से वितर्कानुगत, विचाराऽनुगत, आनन्दाऽनुगत, अस्मिताऽनुगत भेद से चारप्रकार का है, इस भावनाविशेष को ही सविकल्पयोग वा सविकल्प समाधि कहते हैं।

भाव यह है कि—विषयान्तर के परिहार पूर्वक किसी ध्येय पदार्थ में वारं वार चित्त के निवेश का नाम भावना है, तिस भावना का विषयभूत जो भाव्य वह ग्राह्य ग्रहण-गृहीतृ-भेद से तीन प्रकार का है, इन तीनों में से ग्राह्य भी स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है, तहां जैसे धनुर्विद्या में निपुण होनेवाला पुरुष प्रथम स्थूललक्ष्य को वेधन कर फिर सूक्ष्मलक्ष्य के वेधन में तत्पर होता है ऐसे योगेच्छु भी पहिले स्थूलध्येय की भावना की दृढ़ता कर फिर सूक्ष्म विषय की भावना में प्रवृत्त होता है कुछ सहसा ही सूक्ष्म में नहीं।

एवं च स्थूलपञ्चभूतों विषयक वा पांचभौतिक स्थूल चतुर्भुजादि रूप विषयक जो भावना, एवं स्थूलभूतों के कारण—सूक्ष्मभूत पञ्चतन्मात्रविषयक जो भावना इन दोनों का नाम ग्राह्य भावना है, इसी को ही ग्राह्यसमापत्ति वा ग्राह्यसमाधि भी कहा जाता है।

---

(१) पर वैराग्य के उदय होने से कैवल्य प्राप्ति में कुछ भी विलम्ब नहीं होता है इस से कैवल्य वैराग्य का अविनाभावि है, जिस की सत्ता से जिस की अवश्यही सत्ता होय वह उसका अविनाभावि कहा जाता है।

(२) जिस का ध्यान किया जाता है वह ध्येय वा भाव्य कहा जाता है। भावना ध्यान, यह दोनों भी समानार्थक जानने।

तहां स्थूलविषयक भावना का नाम वितर्काऽनुगत सम्प्रज्ञात (१) औ सूक्ष्मविषयक भावना का नाम विचाराऽनुगतसम्प्रज्ञात है।

एवं सत्त्वप्रधान अहङ्कार के कार्यभूत दश इन्द्रियों विषयक जो भावना उस का नाम ग्रहणसमापत्ति वा ग्रहणसमाधि है, इसी को ही आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञात कहते हैं।

एवं इन्द्रियों के कारण अहङ्कार वा बुद्धि वा प्रकृति वा पुरुष विषयक जो भावना उस का नाम ग्रहीतृसमापत्ति वा ग्रहीतृसमाधि है, इसी का नाम अस्मिताऽनुगत सम्प्रज्ञात है।

इनचारों समाधियों में से जो प्रथम वितर्कसमाधि है वह चतुष्टयाऽनुगत है अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता इन चारों से ही युक्त हैं कारण यह कि–घटादि कार्य्य में मृत्तिका की तरह निखिलकार्य्य में कारण अनुगत रहता है, यह शास्त्र का नियम है तथाच स्थूल भूतों को पञ्चतन्मात्रों का कार्य्य होने से स्थूलभूतों में सूक्ष्मभूत अनुगत हैं, एवं पञ्चतन्मात्रों को अहंकार का कार्य्य होने से तन्मात्र द्वारा अहङ्कार भी अनुगत है, एवं अहङ्कार को बुद्धि का कार्य्य होने से अहङ्कारादि द्वारा बुद्धि भी स्थूलभूतों में अनुगत हुयी, एवंच स्थूलभूतों की भावना करने से फलतः सभी की भावना प्राप्त हुयी, अतः स्थूलभूतविषयक भावना चतुष्टयानुगत है यह सिद्ध हुआ।

एवं सविचारसम्प्रज्ञात भी त्रितयानुगत है क्योंकि इस भावना में स्थूलभूतों का भानन होने से * यह वितर्क से रहित है, एवं सानन्दसम्प्रज्ञात द्वयाऽनुगत है क्योंकि इस भावना में स्थूलसूक्ष्म भूतों का भान न होने से यह वितर्क औ विचार से रहित है, एवं अस्मिताऽनुगत (१) सम्प्रज्ञात को एका-

(१) यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि-जिस भावना में पञ्चभूतों का (कौनभूत प्रथम उत्पन्न हुया औ किस भूत में क्या धर्म है) इस प्रकार पूर्वाऽपर अनुसन्धानपूर्वक चित्त की वृत्ति विद्यमान रहती है वह भावना सवितर्क नाम से वाच्य होता है औ जिस में इस अनुसन्धान को त्याग कर केवल वस्तुमात्रविषयक चित्तवृत्ति होय वह निर्वितर्कसमापत्ति कही जाती है परन्तु यहां इन दोनों काही नाम वितर्का-ऽनुगत सम्प्राज्ञात जानना । इसी तरह सविचारनिर्विचार भी जान लेना, यह सब । ४२ । ४३ । ४४ । इन सूत्रों में स्पष्ट होगा।

(*) कार्य्य में कारण अनुगत रहता है कुछ कारण में कार्य्य नहीं इस से तन्मात्रों की भावना में स्थूल भूतों का भाननहीं होता है।

(१) यहां अस्मिता से अहङ्कार औ प्रकृति तथा अहङ्कारोपाधिक पुरुष, इन तीनों काही ग्रहण जानना।

नुगत जानना क्योंकि इस में अस्मितामात्र को त्यागकर किसी अन्य का भान नहीं होता है।

यह सब समाधियें सालम्ब औ सबीज हैं क्योंकि इन सब में किसी न किसी ध्येय का आलम्बन तथा बीजभूत अज्ञान (१) विद्यमान ही रहता है।

अत एव इन समाधियों का फल मुक्ति से भिन्न ही वायुपुराण में कथन किया है यथा —

“ दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तका, भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः, बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः, पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः, पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते” । इति ।

इन्ह श्लोकों का अर्थ—(पुरुषों के संवत्सर के प्रमाण से बीस हजार अधिक ४३ तितालीसलक्ष चारोंयुगों का प्रमाण है, औ यह चारोंयुग जब २८५६६५ वार व्यतीत होते हैं तब एक मन्वन्तर होता है।

जो पुरुष इन्द्रियों का चिंतन करता है वह पुरुष देहपात से अनन्तर दशमन्वन्तर पर्य्यन्त इन्द्रियों में लीन रहता है, औ जो पंचभूतों की भावना करता है वह शतमन्वन्तर भूतों में लीन रहता है, एवं अहंकार की भावना करने वाले सहस्रमन्वन्तर, औ बुद्धि की भावना करने वाले दशसहस्र मन्वन्तर औ प्रकृति की उपासना करने वाले शतसहस्र मन्वन्तर अर्थात् लक्ष मन्वन्तर प्रकृति में लीन रहते हैं, यह सभी ही फिर संसार में आते हैं, क्योंकि इन्हों का यही अवधि है, इस से यह सब समाधियें समाधिआभास होने से मुमुक्षुयों को हेय हैं, औ जो पुरुष असंप्रज्ञातसमाधि से स्वस्वरूपभूत निर्गुण पुरुष को प्राप्त होते हैं उन की कालसंख्या नहीं है, अर्थात् असंप्रज्ञातसमाधि वाले भवबंधन से मुक्त होकर फिर संसार में नहीं आते हैं)।

यहां प्रसङ्ग से यह भी जानलेना कि—इस पाद के ४१ सूत्र में जो समाधि के ग्राह्य—ग्रहण—ग्रहीतृसमापत्तिरूप तीन भेद कथन किये हैं उन्हीं समाधियों का ही ग्राह्य को स्थूल सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का मान यहां पर चार भेद निरूपण किये गये हैं कुछ यह मत जानना कि वह तीन अन्य हैं औ यह चार अन्य हैं, इसी से ही दोनों मिलाकर यहां हम ने निरूपण किया है ॥१७॥

इस प्रकार अपरवैराग्यजन्य सम्प्रज्ञातसमाधि का निरूपण कर इदानीं परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण कहते हैं—

सू० विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

(१) आत्मभिन्न स्थूल भूतादि अनात्मा का ध्यानकरना यहां अज्ञान है।

भाषा-(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः) पूर्वोक्त (+) भावना के विराम=अभाव का जो प्रत्यय=कारणभूत परवैराग्य तिस वैराग्य के अभ्यासपूर्वक जो संस्कारशेष=निर्वृत्तिकचित्त का अवस्थानविशेष वह (अन्यः) सम्प्रज्ञातसमाधि से भिन्न असम्प्रज्ञात है।

अर्थात्-जैसे भर्जित (भूंजाहुआ) बीज अंकुरोत्पादन में असमर्थ हुआ केवल स्वरूपमात्रशेष कहा जाता है तैसे निरुद्ध हुआ चित्त भी वृत्तिरूपकार्य्य करने में असमर्थ हुआ संस्कारमात्रशेष कहा जाता है, सो यह चित्त का संस्कारमात्रशेषरूप से अवस्थान होना कुछ अनायासलभ्य नहीं है किन्तु परवैराग्य के अभ्यास से ही प्राप्त होता है, एवं च परवैराग्य के अभ्यास से जो संस्कारशेषरूप निखिलवृत्तियों का निरोध वह संप्रज्ञात से भिन्न असम्प्रज्ञातसमाधि जानना यह फ़लित हुआ।

भाव यह है कि-जैसे सम्प्रज्ञात में किसी ध्येय का आलम्बन (आश्रयण) रहता है तैसे असम्प्रज्ञातयोग में आलम्ब नहीं रहता है अतः निर्वस्तुकविरामप्रत्यय-(निरालम्बपरवैराग्य) ही इस का उपाय हो सकता है कुछ सालम्ब अपरवैराग्य नहीं क्योंकि अर्थशून्य (१) होने से परवैराग्य ही असम्प्रज्ञात के सदृश है अपरवैराग्य नहीं।

इस परवैराग्य के अभ्यासपूर्वक ही चित्त निरालम्बन हुआ अभावप्राप्त के तुल्य हो जाता है।

इस असम्प्रज्ञात को ही निर्बीजसमाधि कहते हैं क्योंकि संसारबीजभूत अविद्यादिक्लेशों का इस दशा में अभाव हो जाता है।

इस दशा को प्राप्त हुये पुरुष ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ इस नाम से भूषित होते हैं, औ यही तुर्य्यगा नाम ज्ञान की सप्तमी भूमिका है, औ यही योग की परम काष्ठा है।

इस अवस्था में योगी का चित्त निर्वृत्तिक हो कर केवल ब्रह्मस्वरूप से

(+)विराम नाम पूर्वोक्त वितर्कादिभावना के त्याग का है औ प्रत्यय नाम कारण का है तथा च विराम का कारण भूत जो परवैराग्य तिस का अभ्यास है पूर्व (कारण जिस का वह विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्व हुआ, इसी आशय से सूत्र का अर्थ करते हैं-(पूर्वोक्त) इत्यादि।

(१) (अर्थशून्य) ध्येयरूप आलम्बन रहित, अर्थात्- कार्य्य के समान रूपवाला ही कारण बन सकता है विभिन्नरूपवाला नहीं अतः गुणवैतृष्ण्यरूप परवैराग्य ही असम्प्रज्ञात का कारण हो सकता है अपर वैराग्य नहीं क्योंकि वह विरूप है।

ही (१) अवस्थित होता है कुछ निज चञ्चलरूप से वा ध्येयाकार से नहीं, अत एव इस को निरालम्बसमाधि कहते हैं ॥ १८ ॥

सो यह पूर्वोक्त निखिलवृत्तियों का निरोध दो प्रकार का है एक उपाय-प्रत्यय अर्थात्- वक्ष्यमाण श्रद्धा आदि उपाय से जन्य, औ एक भवप्रत्यय अर्थात्- अनात्मभूत पदार्थों में आत्मत्वबुद्धि रूप अज्ञानजन्य, इन दोनों में से जो उपायप्रत्यय निरोध है वह योगियों को होता है औ यही मुक्ति का उपाय होने से मुमुक्षुओं को उपादेय (ग्राह्य) है, सो यह अग्रिम २० सूत्र से कहा जायगा, इदानीं योगियों को हेय जो भवप्रत्यय निरोध वह किन पुरुषों को होता है यह निरूपण करते हैं---

सू०--भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥२०॥

भाषा--विदेह-प्रकृतिलयों को जो वृत्तिनिरोध प्राप्त होता है वह भवप्रत्यय अर्थात् अज्ञानजन्य है ।

भव नाम संसार का आ संसारकारण अज्ञान का है (२) औ संसार नाम जन्ममरण के प्रवाह का है, तथाच भव (संसार) का जो प्रत्यय=कारण वा भव (अज्ञान) ही है प्रत्यय (कारण) जिस का वह भवप्रत्यय हुआ ।

एवं च विदेह--प्रकृतिलयों को होने वाला जो निरोध वह अज्ञानजन्य तथा जन्ममरण का कारण है, अर्थात् मुक्ति उपाय नहीं यह फलित हुआ ।

भाव यह है कि--जो पुरुष भूत औ इन्द्रियों में से किसी एक पदार्थ में आत्मत्व भावना कर उन्हीं का समाधि में आलम्बन कर ध्यान करते हैं वह विदेह कहे जाते हैं क्योंकि वह देहपात से अनन्तर भूत वा इन्द्रियों में लीन होने से देहरहित हो जाते हैं । औ जो पुरुष प्रकृति-महत्तत्त्व--अहङ्कार--पञ्चतन्मात्रों में से किसी एक पदार्थ में आत्मत्वभावना कर उन्हीं का ही समाधि में आलम्बन करते हैं वह प्रकृति लय कहे जाते हैं क्योंकि वह देहपात से अनन्तर प्रकृति में लीन हो जाते हैं ।

---

(१) " मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः असम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिर भिधीयते " । इत्यादि वचनों से वृत्तिरहित चित्त की ब्रह्मस्वरूप से अवस्थिति का नाम असम्प्रज्ञात है, यह भाव है ।

(२) " भवन्ति= जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या " इस वाचस्पतिमिश्र के लेखानुसार भव नाम अज्ञान का भी है इस आशय से कहते हैं (अज्ञान का) इति, उत्पन्न होते हैं प्राणी जिस निमित्त से वा जिस के होने से वह भव कहा जाता है, यह वाचस्पति मिश्र के वाक्य का अर्थ है। अविद्या से ही जन्म मरण होने में अविद्याही यहां भव पद का वाच्य है यह तत्त्व है ।

यह दोनों ही यावत्काल अपने २ ध्येय में लीन रहते हैं तावत्काल शरीर-इन्द्रियविषयसंयोग के अभाव से इन की चित्तवृत्तियां निरुद्ध रहती हैं, सो यह जो लयसमय में होने वाला चित्तवृत्तिनिरोध वह भवप्रत्यय है अर्थात्-प्रकृत्यादि अनात्मवस्तुविषयक आत्मत्वज्ञानरूप अज्ञान से जन्य है, औ जन्ममरण का कारण है क्योंकि अवधि से अनन्तर फिर भी संसार में इन को अवश्यः आना होता है।

किस की भावना करने वाला कियत्काल के अनन्तर लयावस्था को त्याग कर संसार में आता है यह पूर्व ९४ इस पृष्ठ में स्पष्ट है ।

यह (१) पूर्वोक्त विदेहसंज्ञक देव संस्कारमात्रशेष चित्त से लयावस्था में कैवल्य पद के सदृश (२) पद का अनुभव करते हुये फिर अवधि से अनन्तर तथाविध संस्कारविपाक (३) को अतिवाहन (अतिक्रमण) कर लेते हैं अर्थात्–फिर संसार में आ जाते हैं, एवं प्रकृतिलय भी प्रकृति में अधिकारसहित (४) चित्त के लय काल में कैवल्य पद के तुल्य पद को अनुभव करते हैं परंतु वह कैवल्य तुल्य पद का अनुभव भी तावत्कालही होता है कि यावत्काल चित्त अधिकार के बल से प्रकृति से विभिन्न होकर संसार में आगमनशील नहीं होता है।

यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि–जो विवेकज्ञानयुक्त हुआ चित्त लयभाव को प्राप्त होता है वह निरधिकार होने से संसार से विमुक्त हो जाता है औ जो चित्त विवेकज्ञान से रहित होता है वह चित्त साधिकार होने से संसार में आगमन शील होता है।

एवंच इन दोनों को विवेकज्ञानशून्य होने से यह भी साधिकारचित्त वाले हैं, अतः जैसे वर्षाकाल के आने से मण्डूकादिकों का देह मृत्तिकाभाव को प्राप्त हुया भी फिर वर्षाऋतु आने से मृत्तिका से वियुक्त हो कर मण्डूकभाव को प्राप्त हो

(१) इस प्रकार सूत्र का अर्थ निरूपण कर इदानीं "तेहि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवाऽनुभवन्तः" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं (यह) इत्यादि से।

(२) यद्यपि अधिकारविशिष्ट चित्त के सद्भाव से प्रकृतिलय पद कैवल्य से विलक्षण है तथापि वृत्तियों का अभाव होने से कैवल्य के समान कहा गया है, इसी से सदृश कहा है।

(३) विपाक नाम फल का है, अर्थात् जिस भावनाजन्यसंस्कार से प्रकृतिलयता प्राप्त हुई थी उस संस्कार के फल को भोग कर फिर संसार में आ जाते हैं।

(४) जिस चित्त में विवेकज्ञान उदय नहीं हुआ वह चित्त अधिकारसहित कहा जाता है।

जाता है तैसे प्रकृति में लयभाव को प्राप्त हुआ भी चित्त अवधि के अनन्तर फिर संसारोन्मुख हो जाता है।

तथाच इस प्रकृतिलयरूपनिरोध को जन्म मरण का नाशक न होने से यह मुमुक्षु कर हेय ही है यह सूत्र औ भाष्यकार का हृदय है यह तत्त्व (निचोड़) हुआ।

जो कि (१) विज्ञानभिक्षु ने यहां भवशब्द को जन्मार्थक मान कर (विदेहप्रकृतिलयों को साधन के अनुष्ठान से विना ही केवल जन्ममात्र निमित्त से ही असम्प्रज्ञात योग का लाभ हो जाता है, औ अधिकारसमाप्ति के अनन्तर विदेह औ प्रकृतिलय मुक्त हो जाते हैं (२), यह कहा है सो प्रकृत भाष्याऽर्थ के अज्ञान निवन्धन होने से अपेशल (अयुक्त) ही जानना।

अर्थात्—इस सूत्र के अवतरण में भाष्यकारों ने "उपायप्रत्ययो योगिनां भवति" इस वाक्य से (योगियों का निरोध परवैराग्यादिउपायजन्य होता है) इस प्रकार विशेष कथन से अन्य जो भवप्रत्यय निरोध है वह योगियों को उपादेय नहीं किन्तु हेय है यह स्पष्ट ही वोधन किया है।

सो (२) यह उपायप्रत्यय की उपादेयता औ भवप्रत्यय की हेयता कैवल्यजनकत्व औ कैवल्याऽजनकत्व रूप कारण से ही उपपन्न हो सक्ती है अन्यथा नहीं क्योंकि यदि दोनों ही निरोध असम्प्रज्ञातपदवाच्य औ कैवल्यजनक होते तो एक को योगियों कर उपादेय औ एक को हेय कथन यह विभाग समीचीन नहीं हो सकता है, सो यह भाष्योक्तविभाग (विदेहाःप्रकृतिलया अपि मुच्यन्ते) इस वाक्य से विदेह औ प्रकृतिलयों की मुक्ति कथनशील विज्ञानभिक्षु के मत से हो नहीं सकता क्योंकि इस मत में दोनों निरोधों को मुक्ति का हेतु होने से एक को हेय औ एक को उपादेय कहना संभवै नहीं, औ हमारे मत से तो प्रकृत्यादि अनात्म पदार्थों विपयक आत्मत्वरूप अज्ञानजन्य जो विदेहप्रकृतिलयों का निरोध सो मुक्ति का हेतु न होने से हेय औ परवैराग्यादि उपाय जन्य जो उपायप्रत्ययसंज्ञक असम्प्रज्ञात वह मुक्ति का हेतु होने से योगियों कर उपादेय यह भाष्योक्त विभाग सुतरां संभव है।

---

(१) इदानीं श्री स्वामी जी योगवार्तिक की प्रसंग से समालोचना करते हैं (जो कि) इत्यादि से।

(२) "महदादिदेवानां साधनानुष्ठानं विनैवाऽसम्प्रज्ञातयोगो जन्मनिमित्तको भवति," "विदेहाः प्रकृतिलया अपि अधिकारसमाप्तौ मुच्यन्ते' इस योग वार्तिक का यह अनुवाद है।

किञ्च-जब कि भाष्यकारों ने (कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्) इसवाक्य से (जबतक अधिकार के वलसे चित्त की पुनरावृत्ति नहीं होती तबी तक वह कैवल्य पदको अनुभव करते हैं) इस प्रकार स्पष्टही विदेह-प्रकृतिलयों की मुक्ति अभावकथनपूर्वक पुनरावृत्ति निरूपणकी है तो फिर प्रकृतिलयों को मुक्त कथन विज्ञानभिक्षु का प्रमादन हीं है तो क्या है।

किञ्च-इस पाद के १४ सूत्र में जब स्पष्ट ही भाष्यकारों ने (प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः) इस वाक्य से प्रकृतिलयों को फिर संसार में आगमनप्रयुक्त बन्ध कहा है तो फिर प्रकृतिलयों को यहां पर मुक्त कहना विज्ञानभिक्षु को अस्थानेव्यामोह (बेठिकाने भ्रम) क्यों हुया।

आश्चर्य्य तो यह है कि यहां प्रकृतिलयों की मुक्ति मानकर फिर (प्रकृतिलया अपि पुनराविर्भवन्ति) (१) इस वाक्य से साङ्ख्यप्रवचनभाष्य में अपने ही प्रकृति लयों की पुनरावृत्ति कैसे मानी।

एवंच भाष्य तथा स्वोक्ति के सङ्ग विरोधहोने से यहां विज्ञानभिक्षु का प्रकृतिलयों को मुक्तकथन असमञ्जस है यह सिद्ध हुया।

जो कि (भव नाम अज्ञान का है यह वाचस्पतिमिश्र की उक्ति असङ्गत है क्योंकि अज्ञानी को पर वैराग्य होने की संभावना नहीं है) यह कहा है (२) सो भी स्थूलदृष्टि निबन्धन होने से हेय जानना।

अर्थात्—कुछ भाष्यकारों ने परवैराग्यादिउपायजन्य असम्प्रज्ञात को दो प्रकार का नहीं कहा है जिस से भिक्षु का वाचस्पति मिश्र के उपर यह पर्य्यनुयोग (आक्षेप) होय किन्तु संस्कारमात्रशेष जो निखिलवृत्तिनिरोध उस के दो प्रकार कहे हैं, तहां विदेहप्रकृतिलयों को जो तत्तत्लयप्रयुक्तनिरोध वह अज्ञानपूर्वक होने से भवप्रत्यय है औ परवैराग्यादिउपायजन्य जो निरोध वह उपायप्रत्यय है। तथाच भवप्रत्यय को वैराग्य जन्य न होने से भवशब्द का अज्ञान अर्थ मानने में कोई दोप नहीं केवल द्वेपमात्र ही है (३)।

(१) तृतीय अध्याय के ९४ सूत्र का सांख्यप्रवचनभाष्य देखो।

(२) "भवोऽविद्येतिवाचस्पतिमिश्रोक्तमसंगतं परवैराग्यस्य विदुष्यसम्भवात्" यह विज्ञानभिक्षु का लेख है।

(३) यदि भवप्रत्यय निरोध को परवैराग्यजन्य कहते तो आप यह कह सकते थे कि (यदि अज्ञानियों को भवप्रत्यय होता है तो उन में परवैराग्य कैसे) पर सो यहां है नहीं किन्तु लयप्रयुक्त को भवप्रत्यय औ उपायजन्य को उपायप्रत्यय कहते हैं तथा च कोई दोप नहीं, किञ्च यदि भवप्रत्यय में भी पर वैराग्य की अपेक्षा मानोगे तो उपायप्रत्यय से इस में वैलक्षण्य क्या क्योंकि दोनों ही पर वैराग्य जन्य हैं, एवंच भवप्रत्यय में परवैराग्य की अपेक्षा नहीं यह सिद्ध हुआ। यह इस का भाव है।

यहां पर यह भी जानलेना उचित है कि पूर्वोक्तग्राह्य-ग्रहणसमापत्ति वाले योगियों का नाम विदेह औ ग्रहीतृसमापत्ति वाले योगियों का नाम प्रकृतिलय है, यह दोनों पुनरावृत्ति शील हैं. यह वायुपुराण के वचन से पूर्व कहचुके हैं, अतः भवप्रत्ययनिरोध को पुनरावृत्तिकारक होने से हेय जानना ॥१९॥

इस प्रकार भवप्रत्यय का निरूपण कर इदानीं योगियों को उपादेय जो उपायप्रत्ययनिरोध उस का उपपादन करते हैं—

सू० श्रद्धा-वीर्य्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

भाषा—(इतरेषाम्) विदेहप्रकृतिलयों से भिन्न योगियों को जो संस्कारशेष निरोध होता है वह (श्रद्धा-वीर्य्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धाआदिउपायपूर्वक अर्थात् श्रद्धादि उपायों से जन्य होता है।

तहां श्रद्धा (१) नाम योगविषयक चित्त की प्रसन्नता का है, इसी श्रद्धा को ही अभिरुचि वा उत्कटेच्छा भी कहते हैं, सो यह श्रद्धा शास्त्र-आचार्य्यादि उपदेश से समधिगत (ज्ञात हुये) वस्तुविषयक ही होती है अन्यविषयक नहीं, यह श्रद्धा ही जननी इव (न्याईं) कल्याणकारिणी हुयी योगी की अनर्थपात से रक्षा करती है, इस श्रद्धायुक्त पुरुष को जो विवेकार्थ योगविषयक उत्साह (प्रयत्नविशेष) वह वीर्य्य कहा जाता है, यह वीर्य्य भी श्रद्धा के होने से ही होता है ऐसे नहीं, इसी वीर्य्य को ही धारणा कहते हैं। औ श्रद्धा से उत्पन्नवीर्य्यशाली पुरुष को जो ध्येयवस्तुविषयक वृत्ति की एकतानतारूप ध्यान उपस्थित होता है वह यहां पर स्मृति जाननी, इस स्मृतिवाच्य ध्यान के होने से ही योगी का चित्त अनाकुल (विक्षेप रहित) हुया समाहित (संप्रज्ञातनिष्ठ) हो जाता है, औ इस समाधिनिष्ठ चित्त को फिर प्रज्ञाविवेक (ज्ञान का आधिक्य) होता है, इस ज्ञान के आधिक्य से ही योगी वस्तुविषयक यथार्थज्ञानशील होता है, फिर इस विवेकज्ञान के अभ्यास से विवेकज्ञानविषयक वैराग्यरूप ज्ञानप्रसादमात्रपरवैराग्य का उदय होने से असम्प्रज्ञातसमाधि होता है।

इतनी साधनसंपत्ति होने से असम्प्रज्ञातसमाधि का लाभ होता है।

भाव यह है कि—श्रद्धा, वीर्य्य = धारणा, स्मृति = ध्यान, संप्रज्ञातसमाधि, प्रज्ञा = ज्ञानप्रसादमात्रपरवैराग्य, इन उपायों से जन्य जो संस्कार-

(१)(श्रद्धा-चेतसः सम्प्रसादः) इत्यादि भाष्यानुसार श्रद्धा आदि का लक्षण कहते हैं (तहां श्रद्धा) इत्यादि से।

शेष निरोध वह योगियों कर उपादेय उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहा जाता है (१) ॥ २० ॥

सो यह पूर्व उक्त श्रद्धादिउपाय पूर्वजन्म के पुण्यपरिपाक को मंद-मध्यम-तीव्र होने से किसी पुरुष के मृदु औ किसी के मध्यम औ किसी के तीव्र होते हैं, इस हेतु से कोई योगी मृदुउपाय, औ कोई योगी मध्यमउपाय औ कोई योगी अधिमात्रोपाय वाला होता है, (२)

इन्ह तीनों योगियों में से मृदुउपाय वाले योगी भी तीन प्रकार के हैं, कोई मृदुसंवेग (३) अर्थात् मन्दवैराग्य वाले औ कोई मध्यसंवेग अर्थात् सामान्यवैराग्य वाले, औ कोई अधिमात्रसंवेग अर्थात् तीव्रवैराग्य वाले, इसी प्रकार वैराग्य के तारतम्य से मध्यउपाय औ अधिमात्रउपाय वाले योगियों के भी तीन२ भेद जान लेने।

इस प्रकार सब मिलकर योगियों के नव भेद हुये—(४) यथा—मृदु-उपाय मृदुसंवेग १ मृदुउपाय मध्यसंवेग २ मृदुउपाय तीव्रसंवेग ३ मध्योपाय मृदुसंवेग ४ मध्योपाय मध्यसंवेग ५ मध्योपाय तीव्रसंवेग ६ अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग ७ अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग ८ अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग ९।

इन नवों में से अन्तिम योगियों को सर्वापेक्षया शीघ्र समाधिलाभ होता है औ अन्यों को उपायानुसार कुछ २ विलम्ब से होता है।

---

(१) यहां पर १८ सूत्र में जो असम्प्रज्ञात रूप अर्थ का वाचक 'अन्यः' यह पद है इस पद का १९,२०,२१,२२,२३, सूत्रों में अन्वय जानना, इसी सेंही इन सब सूत्रों में असम्प्रज्ञात पद का लाभ होता है यह जानो।

(२) मृदु नाम कोमल वा शिथिल वा अल्प वा मंद का है, औ मध्य उस को कहते हैं कि न तीव्र ही हो न मन्द ही हो किन्तु सामान्य हो औ अधिमात्र नाम तीव्र का वा दृढ़ का है। पूर्व जन्म के संस्कार वश से कोई धीरे धीरे उपायों का अनुष्ठान करता है औ कोई सामान्यभाव से, औ कोई दृढ़ होकर तीव्ररूप से अनुष्ठान करता है, इस से तीन भेद हुये।

(३) संवेग नाम वैराग्य का है। जो कि विज्ञानभिक्षुप्रभृति ने उपायाऽनुष्ठान में शीघ्रता का नाम संवेग कहा है सो अधिमात्रोपाय कहने से ही शीघ्रता का लाभ होने से असङ्गत जानना, अतः संवेग नाम वैराग्य का ही जानना।

(४) प्रथम श्रद्धा-वीर्य्य-स्मृति-समाधि रूप उपायों को मन्द-मध्यम-तीव्र होने से योगियों के तीन भेद कथन किये फिर वैराग्य को मन्द मध्यम तीव्र होने से एक एक के तीन तीन भेद कथन किये, इस प्रकार सब मिल कर नव हुए, सोई कहते हैं—(यथा)इति।

यही इदानीं सूत्रकार कहते हैं—

सू० तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

भाषा—इस सूत्र के आदि में भाष्यकारों ने (अधिमात्रोपायानाम्) इतना पाठ और संबद्ध किया है, एवंच यह अर्थ हुआ कि जो अधिमात्रोपाय (दृढ़ श्रद्धादिउपायवाले) तीव्रसंवेग (तीव्रवैराग्ययुक्त) हैं। उन्हीं को (आसन्नः) शीघ्र ही समाधिलाभ तथा समाधि का फल होता है।

इन्हीं की अपेक्षा से अधिमात्रोपाय मध्यसंवेगों को कुछ विलंब से होगा, औ इन्हीं की अपेक्षा से अधिमात्रोपाय मृदुसंवेगों को कुछ विलम्ब से होगा, इत्यादि ऊहापोह से जान लेना ॥२१॥

इदानीं तीव्रवैराग्य के भी तीन भेद मान कर विशेषांतर कहते हैं।

सू० मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

भाषा—तीव्रवैराग्य को भी (मृदुमध्याधिमात्रत्वात्) मंद-मध्य-तीव्रभेद से तीन प्रकार का होने से (ततोऽपि) तिस तीव्रत्वादिविशेष प्रयुक्त भी (विशेषः) समाधि के लाभ में विशेष होता है।

अर्थात्—मध्यवैराग्यविशिष्ट अधिमात्रोपाय योगियों की अपेक्षा से मृदु-तीव्र-वैराग्यविशिष्ट अधिमात्रोपाय योगियों को शीघ्र समाधिलाभ होता है, औ इन्हीं की अपेक्षा से मध्यतीव्रवैराग्यविशिष्ट अधिमात्रोपायों को शीघ्रतर (अतिशीघ्र) होता है, और इन की अपेक्षा से अधिमात्रतीव्र-वैराग्यविशिष्ट अधिमात्रोपायों को शीघ्रतम (अत्यन्तशीघ्र) होता है।

एवंच योगियों को अधिमात्र उपाय औ अधिमात्र तीव्रवैराग्य के लाभ में ही यत्नशील होना उचित है कुछ आलस्य मत करें यह फलित हुआ ॥२२॥

इदानीं (क्या इन्हीं पूर्वोक्त उपायों से ही अत्यन्त शीघ्रसमाधि का लाभ होता है वा अन्य भी कोई सुकर उपायान्तर इस के लाभ में संभव हो सकता है) इस आकांक्षा के निवारणार्थ सूत्रकार सुकर उपायान्तर कहते हैं—

सू० ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥ २३ ॥

भाषा—(वा) अथवा (ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वर की उपासना से भी अत्यन्तशीघ्र समाधि का लाभ * होता है।

(*) यहां पर विशेषः इस पद का पूर्व सूत्र से अनुवर्तन कर अर्थ करते हैं (अत्यन्त शीघ्र समाधि का लाभ होता है) इति।

अर्थात्—कायिक-वाचिक-मानसिक-समस्तव्यापारों को ईश्वर के अधीन जानना, औ जो कार्य्य किया जाय उस के फल तरफ दृष्टि न देकर औ शारीरिक सुख का अनुसन्धान न कर उन सब कर्मों के फल को परमेश्वर के प्रति समर्पण करना, औ उस के ध्यान में ही मग्न हो एकतान से परमेश्वर नामों का चिन्तन करना, यह सब ईश्वरप्रणिधान कहा जाता है औ यही भक्ति है।

इस भक्तिविशेष से आवर्जित (प्रसन्नतापूर्वक अभिमुख हुया) ईश्वर-अभिध्यान (संकल्प) मात्र से (१) तिस योगी पर अनुग्रह कर देता है, इस अभिध्यानरूप ईश्वरानुग्रह से भी अत्यन्त शीघ्र ही समाधि का लाभ तथा समाधिफल योगी को प्राप्त होजाता है—

भगवद्गीता में भी "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते, तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" इस वाक्य से ईश्वर प्रणिधान को योग क्षेम का (२) निर्वाहक कहा है ॥२३॥

(प्रधान औ पुरुष से भिन्न ईश्वर कौन है कि जिस के प्रणिधान से शीघ्र समाधि का लाभ होता है) इस साङ्ख्यमताऽनुयायी की (३) आशङ्का के शमनार्थ सूत्रकार ईश्वर का लक्षण करते हैं।

सू० क्लेशकर्मविपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः ॥२४॥

भाषा-(क्लेश) वक्ष्यमाण अविद्याआदि पञ्च क्लेश (कर्म) रागादि क्लेशजन्य

---

(१) इस मेरे भक्त को शीघ्र ही समाधि का लाभ हो जाय इस प्रकार संकल्प का नाम अभिध्यान है सोई कहते हैं (संकल्पमात्र से) इति।

(२) अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति कर देने का नाम योग है, औ प्राप्त हुये वस्तु का पालन कर उस का नाश न होने देना क्षेम है। जो पुरुष अनन्य (एकतान) हुये मेरा ध्यान कर मेरी उपासना करते हैं उन नित्यअभियुक्त=ध्याननिष्ठों के योग क्षेम को मै निवाहता हूं, यह भगवद् वचन का अर्थ है अ. ९। २२।

(३) आशङ्का करने वाले निरीश्वरवादी सांख्य का यह आशय है कि-चेतन औ जड इन दोनों से ही निखिल विश्व व्याप्त है सो यदि ईश्वर चेतन है तो चितिशक्ति को असङ्ग औ उदासीन होने से भक्तों के उपर अनुग्रह कैसा, औ यदि जड है तो प्रकृति वा प्रकृतिकार्य्यों में से ही कोई एक ईश्वर कहा जायगा क्योंकि पदार्थान्तर मानना अप्रामाणिक है एवं च जड होने से चेतनधर्म अनुग्रह से सबन्ध कैसा, अतः प्रकृति-पुरुष भिन्न तृतीय ईश्वर मानना असङ्गत है।

शुभाऽशुभकर्म, (विपाक) धर्माऽधर्मजन्य सुखदुःखरूप फल, (आशय) सुखदुख भोग से जन्य विविधवासना, इन चारों पदार्थों से (अपरामृष्टः) असंवद्ध जो (पुरुषविशेष) अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन वह ईश्वर है।

अर्थात्—चित्त के संग एकरूपतापन्न जीव के जो औपाधिक अविद्या आदि धर्म हैं उन धर्मों के संपर्क से विरहित जो विशुद्धसत्त्वगुणप्रधानचित्तोपाधिक नित्यज्ञानैश्वर्य्यादिधर्मविशिष्ट सत्यकाम सत्यसंकल्प चेतन वह ईश्वरपद का वाच्य है औ सब पुरुषों से यह विशेष है।

आशङ्का—लक्षण वही कहा जाता है कि जो असाधारणधर्म होय औ असाधारणधर्म वह है कि जो लक्ष्य से अन्य में न रहकर केवल लक्ष्यमात्र में ही विद्यमान रहै, एवं च यह लक्षण यदि ईश्वरमात्र में रह कर अन्य किसी में विद्यमान न होगा तबी असाधारणधर्म होने से लक्षण कहा जायगा अन्यथा नहीं, औ यहां पर क्लेशादिराहित्यरूप ईश्वरलक्षण को ईश्वर औ पुरुष इन दोनों में वर्तने से असारणधर्मत्वं का संभव नहीं, अतः सुतरां यह लक्षण अतिव्याप्तिरूप दोप युक्त होने से दुष्ट हुआ, अर्थात्—साङ्ख्य योग मत में क्लेशादि निखिलधर्मों को चित्तनिष्ठ मान कर पुरुष को असंग माना जाता है एवं च यथा ईश्वर क्लेशादिनिर्मुक्त है तथा पुरुष भी क्लेशादिविमुक्त ही हैं, तथा च क्लेशादिराहित्यरूप धर्म को लक्ष्यईश्वर से अन्य अलक्ष्यपुरुषों में वर्तने से यह लक्षण अतिव्याप्तिदोपग्रस्त होन से असङ्गत है, (१) एवं ईश्वर औ पुरुषों को समान होने से ईश्वर को पुरुषों से विशेष कहना भी अनुचित ही है।

समाधान—यह सत्य है कि ईश्वर औ पुरुष यह दोनों स्वाभाविक क्लेशादि के संपर्क से शून्य हैं परन्तु इतना विशेष है कि पुरुष अविवेक से चित्त को अपने से भिन्न न जान कर उपाधिभूतचित्तनिष्ठ क्लेशादिकों से संवद्ध हो जाता है औ ईश्वर विवेकद्वारा सदा क्लेशनिर्मुक्त ही रहता है।

एवंच औपाधिक क्लेशों के संपर्क से रहित जो चेतन वह ईश्वर है यह लक्षण निर्दुष्ट हुआ क्योंकि पुरुषों में औपाधिक क्लेशों का संपर्क होने से यह लक्षण वहां पर वर्तता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि—यथा राजा औ सेना का परस्पर स्वस्वामिभावसंवन्ध होने से सेनाकर्तृक जय पराजय का स्वामीभूत राजा में व्यवहार होता है क्योंकि वह उस के फल का भोक्ता है तथा चित्त औ पुरुष का भी परस्पर स्वस्वामिभावसंवन्ध होने से चित्त में वर्तमान ही अविद्यादि क्लेशों का पुरुष

(१) पुरुषविशेष कथन से ही क्लेशादि रहित का लाभ होने से क्लेशादि रहित विशेषण भी क्यों यह भी जानो।

व्यवहार होता है (१) क्योंकि वह उस के फल का भोक्ता है।

एवं च पुरुष में जो क्लेशादि का संबन्ध वा सुखादिभोग वह सब चित्तरूप उपाधिप्रयुक्त होने से औपाधिक ही हैं स्वाभाविक नहीं, अतएव कठ उपनिषद् में "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:"* इस श्रुतिद्वारा उपाधिसंबन्धप्रयुक्त ही पुरुष को भोक्ता कहा है, सो यह औपाधिक क्लेशों का संबंध अविवेक प्रयुक्त होने से विवेकशाली ईश्वर में संभावित नहीं, बस यही औपाधिक भोग के सम्बन्ध का न होना ही ईश्वर में पुरुषों से विशेषता है।

आशङ्का—यदि (२) क्लेशादिसंपर्क से रहित ही ईश्वर कहा जाता है तो मुक्तपुरुष वा प्रकृतिलीन पुरुष ही ईश्वरपद का वाच्य क्यों नहीं माने जाते क्योंकि वह भी क्लेशादि संपर्क से रहित ही हैं अत एव कपिलमुनि ने ईश्वरप्रतिपादक श्रुतियों को "मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा" (३) इस सूत्र से मुक्त औ सिद्धपुरुषों के निरूपणपरत्व प्रतिपादन कर फिर तृतीयाध्याय में "स हि सर्ववित्सर्वस्य कर्ता, "ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा" (४) इन सूत्रों से प्रकृति लीनों को ईश्वर मान कर प्रकृतिपुरुष से व्यतिरिक्त ईश्वर का अभाव माना है, एवं च

---

(१) यथा युद्धादि द्वारा राजा का उपकार करने से सेना को स्व औ द्रव्यदानादि द्वारा सेना का उपकार करने से राजा को स्वामी कहा जाता है तथा इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण कर पुरुष के प्रति निवेदन करने से चित्त को स्व औ स्वसन्निधि से अचेतन चित्त को भी चेतन तुल्य करने द्वारा उपकारक होने से चेतन को स्वामी कहा जाता है, इस प्रकार परस्पर उपकार्यउपकारकभाव होने से चित्त का औ पुरुष का स्वस्वामिभावसंबंध जान लेना।

(*) ज्ञानीलोग. शरीर-इन्द्रिय-मन से युक्त ही आत्मा को भोक्ता कहते हैं शुद्ध को नहीं यह श्रुति का अर्थ है।

(२) (कैवल्यं प्राप्ताःतर्हि सन्ति च बहवःकेवलिनः) इस भाष्य को अनुसरण कर आशङ्का उत्थापन करते हैं (यदि) इत्यादि से।

(३) "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "साहि सर्ववित् सर्वस्य कर्त्ता" इत्यादि श्रुतियों में जो सर्वज्ञ सर्व का कर्ता प्रतिपादन किया है वह मुक्तपुरुष की प्रशंसा के लिये वा योगाभ्यासरूपउपासनासिद्ध योगियों की स्तुति के लिये है कुछ ईश्वरप्रतिपादक यह श्रुतियां नहीं है यह सांख्य के प्रथमाध्यायस्थ ९५ सूत्र का अर्थ है।

(४) पूर्वोक्त प्रकृतिलीन ही प्रबुद्ध हुआ सर्ववित् सर्वकर्ता कहा जाता है, ईदृश ईश्वर की सिद्धि ही हमारे मत में सिद्ध है, नित्य ऐश्वर्य्यशाली ही विवाद ग्रस्त है, यह ५६।५७ इन दोनों सूत्रों का अर्थ है।

पुरुषविशेष कथन फिर भी असङ्गत हुआ क्योंकि बद्धपुरुषों से यद्यपि विशेष है तथापि मुक्तपुरुषों से विशेष नहीं है।

समाधान-यद्यपि मुक्तपुरुष भी क्लेशों से विनिर्मुक्त हैं तथापि वह नित्य-मुक्त नहीं कहे जा सकते क्योंकि वह पूर्व क्लेशयुक्त हुये ही फिर साधनों के अनुष्ठानद्वारा प्राकृत-वैकारिक-दाक्षिणक रूप तीन बन्धनों को छेदन कर (१) क्लेशरहित हुये हैं एवं प्रकृतिलीन भी नित्यमुक्त नहीं क्योंकि वह भी अपनी अवधि से अनन्तर संसार में आने से भाविक्लेशों के सम्बन्ध से युक्त हैं। औ ईश्वर को इन क्लेशों का संन्ध न भूतकाल में था न आगामि होने वाला है इस से यह नित्यमुक्त होने से मुक्त औ प्रकृतिलीन पुरुषों से विशेष हैं।

अर्थात्—(२) यथा मुक्तपुरुष को पूर्व बन्धकोटि थी ऐसे ईश्वर को भूतकाल में भी बन्धकोटि नहीं है एवं जैसे प्रकृतिलीन को उत्तरबन्ध कोटि की संभावना है तैसे आगामि भी बन्धकोटि ईश्वर में नहीं है किन्तु वह सदैव मुक्त औ सदैव ईश्वर है अतः इन दोनों पुरुषों से विशेष है।

भाव यह है कि-जो चेतन भूत-वर्त्तमान-भविष्यत्कालत्रय में ही औ-पाधिक क्लेशों से निर्मुक्त है वही हमारे मत में ईश्वर है, औ मुक्त-प्रकृतिलीनपुरुष कालत्रय क्लेशों से निर्मुक्त नहीं हैं क्योंकि मुक्तपुरुष कैवल्य से पूर्व क्लेशयुक्त थे औ प्रकृतिलीनपुरुष लय होने से पूर्व औ अवधि के अनन्तर क्लेशयुक्त होते हैं अतः वह ईश्वर नहीं हैं (३)।

औ पूर्वोक्त सांख्यसूत्र तो अभिप्रायान्तरपर हैं यह अन्यत्र (४) स्पष्ट है।

किञ्च—ईश्वररूप प्रेरक न मानने से जडभूत प्रकृति की संसाररचना में प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होगी क्योंकि यह लोक में दृष्ट है कि-जो जडपदार्थ हैं

---

(१) प्रकृतिलीन प्राकृतबन्धवाले, औ विदेहपुरुष वैकारिकबन्धवाले, औ यज्ञानुष्ठान-शील दाक्षिणिकबन्धवाले कहे जाते हैं, मुक्तपुरुष इन तीनों बन्धनों से रहित है।

(२) "तेहि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः" इत्यादि भाष्य के अनुसार समाधान कर इदानीं "यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य" इत्यादि [illegible] का सानुवाद करते हुये पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं "अर्थात्" इत्यादि से।

(३) मुक्तपुरुषों को सङ्कल्परहित होने से वेदोक्त सत्यसंकल्पत्वादिरूपधर्मविशिष्ट ईश्वर अवश्य ही माननीय है, यह भी जानो।

(४) स्वामी जी निर्मित साङ्ख्यदर्शनप्रकाश में स्पष्ट है। अर्थात् यदि नित्यैश्वर्य्य-शाली ईश्वर कोई माना जायगा तो वैराग्य की दृढता न होगी क्योंकि पुरुषों को नित्यैश्वर्य्य की इच्छा वैराग्य का प्रतिबन्धक हो जायगी, अतः वैराग्य की दृढता के लिये ईश्वर का अभाव कहा है कुछ वस्तुगत्या नहीं।

वह विना चेतन की प्रेरणा से स्वकार्य्यजनन में असमर्थ होता है जैसा कि सारथि से विना रथ, औ पुरुष को असंग निष्क्रिय होने से प्रेरकत्व का संभव नहीं, अतः विशुद्धसत्त्वोपाधिक नित्यज्ञानक्रियैश्वर्य्यशाली चेतनभूत ईश्वर अवश्य ही माननीय है।

अत एव श्वेताश्वतरउपनिषद् में "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" (१) इस मन्त्र से ईश्वर को मायासञ्ज्ञकप्रकृति का प्रेरक कहा है।

औ गीता में भी "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इस वचन से भगवान् ने अपने को माया का अध्यक्ष मान कर (मेरी ही प्रेरणा से प्रकृति चराऽचरप्रपञ्च को उत्पन्न करती है) इस प्रकार ईश्वर को माया का प्रेरक कहा है।

यद्यपि चेतनभूत ईश्वर में ज्ञान वा प्रेरणादि क्रियारूप परिणाम का होना संभव नहीं हो सकता है क्योंकि वह रजतमगुणरहित विशुद्ध चित्त का धर्म है औ चित्त के संग नित्यमुक्त ईश्वर का स्वस्वामिभावसंबन्ध असम्भव है, तथापि जैसे अन्यपुरुषों का अविद्याप्रयुक्त चित्त के संग स्वस्वामिभावसंबन्ध है तैसे ईश्वर के संग अविद्याप्रयुक्त नहीं है किन्तु चित्त के स्वभाव को जानता हुया ज्ञानधर्मोपदेशद्वारा तापत्रयपीडित जनों के उद्धारार्थ औ प्रकृत्यादि की प्रेरणाद्वारा संसार के रचनार्थ ही वह विशुद्धसत्त्वरूप चित्त को धारन करता है कुछ अज्ञानप्रयुक्त नहीं।

एवं च अज्ञानपूर्वक ही चित्त के संग को परिणामिता का कारक होने से ईश्वर में ज्ञान वा प्रेरणा की असंभविता नहीं है।

अर्थात्—जो अविद्या के स्वभाव को न जान कर अविद्या को सेवन करता है वही भ्रान्त कहा जाता है कुछ जान कर सेवन करने वाला नहीं, तथा च जैसे नट अपने में रामकृष्णादिभाव को आरोप कर अनेक लीला करने से भ्रान्त नहीं कहा जाता है तैसे ईश्वर भी चित्तद्वारा अनेक लीला करने से भ्रान्त नहीं किन्तु विद्वान् ही है यह परमार्थ है।

यद्यपि धर्मज्ञानोपदेश द्वारा पुरुषों के उद्धार करने की इच्छा होने से परमेश्वर मायासञ्ज्ञक विशुद्धसत्त्वस्वरूप चित्तरूप उपाधि को धारण करता है औ उपाधि के ही धारन करने से पूर्वोक्त इच्छा होती है इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयदोष का संभव होता है (२) तथापि बीजाऽङ्कुरवत् संसार को

(१) माया प्रपञ्च का उपादानकारण है औ माया का स्वामी प्रेरक परमेश्वर निमित्त कारण है, यह श्रुति का भाव है।

(२) उद्धार की इच्छा होने से ईश्वर चित्त का ग्रहण करता है औ चित्त ग्रहण करने से ही उद्धार की इच्छा होती है इस प्रकार परस्पर की अपेक्षा होने से अन्योऽन्याश्रयदोष जानना।

अनादि होने से व्यवस्था संभव कर दोषाभाव जान लेना।

अर्थात्—जैसे कोई पुरुष यह प्रणिधान (चिन्तन) कर शयन करे कि मैं प्रातः काल इस समय में उत्थित, होकर अमुक कार्य्य को अवश्य करूंगा तो वह उस संस्कार के वश से अवश्यही उत्थित होकर उस कार्य्य में प्रवृत्त हो जाता है तैसे उत्पत्तिप्रलयरूप प्रवाह को अनादि होने से किसी सर्ग के अवधिकाल में जब परमेश्वर को संहार करने की इच्छा होती है तब अपने चित्त में (जब प्रलयकाल का अवधि होगा तब फिर मैं विशुद्धचित्त को ग्रहण करूंगा) ऐसा प्रणिधान कर ही प्रलय में उन्मुख होने से प्रधान में लय हुआ भी चित्त प्रणिधानसंस्कार के वश से फिर कार्य्योन्मुख हो जाता है, तथा च ईश्वर के प्रणिधान को औ विशुद्धचित्त के ग्रहण को अनादि होने से अन्योन्याश्रयदोष नहीं है।

आशङ्का—जो यह पूर्वोक्त ईश्वर में विशुद्धसत्त्वमय चित्त के ग्रहणद्वारा सर्वोत्कृष्टता निरूपण की है सो यह उत्कृष्टता सनिमित्त = सप्रमाणक (प्रमाणसिद्ध) वा निष्प्रमाणक है यदि सप्रमाणक है तो वह प्रमाण कौन है औ यदि प्रमाणरहित है तो माननीय कैसे, यदि यह कहा जाय कि श्रुतिस्मृतिपुराणआदि शास्त्र ही ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण है तो यह सम्भव नहीं क्यों कि प्रत्यक्ष वा अनुमान से अनुभव किये हुये पदार्थ का प्रतिपादक जो वाक्यविशेष सोई शास्त्र कहा जाता है औ ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता किसी को प्रत्यक्ष नहीं है, अतः शास्त्र भी प्रमाण नहीं हो सकता है, यदि यह कहो कि भ्रमप्रमादादिपुरुषनिष्ठदोष (१) विरहित सर्वज्ञ ईश्वर का प्रत्यक्षभूत वेद ही ईश्वर की सर्वज्ञता में प्रमाण है तो यह भी अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त होने से असमंजस ही है क्योंकि प्रथम वेदरूप प्रमाण से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होय तो ईश्वरप्रणीत वेद प्रमाण होंय औ वेद में प्रामाण्यज्ञान होय तो तिस प्रमाणद्वारा ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होय।

समाधान—यद्यपि अन्य कोई शास्त्र ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण नहीं हो सकता तथापि सर्वज्ञ ईश्वर प्रणीत वेद को उस में प्रमाण मानने में कोई बाधक नहीं क्योंकि अन्यप्रमाणद्वारा ईश्वर को निर्भ्रान्त औ सर्वज्ञ सिद्ध होने से ईश्वरप्रणीत वेद की प्रमाणता स्वतःसिद्ध है।

अर्थात्—ईश्वरप्रणीत तत्तत्कार्य्यसाधकमन्त्र तथा तत्तद्रोगनिवर्तक औषधप्रतिपादक आयुर्वेद के प्रमाण्य में तो किसी को सन्देह ही नहीं क्योंकि उनका

(१) भ्रम आदि दोषों का निरूपण पूर्व, इस ७ सूत्र में स्पष्ट है।

फल प्रत्यक्षदृष्ट है(१) केवल अन्यभाग में प्रामाण्य का सन्देह है क्योंकि अन्यभाग को अलौकिकअर्थ प्रतिपादक होने से प्रत्यक्ष का वहां संभव नहीं, सो यह अन्यभागमें प्रामाण्यका सन्देह भी तावत्कालही है कि यावत्काल इसके वक्ता में सर्वज्ञत्व औ यथार्थवक्तृत्व का निश्चय न होय (२) जब फिर मन्त्रायुर्वेदभाग के निर्माण से यह निश्चय हुआ कि ईश्वर सर्वज्ञ औ यथार्थ वक्ता है तब यह सन्देह भी सुतरां उच्छिन्न हुआ क्योंकि स्थालीपुलाकन्याय से (३) अन्यभाग के वक्ता की भी सर्वज्ञता युक्ति सिद्ध है, एवं च वेदों को प्रमाण होने से वेदप्रतिपादित ईश्वर की सर्वज्ञता--सत्यकामता--नित्यज्ञानैश्वर्य्यशालितारूप उत्कृष्टता सप्रमाणक है यह सिद्ध हुआ (४)।

सो (५) यह पूर्वोक्त सर्वज्ञतादिरूपधर्म तथा वेदरूपशास्त्र यह दोनों ही ईश्वर के विशुद्धसत्त्वगुणमय चित्त में विद्यमान हैं औ अनादि ही इन दोनों

(१) अर्थात्--जिस जिस कार्य्य सिद्धि के अर्थ जो जो मन्त्र औ जिस २ रोग निवृत्ति के लिये जो२ औषध प्रतिपादन किये हैं वह अपने २ फल जनन में समर्थही देखने में आते हैं असमर्थ नहीं, अतः सत्यार्थप्रतिपादक तिस वेदभाग के प्रामाण्य में संदेह का संभव नहीं।

(२) शब्दबोधित अर्थ के प्रामाण्य में वक्ता को आप्त वा सर्वज्ञ जानना ही एक मुख्य कारण है यह शास्त्र का नियम है।

(३) स्थाली नाम बटुई का औ पुलाक नाम सिद्धोन्मुखतण्डुल का है जिस को अन्य भाषा में पुलाव कहते हैं जैसे पाचक स्थाली में से एक तण्डुल निकास कर यह परीक्षा करलेता है कि अन्य तण्डुल सिद्ध हैं वा कच्चे हैं तैसे यहां भी मन्त्र आयुर्वेदरूप वेद भाग में प्रत्यक्ष फल दर्शन द्वारा प्रामाण्य निश्चयवत् अन्य तत्समान वेदभाग में प्रामाण्यनिश्चय जान लेना, यह दृष्टान्त का भाव है।

(४) प्रत्यक्षफल के दिखलाने से आयुर्वेदके कर्ता को भ्रमरहित सर्वज्ञ जानना औ सर्वज्ञ ईश्वर निर्मित होने से वेदों को प्रमाण जानना, एवञ्च अन्योन्याश्रय नहीं है, यह इस का भाव है। इस कथन से जो यह शङ्का थी कि (अपने ऐश्वर्य्य के प्रकाशार्थ ईश्वर ने मिथ्या ही अपनी प्रशंसा वेद में लिखी है,) सो भी निवृत्त हुयी क्योंकि आयुर्वेदादि के देखने से यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता है कि ईश्वर अकारण क... में मिथ्या उपदेश भी कर सकता है। जिसे विस्तर इस प्रसङ्ग को देखना होय वह श्रीस्वामी जी निर्मित न्यायदर्शनप्रकाशके द्वितीयाध्याय के प्रथम आह्निक के ५७ इस सूत्रसे लेकर ६७ इस सूत्र पर्य्यन्त के विवरणपर दृष्टिपात करे।

(५) इदानीं "एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः" इस भाष्य का अनुवाद करते हैं (सो यह) इत्यादि से।

का परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव संवन्ध है (१)।

इसपूर्वोक्तउत्कृष्टतासे ही यह ईश्वर नित्यमुक्त औ नित्यैश्वर्य्यशाली कहाजाता है।

जिस प्रकार यह ईश्वर मुक्तपुरुषों से विलक्षण है इस प्रकार अणिमादि ऐश्वर्य्यशाली योगियों से भी यह विशेष है क्योंकि इस का यह ऐश्वर्य्य सामान्य औ अतिशय से रहित है अर्थात् जैसे योगियों का ऐश्वर्य्य अन्य किसी योगी के समान वा किसी योगी की अपेक्षा से न्यून होता है तैसे ईश्वर का ऐश्वर्य्य नहीं किन्तु सर्वोत्कृष्ट है।

भाव यह है कि—इस ईश्वर का ऐश्वर्य्य किसी अन्य अधिक ऐश्वर्य्य कर अतिशय विशिष्ट नहीं हो सकता है क्योंकि यह हमारा सिद्धान्त है कि जो सर्वापेक्षया अतिशय ऐश्वर्य्य वाला है वही ईश्वरपद का वाच्य है, अर्थात् जहां पर ऐश्वर्य्य की काष्ठा (अवधि) होय वही ईश्वर है।

इसी तरह ईश्वर के समान ऐश्वर्य्यवाला भी कोई नहीं है क्योंकि जो अन्य माना जायगा तो वह सत्यसंकल्पादिधर्मविशिष्ट ही माना जायगा क्योंकि यही ईश्वर का लक्षण है, एवं च जब किसी एक वस्तु विषयक उन दोनों तुल्यबलशीलों का (यह नूतन होय, यह पुराण होय, यह आज ही मरे, यह सदा अमर रहे) इस प्रकार विरुद्ध २ संकल्प होगा तब दोनों का संकल्प सिद्ध नहीं होगा क्योंकि एक वस्तु में दो प्रकार के विरुद्ध धर्मों के रहने का संभव नहीं, औ यदि एक का संकल्प सत्य औ अन्य का मिथ्या माना जाय तब जिस का मिथ्या संकल्प वह ईश्वर ही कैसा, यदि यह कहो कि दोनों का अभिप्राय एक होने से दोनों ही सत्यसंकल्प हैं तो अनेक ईश्वर मानने में प्रयोजन ही क्या यदि यह कहो कि सब मिल कर कार्य्य करते हैं तो सभा (पंचायत वा कमेटी) होने से कोई भी ईश्वर नहीं हुआ, एवं च ईश्वर के समान ऐश्वर्य्यवाला अन्य कोई नहीं यह निर्विवाद है।

तथाच—जो जीव की तरह क्लेशभागी वा पुण्यपाप का कर्ता वा सुख दुख का भोक्ता नहीं है औ जिस का ऐश्वर्य्य साम्य-अतिशय से विनिर्मुक्त है वह क्लेशमुक्त नित्य निरतिशय अनादि अनन्त सर्वज्ञ पुरुषविशेष ईश्वरपद का वाच्य [illegible] ॥२४॥

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता तथा ज्ञान-क्रिया-शक्ति की उत्कृष्टता में वेद[illegible] शास्त्र तथा ज्ञानी-योगियों का अनुभव प्रमाण होने पर भी वादिभ्रान्ति

(१) ईश्वर के चित्त में वर्तमान विशुद्धसत्त्व का प्रकर्ष निमित्तकारण है औ वेद उसका कार्य्य है इस प्रकार ईश्वर के चित्त में विद्यमान दोनों का परस्पर निमित्त-नैमि[illegible]त्तिकभाव संवन्ध है।

निवारणार्थ सूत्रकार अनुमानरूप प्रमाणान्तर का उपन्यास (१) करते हैं—

सू० तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

भाषा (तत्र) तिस पूर्वोक्त ईश्वर में (सर्वज्ञबीजम्) सर्वज्ञता का (२) (बीज) कारण भूत जो ज्ञान वह (निरतिशयम्) अतिशय से रहित है अर्थात् अन्तिम उन्नति से विद्यमान रहता है।

अर्थात्—सत्त्वगुण के न्यूनाधिक होने से कोई पुरुष वर्तमानकालिक ही पदार्थों को जानता है औ कोई अतीत अनागत वर्तमान कालत्रय के ही पदार्थों विषयक ज्ञानवाला होता है औ कोई स्थूलवस्तुविषयक औ कोई सूक्ष्मवस्तुविषयक ज्ञानशील होता है एवं कोई एक वस्तु विषयक औ कोई अनेक वस्तु विषयक ज्ञानवाला होता है, इस प्रकार सातिशयता (कमज्यादेपन) धर्म वाला जो सर्वज्ञता का कारणभूत ज्ञान वह वृद्धि को प्राप्त हुआ जहां निरतिशयता को प्राप्त होता है वह सर्वज्ञ ईश्वर है।

भाव यह है कि—जो पदार्थ न्यूनाऽऽधिक्यरूप (कमज्यादे पन) धर्म विशिष्ट होने से सातिशय होता है वह अवश्य ही कहीं काष्ठा को प्राप्त हुआ निरतिशय हो जाता है (३) जैसा कि अणुपरिमाण परमाणु में औ महत्वपरिमाण आकाश में (काष्ठा को प्राप्त हुआ निरतिशय हो जाता है) सो यहां भी न्यूनाधिक्यरूप धर्म विशिष्ट होने से ज्ञान की निरतिशयता अवश्य ही होनी उचित है, तथा च जिसमें जाकर ज्ञान काष्ठा को प्राप्त होकर निरतिशयरूप से विद्यमान रहता है वही ईश्वर है।

अर्थात्— यथा दाना–सर्षप–चणक–आमलक–बिल्व कटहर प्रभृति में

---

(१) अर्थात्—साधनसम्पन्न जिज्ञासु वा भक्त वा ज्ञानी वा योगियों के चित्त में तो ईश्वर स्वभावतः ही प्रकाशमान है अतः उन्हें समझाने के लिये तो अनुमानादिरूप प्रमाणान्तर की अपेक्षा ही नहीं है परन्तु जो लोक शुष्कतर्क द्वारा ईश्वर का निराकरण करते हैं उन की शिक्षार्थ प्रमाणान्तर का उपन्यास किया जाता है यह इसका भाव है।

(२) सर्वज्ञबीज—यहां पर सर्वज्ञ पद सर्वज्ञता (सर्वज्ञपन) रूप अर्थ का वाचक है इसी आशय से कहते हैं (सर्वज्ञता का) इति, किसी पुस्तक में (सार्वज्ञ्यबीजम्) ऐसे भी पाठ देखने में आता है परन्तु व्याख्याकारों को वह सम्मत नहीं है, ... में होने से ही सर्वज्ञतारूपधर्म का लाभ होता है, इस से सर्वज्ञता का कारण होने से ज्ञान ही सर्वज्ञबीज का यहां अर्थ जानना।

(३) जो वस्तु किसी की अपेक्षा से न्यून वा अधिक होय वह सातिशय कहा जाता है औ जो पदार्थ काष्ठा को प्राप्त हुआ कहीं विश्रान्त हो जाता है वह निरतिशय कहा जाता है।

एवंच भूताऽनुग्रह ही प्रवृत्ति का कारण है अन्य कोई नहीं यह सिद्ध हुआ।

अपने प्रयोजन के न होने पर भी कृपा से प्रवृत्ति होती है यह निरीश्वरवादी पञ्चशिखाचार्य्य जी भी मानते हैं क्योंकि उन्हों ने यह कहा है कि (आदिविद्वान् परमर्षि (१) कपिलमुनि भगवान् योगबलनिर्मित चित्त को आश्रयण कर कृपा से जिज्ञासु आसुरिनामक ब्राह्मण के प्रति पञ्चविंशति तत्त्वों का उपदेश करते भये)॥ २५॥

इदानीं (पूर्वसूत्रोक्त अनुमान द्वारा ब्रह्मादि ही निरतिशयज्ञान का आधार क्यों नहीं होते) इस आशङ्का को निवारण करते हुये ब्रह्मादिकों से भी ईश्वर को विशेष कहते हैं—

सू० स एषः* पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्॥ २६॥

भाषा—(स एषः) सो यह परमेश्वर (पूर्वेषाम्) पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादिदेवताओं का (अपि) भी (गुरुः) उपदेष्टा वा जनक है, क्योंकि (कालेनाऽनवच्छेदात्) काल कर अवच्छिन्न (परिमित) न होने से।

अर्थात्—जैसे ब्रह्मादि देवता सृष्टि महाप्रलय में उत्पत्ति विनाशशील होने से कालपरिच्छिन्न हैं(२) तैसे ईश्वर नहीं क्योंकि यह सर्वदा विद्यमान होने से कालपरिच्छेद से रहित है, अतः ब्रह्मादि देवताओं को उत्पन्न कर उन के प्रति ज्ञान देने से यह ईश्वर उन सब का गुरु, जनक, औ उपदेष्टा है।

एवं च जैसे वर्तमानसर्ग के आदि में ज्ञानैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर सिद्ध है तैसे पूर्वसर्गों के आदि में भी एतादृश विद्यमान होने से यह परमेश्वर ही अनादि सर्वज्ञ निरतिशयज्ञान का आधार है ब्रह्मादिक नहीं यह सिद्ध हुआ।

ब्रह्मा को उत्पन्न कर उस के प्रति ज्ञान उपदेश किया है यह "यो ब्रह्माणं

---

(१) (आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय [illegible] (तत्त्वं) प्रोवाच) यह पञ्चशिखाचार्य्य का वचन है।

(*) भाष्यकारों ने इस सूत्र के आदि में (स एषः) इस वाक्य का संबन्ध किया है इस से सूत्र के सङ्ग ही लिखा गया है, कोई व्याख्याकार तो इस को सूत्रस्थ ही कहते हैं, अस्तु।

(२) जो पदार्थ किसीकाल में होय औ किसी काल में न होय वह कालपरिच्छिन्न कहा जाता है ब्रह्मादिक भी सृष्टि से पूर्व औ महाप्रलय से अनन्तर नहीं रहते हैं इस से वह भी कालपरिच्छिन्न हैं, यह भाव है।

विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (१) इत्यादि वेदवाक्यों में प्रसिद्ध ही है॥ २६॥

इस प्रकार पूर्वप्रकरण से ईश्वर का निरूपण कर इदानीं तिस ईश्वर के प्रणिधान कथनार्थ प्रथम ईश्वर का वाचक कहते हैं—

सू० तस्य वाचकः प्रणवः॥ २७॥

भाषा—(तस्य) तिस ईश्वर का (वाचकः) बोधक शब्द (प्रणवः) ओंकार है।

अर्थात्—यथा शृंग-पुच्छ-सास्ना * वाले पशुविशेष (गाय-बैल) का वाचक गो शब्द है तथा सर्वज्ञतादिधर्मशील परमेश्वर का वाचक ओंकार है, औ ईश्वर इस ओंकार का वाच्य है।

अत एव योगियाज्ञवल्क्य ने "अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः, तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाऽऽहूतः प्रसीदति" (२) इस वाक्य से ओंकार को परमेश्वर का नाम कहा है।

औ कोई यह भी कहते हैं कि-प्रतिमा में विष्णुबुद्धि के तुल्य ओंकार में ब्रह्मबुद्धि का उपदेश होने से ओंकार ब्रह्म का प्रतीक है अत एव "एतदाऽऽलम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" इस मन्त्र से यम ने नचिकेता के प्रति ओंकार को श्रेष्ठ आलम्बन कहा है।

---

(१) "तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" यह इस मन्त्र का शेष है, जो परमात्मा सृष्टि के आदि में ब्रह्मा जी को उत्पन्न करता भया, औ जो परमेश्वर तिस ब्रह्मा के प्रति वेदों का सम्प्रदान करता भया अर्थात् उपदेशद्वारा ब्रह्मा जी के हृदय में प्रकाश करता भया तिस आत्मबुद्धिप्रकाशक देवकी शरण को मैं मुमुक्षु प्राप्त होता हूं यह यजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ अध्याय के १८ मन्त्र का अर्थ है। ईश्वर की ज्ञान शक्ति को आश्रयण कर ही ब्रह्मादिक सर्वज्ञ कहे जाते हैं वस्तुतः मुख्य सर्वज्ञ ईश्वर ही है यह तत्त्व है।

* जो गौओं के गले में कम्बल सा लटका होता है वह सास्ना है।

(२) (अदृष्टविग्रह) इन्द्रियों का अविषय जो भावग्राह्य मनोगम्य दे[illegible] में मेश्वर का ओङ्कार यह नाम है क्योंकि ओङ्कार रूप नाम से आहूत (बुलाया हुआ) वह परमेश्वर प्रसन्न हो जाता है यह इस का अर्थ है। जैसे गो पद के उच्चारण से अनन्तर ही शृङ्गादिविशिष्टव्यक्तिविशेष चित्त में भान हो जाता है तैसे ओङ्कार के उच्चारण से अनन्तर भी सच्चिदानन्द परमात्मा का चित में भान हो जाता है अतः इन दोनों का परस्पर वाच्यवाचकभावसंबध है यह भाव है। वाचक, अभिधायक, संज्ञा, नाम, यह एकार्थक हैं, एवं वाच्य, अभिधेय, सञ्ज्ञी, नामी यह भी एकार्थ जानने।

जिस अधिष्ठान में ब्रह्मबुद्धि से ब्रह्म की उपासना कियीजाती है वह प्रतीक औ आलम्बन कहा जाता है जैसा कि शालग्रामादि, अस्तु।

आशङ्का—जो (१) यह सूत्रकार ने ईश्वर–प्रणव का वाच्यवाचकभाव संबन्ध कहा है सो सङ्केतकृत (सङ्केत जन्य) है वा प्रदीपप्रकाश वत् सङ्केत द्योत्य है, अर्थात्–इस पद से इस अर्थ का श्रोता को बोध होय इस प्रकार की ईश्वर की इच्छा का नाम सङ्केत है, घट पद से पृथुबुन्धोदर कम्बुग्रीववाले (स्थूलगोलउदर औ शङ्खवत् गर्दनवाले) पदार्थ का बोध होय यह इच्छा का स्वरूप है, सो क्या यह सङ्केत ही घट पद के स्थूलउदरादि रूप अर्थ के संग संबन्ध को उत्पन्न करता है यह मानते हो, वा घट पद में स्थूलोदरादिरूप अर्थ के बोध की शक्ति तो प्रथम ही थी परन्तु सङ्केत ने उस को ज्ञात करा दिया जैसे विद्यमान रूप को ही दीपप्रकाश ज्ञात करा देता है यह मानते (२) हो ?

समाधान—जैसे (३) मीमांसक शब्दअर्थसंबंध को नित्य मानते हैं तैसे हमारे मत में भी शब्दार्थ का वाच्यवाचकभाव संबन्ध नित्य ही है, केवल संकेत-मात्र से उस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होती है कुछ संकेत से यह सम्बन्ध जन्य नहीं है।

अर्थात्—जैसे पिता–पुत्र का परस्पर जन्यजनकभावसम्बन्ध विद्यमान हुआ ही (यह इस का पिता औ यह इस का पुत्र है) इस प्रकार सङ्केत से प्रकाश किया जाता है कुछ इस सङ्केत से ही वह पिता औ वह पुत्र नहीं हुआ है तैसे ईश्वरकृत सङ्केत भी विद्यमान शब्दार्थसम्बन्ध को प्रकाश करता है कुछ उत्पन्न नहीं करता है।

इस प्रकार सर्वत्र ही सङ्केत विद्यमान सम्बन्ध का प्रकाशक है, कुछ जनक नहीं यह जानना।

यह सङ्केत जैसे इस सर्ग में है तैसे सर्गान्तर में भी विद्यमान ही था, अतः पूर्व२ सम्बन्ध के अनुसार उत्तर२ सर्ग में भगवान् सङ्केत करता है कुछ ऐसे ही नहीं।

---

(१) " किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वम्, अथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितम् " [illegible] नुसार शङ्का का उत्थापन करते हैं (जो यह) इत्यादि से।

(२) यदि सङ्केत से वाच्यवाचकभाव संबन्ध की उत्पत्ति मानी जाय गी तब जन्य होने से संबन्ध अनित्य कहा जाय गा औ यदि संकेत से उत्पन्न नहीं होता किन्तु जनाया जाता है इस प्रकार सङ्केत को द्योतक मानो गे तो संबन्ध नित्य कहा जाय-गा, इन दोनों में से कौन मत संगत है यह प्रष्टा का भाव है।

(३) " स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः " इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये अभिमत को संगत मानकर सिद्धान्त कहते हैं (जैसे) इत्यादि से।

इस प्रकार अनादिसिद्ध वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को सङ्केतद्वारा द्योत्य मान करही वेदार्थज्ञाता मीमांसक शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य (१) मानते हैं ॥२७॥

इस प्रकार जिस साधक ने ईश्वर प्रणव का वाच्यवाचकभाव ज्ञात कर लिया है तिस के प्रति कर्तव्य प्रणिधान का प्रतिपादन करते हैं—

(विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः (*)

सू० तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

भाषा—(विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः) पूर्वोक्तप्रकार से ज्ञात हुया है ईश्वर-प्रणव का वाच्यवाचकभाव जिस योगी को, तिस योगी को (तज्जपः) तिस प्रणव का जप, औ (तदर्थ) तिस प्रणव के अर्थभूत ईश्वर का (भावनम्) चिन्तन, कर्तव्य है।

अर्थात्—प्रणवजपपूर्वक ईश्वर का ध्यान करना योगी को उचित है क्योंकि इसी का नाम ईश्वरप्रणिधान है।

इस प्रकार प्रणव को जपते हुये औ प्रणव के अर्थभूत ईश्वर का चिन्तन करते हुये योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है औ तदनन्तर निजरूप का साक्षात्कार भी योगी को हो जाता है।

यद्यपि जप औ ईश्वरभावना का एककाल में सम्भव नहीं हो सकता तथापि भावना से पूर्व औ पश्चात् काल में जप करे यह क्रम जानना (२)।

अत एव व्यास जी ने " स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्, स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते " (३) इस वचन से इसी क्रम का उपदेश किया है।

---

(१) यद्यपि प्रलय में अपनी शक्ति के सहित ही शब्द प्रधान में लय हो जाता है तथापि फिर सर्गकाल में शक्तिसहित ही आविर्भाव हो जाता है कुछ शक्तिरहित नहीं अतः पूर्व संबन्ध के अनुसार ही सङ्केत होता है कुछ विलक्षण नहीं, अत एव इस व्यवहारपरम्परा से शब्दाऽर्थसंबन्ध नित्य है, यह तत्त्व है।

(*) इतने पाठ का भाष्यकारों ने सूत्र के आदि में अध्याहार किया है, अत एव इस का उपन्यास किया है।

(२) चित्त को सर्व ओर से निवृत्त कर केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है, अतः एक काल में दोनों संभव नहीं, सामान्य से स्मरण करने में तो एक साथ होने में कोई बाधक नहीं यह जानो।

(३) स्वाध्याय-नाम प्रणवजप का है, प्रणवजप से अनन्तर योगाभ्यास करे औ योगाभ्यास से अनन्तर फिर प्रणवजप करे इस प्रकार जपयोग की संपत्ति होने से परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, यह इस का अर्थ है।

यद्यपि (१) "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्, यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्"(२) इस वाक्य से कृष्ण भगवानने साक्षात् ही ईश्वरप्रणिधान को मोक्ष का जनक कहा है तथाऽपि "आस्थितो योगधारणाम्" इस पूर्व वाक्यसे एकवाक्यता कर (ओङ्कारजपपूर्वक ईश्वर ध्यान से योग को प्राप्त हुआ योगी परमगति को प्राप्त होता है) इस प्रकार अर्थ कर समन्वय कर लेना, नहीं तो सूत्रकार ने जो ईश्वरप्रणिधान को समाधिलाभ द्वारा मोक्ष का जनक कहा है सो बाधित हो जायगा ॥ २८ ॥

(क्या ईश्वर के प्रणिधान से केवल समाधि का ही लाभ होताहै वा अन्य भी कुछ इस का फल है) इस आकांक्षा के निवारणार्थ सूत्रकार फलान्तर भी कहते हैं।

सू० ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च ॥२९॥

भाषा-(ततः) तिस पूर्व उक्त ईश्वर के प्रणिधान से (प्रत्यक्चेतन) अन्तःकरण(३)में स्थित चेतनरूप आत्मा का (अधिगमोऽपि) साक्षात्कार भी होजाता है (च) और (अन्तरायाऽभावः) वक्ष्यमाण अन्तराय=विघ्नों का अभाव होता है।

अर्थात्—जैसे ईश्वरके प्रणिधान से समाधि लाभ होता है तैसे अन्तरायों के अभावद्वारा निज शुद्धरूप का भी साक्षात्कार हो जाता है।

कुछ ईश्वरप्रणिधान से शीघ्र समाधि का ही लाभ होताहै यह मत जानना किन्तु अन्तरायनिवृत्तिपूर्वक स्वरूप साक्षात्कार भी सङ्ग के सङ्ग ही हो जाता है, इसी के बोधनार्थ सूत्र में (अपि) यह पद दिया है।

भाव यह है कि-ईश्वरभावनासे (जैसे पुरुषविशेष ईश्वर शुद्ध प्रसन्न केवल

---

(१) सूत्रकार ने पूर्व २३ इस सूत्र से औ द्वितीयपाद में ४१ इस सूत्र से ईश्वर प्रणिधान को समाधिसिद्धि का साधन कहा है औ भगवान ने मोक्ष का उपाय कहा है इस विरोध का परिहार करने के लिये कहते हैं (यद्यपि) इत्यादि से। अथवा दोनों प्रमाणों से ईश्वरप्रणिधान दोनों फलों का देनेवाला है, इस प्रकार विरोधाभाव जान लेना।

(२) ब्रह्म के वाचक प्रणव का जप औ मेरा स्मरण जो पुरुष करता है वह देह त्याग से अनन्तर परम गति को प्राप्त होता है यह कृष्ण वाक्य का अर्थ है। अध्याय ८। श्लोक १३।

(३) जडवर्ग प्रकृति आदि से (प्रतिकूल) विलक्षण रूप से जो प्रतीत होता है चेतन वह प्रत्यक्चेतन कहा जाता है इसी का नाम जीव है, अथवा (प्रत्यक्) अन्तःकरण में होने वाला, जो चेतन वह प्रत्यक्चेतन है, सर्वथा ही प्रत्यक्चेतन नाम जीवात्मा का है, यही कहते हैं (अन्तःकरण) इति।

अनुपसर्ग (१) है तैसे मैं भी शुद्ध असङ्ग हूं) इस प्रकारका निश्चय पुरुष को होता है, इसी को ही प्रत्यक्चेतनाऽधिगम, औ पुरुपदर्शन औ पुरुषसाक्षात्कार कहते हैं।

यद्यपि ईश्वर की भावना से ईश्वर का ही साक्षत्कार होना उचित है आत्मा का नहीं क्योंकि यह नियम है कि-जिस की भावना कियी जाती है उसी का ही साक्षात्कार होता है अन्य का नहीं (२) तथापि ईश्वर औ पुरुष को परस्पर अत्यन्त सदृश होने से पुरुपका भी साक्षात्कार संभव होसकता है।

अर्थात्—विजातीय वस्तु की भावना से विजातीय वस्तु का साक्षात्कार होना यद्यपि असम्भव है तथापि सजातीयभावना से सजातीय का साक्षात्कार होना अनुपपन्न नहीं क्योंकि एक शास्त्र के अभ्यास से सजातीयशास्त्र का अनुभव लोक में प्रत्यक्ष दृष्ट है।

व्यवधान का अभाव होने से (३) प्रथम ईश्वर का साक्षात् न हो कर अपने रूप काही साक्षात्कार होता है यह सूत्रकार का आशय है ॥९॥

जिन अन्तरायोंका ईश्वरप्रणिधान से अभाव होता है वह कौन हैं, यदि यह कहो कि जो चित्त को विक्षिप्त कर एकाग्रता से प्रच्युत कर देते हैं वही अन्तराय हैं, तो इन की इयत्ता कहनी चाहिये कि इतने हैं, इस आकाङ्क्षा के निवारणार्थ सूत्रकार अन्तरायों का स्वरूपनिर्देश करते हैं—

सू० व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

भाषा—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व, यह नव (चित्तविक्षेपाः) चित्त के विक्षेपक हैं अतः (ते) ये ही नव (अन्तरायाः) योग के विघ्न हैं।

अर्थात्—इन नवों के होने से ही पूर्वोक्त प्रमाणादि वृत्तियां उत्पन्न होकर चित्त को विक्षिप्त कर देती हैं औ इन के अभाव से चित्त स्थिर हो जाता है,

(१) (प्रसन्न) क्लेशरहित, (केवल) धर्माऽधर्मरहित, (अनुपसर्ग) जन्म-अवस्थैं भोग रूप विघ्नों से रहित।

(२) कामिनी की भावना करने से कामिनी का ही साक्षात्कार होना है कुछ सनकादिक ऋषियों का नहीं यह भाव है।

(३) जिस की भावना कियी है उसका साक्षात्कार न होकर आत्मा का ही साक्षात्कार क्यों होता है, इसका उत्तर कहते हैं - (व्यवधानाऽभाव होने से) इति।

इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से (१) यह नव योग के प्रतिपक्षी (विरोधी) हैं ।

व्याधिः=धातु-रस-करण का वैषम्य अर्थात् (२) वातपित्तकफसंज्ञक तीनों धातुओं में से किसी एक धातु का कोप होकर न्यूनाऽधिक हो जाना धातुवैषम्य, औ भुक्त पीत (खाये पीये) अन्नजल का सम्यक्प्रकार (अच्छी तरह) परिपाक न होना रसवैषम्य, नेत्रादि इन्द्रियों की शक्ति का मन्द मध्यम हो जाना करणवैषम्य कहा जाता है, इस धातु-रसकरण के वैषम्य का नाम व्याधि है।

स्त्यानम्=चित्त की अकर्मण्यता, अर्थात् इच्छा होने पर भी किसी कार्य्य करने की क्षमता (सामर्थ्य) न होने का नाम स्त्यान है।

संशय=मैं योग साध सकूंगा कि नहीं अथवा यह योगरूप कार्य्य सिद्ध होगा कि नहीं, इस प्रकार दो कोटि को विषय करने वाला जो ज्ञान वह संशय है।

प्रमाद=समाधि के साधनों का अभावन, अर्थात् समाधि के साधनों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव।

आलस्य=शरीर औ चित्त के गुरुत्व से प्रवृत्ति का अभाव, गुरुत्व नाम भारीपन का है तहां शरीर का भारीपन कफ के प्रकोप से होता है औ चित्त का भारीपन, तमोगुण के आधिक्य से होता है।

अविरति=विषयेन्द्रिय संयोग से चित्त की विषयों में तृष्णा होने से वैराग्य का अभाव।

---

(१) इन नवों के होने से विक्षेप का होना अन्वय है, इन के अभाव से विक्षेप का अभाव होना व्यतिरेक है।

(२) शरीर के धारण (स्थिति) करने से वात-पित्त-कफ इन तीनों का नाम धातु है इनका इयत्ता (अनदाज) को त्याग कर न्यूनाधिक होजाना धातुवैषम्य कहा जाता है इसी को वैद्यक में धातु प्रकोप कहा जाता है। परिपाकदशापन्न भुक्तपीत अन्नजल के सार का नाम रस है, तिसका वैषम्य यही है कि खाया पीया जल्दी हजम न होना। करण नाम नेत्रादिइन्द्रियों का है उन का वैषम्य यही है कि कम देखना या कम सुनना, इत्यादि जान लेना, यही कहते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

भ्रान्तिदर्शन=विपर्य्ययज्ञान, अर्थात् अन्यवस्तु में अन्यप्रकार का ज्ञान (१)।

अलब्धभूमिकत्व=किसी प्रतिबन्धक वश से वक्ष्यमाण मधुमती आदि योग-भूमि का लाभ न होना।

अनवस्थितत्व=किसी एक योगभूमि का कथञ्चित् लाभ होने पर भी उस में चित्त की निरन्तर स्थिति का अभाव, अर्थात् किसी योग की अवस्था का लाभ होने से यदि उस में ही कृतकृत्य मान ले गा तो समाधि के अलाभ से चित्त स्थिर नहीं होगा क्योंकि—समाधि के लाभ से ही चित्त स्थिर होता है ऐसे नहीं, एवं च समाधि के अलाभ से जो चित्त की अस्थिरता वही अनवस्थितत्व पद का वाच्य है यह फलित हुआ (२)।

यह पूर्वोक्त नव ही चित्तविक्षेप, योगमल, योगप्रतिपक्ष, योगान्तराय, इन नामों से व्यवहृत होते हैं ॥ ३० ॥

केवल यह नव ही योग के प्रतिबन्धक हैं यह मत जानना किन्तु इन नवों के होने से अन्य भी प्रतिबन्धक उपस्थित हो जाते हैं, इस आशय से सूत्रकार उन अन्यों का भी स्वरूप निर्देश करते हैं—

सू० दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

भाषा—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास, यह पांचो ही (विक्षेपसहभुवः) पूर्वउक्त विक्षेपों के सङ्ग होने वाले हैं।

अर्थात्–पूर्वउक्तविक्षेपों के होने से यह पांच अन्य भी प्रतिबन्धक उपस्थित हो जाते हैं।

दुःख=जिस के संबन्ध होने से पीडित हुये पुरुष उस की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं वह दुःख कहा जाता है, सो यह दुःख आध्यात्मिक-आधिभौतिक आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का है।

तहां कामक्रोधादिजन्य जो मानसपरिताप औ वातपि[illegible] में

(१) यहां योगपक्ष में विपर्य्ययज्ञान यही है कि योग के साधनों को असाधन जानना औ असाधनों को साधन जानना।

(२) जिस हेतु से समाधि के लाभ बिना चित्त स्थिर नहीं होता है अतः समाधि के लाभ में ही पुरुष को प्रयत्न करना उचित है यह इस का भाव है।

जो शरीर में होनेवाला ज्वरादिरोग, यह सब आध्यात्मिकदुःख हैं (१) एवं सिंहव्याघ्र आदि भूतों से जन्य जो दुःख वह आधिभौतिक है, औ वज्रपात ग्रहपीडा, अतिवृष्टि-अतिगरमी आदि से जन्य जो दुःखं वह आधिदैविक है।

दौर्मनस्यम्=अभिलषितपदार्थविषयक इच्छा की पूर्ति न होने से जो चित्त में क्षोभ वह दौर्मनस्य है।

अङ्गमेजयत्व=शरीर के प्रत्येक अङ्गों में कम्प का होना। (२)

श्वास=इच्छा से विना ही बाह्य वायु का नासिका से अन्तर प्रवेश होजाना।

प्रश्वास=इच्छा से विना ही आन्तर (भीतर की) वायु का बाहर निकस जाना। यह पांचों ही विक्षिप्तचित्त को होते हैं औ समाहितचित्त को नहीं होते हैं, अतः यह विक्षेपसहभुव कहे जाते हैं॥ ३१॥

यह सब विक्षेप समाधि के विरोधी हैं अतः पूर्वोक्त अभ्यास वैराग्यद्वारा ही इन का निरोध करना उचित है, (३) सो अभ्यास वैराग्य पूर्व कह चुके हैं, इदानीं इन दोनों में से पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधानरूप अभ्यास के विषय को उपसंहार करते हैं--

सू० तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाऽभ्यासः॥३२॥

भाषा– (तत्प्रतिषेधार्थम्) तिन पूर्वोक्त विक्षेपों के प्रतिषेध (अभाव) के लिये (एकतत्त्वाऽभ्यासः) एकतत्त्व का अभ्यास करे।

यहां पर एक शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है, एवं च एकतत्त्व का अर्थ प्रधानतत्त्व हुआ, सो प्रधानतत्त्व यहां पर ईश्वर है, उस ईश्वररूप आलम्बन में वारंवार चित्त का निवेश करना ही एकतत्त्व का अभ्यास कहा जाता है औ इसी का नाम ईश्वरप्रणिधान है, एवं च यह अर्थ हुआ कि इन सब विक्षेपों की निवृत्ति के लिये पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान का योगी अनुष्ठान करे।

यद्यपि एकतत्त्व शब्द से किसी एक तत्त्व के ही ग्रहण होने का यहां

(१) यद्यपि निखिल दुःख मन का धर्म होने से मानस ही हैं तथापि जो मन [illegible] होय वह मानस कहा जाता है औ जो अन्य किसी द्वारा मन से जन्य होगा वह तिस २ नाम से व्यवहृत होता है यह भेद है। आत्मा नाम मन का औ शरीर का है इन दोनों के अधिकार (निमित्त) से जो दुःख उत्पन्न होता है वह आध्यात्मिक कहा जाता है इसी से ही आध्यात्मिक के दो भेद कहे गये हैं यह जानो।

(२) तहां शरीर का कांपना समाधि के अङ्गभूत आसन का विरोधी है। एवं श्वास को रेचक-प्राणायाम का औ प्रश्वास को पूरक-प्राणायाम का विरोधी जान लेना।

(३) यद्यपि ईश्वरप्रणिधानरूप अभ्यास ही सूत्रकार ने विक्षेपों [illegible] कहा है तथापि इस भाष्यकार के वाक्य से वैराग्य को भी उस का सहकारी जान लेना।

सम्भव हो सकता है कुछ ईश्वररूप विशेपतत्त्व का नहीं तथापि ईश्वरप्रणिधान का प्रकरण होने से ईश्वर का ही यहां ग्रहण करना उचित है क्योंकि शास्त्र का यह नियम है कि–जहां अनेकार्थ होने से शब्द के अर्थ विशेप का निश्चय न होय वहां प्रकरणबल से ही अर्थ विशेप का ग्रहण होता है (१) ।

किञ्च–" उपसंहरन्निदं सूत्रमाह " इस वचन से भाष्यकारों ने इससूत्र को उपसंहारपर (समाप्तिपर) निरूपण किया है औ उपसंहार उसी का ही होता है जिस का उपक्रम (आरम्भ) कियाजाय, औ उपक्रम यहां पर ईश्वरप्रणिधान का ही है, अतः उसी का उपसंहार होना उचित है अन्य का नहीं,

एवं च उपक्रमउपसंहार की एकरूपता के वल से एकतत्त्व शब्द को ईश्वरार्थक मान कर यहां ईश्वरप्रणिधान का ही ग्रहण करना योग्य है कुछ किसी एक तत्त्व के अभ्यास का नहीं यह सिद्ध हुआ ।

जो कि योगवार्तिककारविज्ञानभिक्षु तथा भोजवृत्तिकार ने इस उपक्रमोपसंहार की एकरूपता को न जान कर एकतत्त्व शब्द का अर्थ कोइ एक स्थूलतत्त्व माना है सो प्रकरणविरुद्ध तथा पूर्वोक्त भाष्यकारोक्त उपसंहार-कथन से विरुद्ध होने से हेय जाननां ।

किञ्च–पूर्व २९ इस सूत्र से ईश्वरप्रणिधान को अन्तरायनिवृत्ति का उपाय कथन कर, वह अन्तराय कौन हैं इस आकाङ्क्षा के उदय होने पर, ३०, ३१, इन दोनों सूत्रों से अन्तरायों का स्वरूप निर्देश कर फिर इस सूत्र से तिन्हों के अभाव के लिये एकतत्त्वाऽभ्यास कहा गया है, एवं च जिस ईश्वरप्रणिधान को आरम्भ में विक्षेपनिवृत्ति का उपाय कहा है उसी का यहां पर उपसंहार करना उचित है क्योंकि इसी का नाम उपक्रमोपसंहारैकरूपता है।

यदि यह कहो कि–यथा ईश्वरप्रणिधान विक्षेपों की निवृत्ति का उपाय है तथा एकतत्त्वाभ्यास भी एक स्वतन्त्र पृथक् ही उपाय सूत्रकार ने कहा है तो फिर सूत्रकार ने " एकतत्त्वाऽभ्यासो वा " इस प्रकार विकल्पबोधक वा शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया क्योंकि वा शब्द का प्रयोग करने से ही (अथवा विक्षेपों की निवृत्ति के लिये एकतत्त्व का ही अभ्यास करे कुछ ईश्वर के प्रणिधान का नियम नहीं है) यह अर्थ हो सकता है अन्य... में

किञ्च–" यथाभिमतध्यानाद् वा " ३९ इस सूत्र से जब आगे किसी

---

(१) जैसे सैन्धव शब्द को लवन औ अश्व रूप अनेकार्थक होने पर भी भोजनरूप प्रकरण के वल से लवणरूप अर्थ का निश्चय औ गमनरूप प्रकरण के बल से अश्वरूप अर्थ का निश्चय होता है तैसे यहां भी प्रकरण के बल से विशेप अर्थ का निश्चय जान लेना ।

एक स्थूलतत्त्व के अभ्यास को कहना ही है तो फिर यहां उस के कथन का अवसर ही क्या, अलंबहुना ।

यहां प्रसङ्ग से यह भी अवश्य ज्ञातव्य है कि–जो (१) कि वैनाशिक * लोक चित्त को क्षणिकत्व युक्त प्रत्यर्थनियत प्रत्ययमात्र (२) मानते हैं तिन के मत में सब चित्त को एक एक विषय में ही नियत स्थित होने से अनेकविषय-गमनशीलतारूप विक्षेप के अभाव से एकाग्र चित्त का सम्भव नहीं हो सकता है, एवं च वैनाशिकगुरु बुद्ध जी ने जो विक्षेपनिवृत्ति के लिये शिष्यों के प्रति-चित्त की एकाग्रता के अर्थ भावना का उपदेश किया है सो अनर्थक होगा क्योंकि जब निखिलविषयों से निवृत्त कर किसी एक विषय में चित्त की निरन्तरस्थिति कियी जाय तब ही चित्त एकाग्र कहा जा सकता है सो यह निरन्तर एक विषय में चित्त की स्थिति बौद्ध सिद्धान्त से विरुद्ध है क्योंकि वह चित्त को प्रत्यर्थनियत औ क्षणिक मानते हैं ।

अतः बुद्धउक्त एकाग्रता के उपदेश से विरुद्ध होने से चित्त को प्रत्यर्थ-नियत मानना स्वसिद्धान्तविरुद्ध है (३) एवं च चित्त प्रत्यर्थनियत नहीं है यह सिद्ध हुआ ।

यदि बौद्ध यह कहें (४) कि–एक विषय के परित्याग पूर्वक अन्याऽन्य विषयों

---

(१) यहां पर भाष्यकारों ने " यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम् " इत्यादि ग्रन्थ से बौद्धाऽभिमतचित्त की क्षणिकता निराकरण कियी है; अतः उस भाष्य का अनुवाद करते हुये संक्षेप से क्षणिकवाद का खण्डन करते हैं (जोकि) इत्यादि से ।

* वैनाशिक नाम बौद्धों का है क्योंकि वह निखिल प्रपञ्च को क्षणिक होने से विनाशशील मानते हैं ।

(२) द्वितीय क्षण में जो नष्ट होय वह क्षणिक कहा जाता है, क्षणिक होने से ही चित्त प्रत्यर्थनियत है, अर्थात् जिस विषय को चित्त ग्रहण करता है उस से अन्य विषय का ग्रहण न कर उसी विषय में समाप्त हो जाता है, अतएव प्रत्ययमात्र अर्थात् वृत्तिरूप आधेय से रहित हुआ निराधार है ।

(३) (सर्वं दुःखं ही वस्तुजात क्षणिक औ दुःखस्वरूप है इत्यादि भावना के परि-पाक से चित्त एकाग्र होता है) यह बौद्धों की उक्ति वदतोव्याघातदोष युक्त होने से अप्रामाणिक है, अपने ही वाक्य से जहां स्वउक्ति का विरोध होय वह वदतोव्याघात कहा जाता है । यह भाव है ।

(४) " योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते " इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये बौद्धों का अभिप्राय वर्णन करते हैं (यदि यह कहें कि) एक विषय से

में गमनशीलता को विक्षेप औ एक विषय में निरन्तर स्थित रहने को एकाग्रता नहीं कहते हैं किन्तु नीलपीतादि-अनेक-परस्पर-विभिन्नविषयाकार होने से जो क्षण क्षण में चित्तनिष्ठ विलक्षणाकारधारणशीलता है वह विक्षेप है औ ज्ञानमात्र होकर जो निरन्तर सदृशविषयाकार से चित्त का प्रवाह होना वह एकाग्रता है, सो यह एकाग्रता हमारे मत में भी संभव हो सकती है क्योंकि यद्यपि चित्त क्षणिक है तथापि प्रथम क्षण जिस विषय में गमन कर चित्त समाप्त हुआ है फिर द्वितीय क्षण में भी उस के सदृश विषय में ही निरन्तर उत्पन्न औ समाप्त करना ही साध्य है क्योंकि सदृश प्रवाह का धारण करना ही हमारे मत में एकाग्रता है।

तब उन से यह पूछते हैं कि—जो वह सदृशप्रत्ययप्रवाहशीलता रूप एकाग्रता है वह प्रवाहचित्त का (उत्तरोत्तरधारारूपचित्त के प्रवाह का) धर्म है वा प्रवाहांश का (प्रत्येकचित्त की व्यक्ति का) धर्म है। यदि चित्त के प्रवाह का धर्म कहो गे तो प्रत्येकव्यक्तियों से भिन्न एक कोई चित्तप्रवाह ही नहीं है जिस का आप धर्म कहियेगा (१)।

किञ्च—वस्तुमात्र को ही आप के मत में क्षणिक होने से चित्तप्रवाह को भी वस्तु होने से क्षणिक ही मानना पड़ेगा, एवं च स्थिर एक आश्रय के अभाव से एकाग्रतारूप धर्म का निरन्तर रहना सुतरां असंभव (२) हुआ।

यदि प्रत्येकचित्तव्यक्तियों का धर्म कहोगे तो फिर चाहे विलक्षणप्रत्यय प्रवाहशाली होय वा सदृशविषयप्रवाहवाला होय सर्वथा प्रत्यर्थनियत ही कहा जायगा (३) क्योंकि जिस विषय में उत्पन्न हुआ उसी विषय में समाप्त होने से अनेक गमनरूप विक्षेप का यहां संभव नहीं है।

एवंच विक्षेपनिवृत्ति के लिये जो एकाग्रता का उपदेश किया है वह फिर भी असङ्गत हुआ।

अतः स्वभावतः अनेक विषयों में गमनशील, औ उपाय द्वारा एक विषय में स्थिरतावाला एक स्थिर चित्त अवश्य ही माननीय है।

---

(१) प्रत्येक २ चित्तव्यक्ति ही मिलित हुयीं चित्तप्रवाह का वाच्य है कुछ व्यक्तियों से भिन्न चित्त का प्रवाह नहीं है, क्योंकि प्रवाह वाले से भिन्न प्रवाह नामक कोई वस्तु नहीं है यह भाव है।

(२) एकाग्रता भी एक वस्तु ही है, तथा च वस्तु होने से-एकाग्रता भी क्षणिक ही माननी पड़ेगी, यह भी जानो।

(३) सदृशप्रत्यय प्रवाह भी वस्तु होने से क्षणिक ही है तो फिर निरन्तर एकाग्रता प्रवाह का संभव कैसे यह भी सोचो।

किञ्च यदि एक चित्त को स्थिर न मान क्षण २ में चित्त भिन्न भिन्न माने जांयगे तो पूर्व क्षण में अन्य चित्त से ज्ञात हुये पदार्थका अन्य क्षण में द्वितीय चित्त से स्मरण कैसे होगा क्योंकि अनुभव-संस्कार-स्मृति का एक ही आश्रय होता है विभिन्न नहीं (१)।

एवं अन्य चित्त के किये हुये कर्मों का अन्य चित्त फलभोक्ता भी कैसे होगा क्योंकि यह नियम है कि जो कर्म का अनुष्ठान करता है वही उस के फल का भोक्ता है अन्यथा अकृताऽभ्यागम कृतविप्रणाशरूप दो दोष प्रसक्त हो जांयगे (२)।

यदि यह कहो कि यथा पुत्रकृत श्राद्ध से पितृगण को औ पितृकृतवैश्वानरइष्टि से (३) पुत्र को फल शास्त्र में प्रतिपादन किया है तथा अन्य चित्तकृत कर्मों से अन्य चित्त को भी फल का होना संभव है, तो यह भी आप का वक्तव्य समञ्जस नहीं क्योंकि यदि जैसा पिता-पुत्र का परस्पर जन्यजनकभाव संबन्ध है तैसा पूर्वचित्त के सङ्ग उत्तर चित्त का जन्यजनकभाव संबन्ध होता तो आप यह कह सकते थे कि पूर्वचित्त कृत कर्मों के फल का उत्तर चित्त भोक्ता है पर सो आप के मत में है नहीं क्योंकि परस्परसंबन्ध से रहित ही नूतन नूतन चित्त क्षण२ में उत्पन्न होते हैं यह आप का सिद्धान्त है। किञ्च—जैसे पुत्र आदि पिताप्रभृति के उद्देश से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं तैसे कुछ पूर्व-चित्त के उद्देश से तो उत्तरचित्त कर्मों का अनुष्ठान करता नहीं जिस से

(१) यह कदापि संभव नहीं हो सकता है कि देवदत्त ने शास्त्र का अध्ययन किया औ यज्ञदत्त को उस का संस्कार हुआ औ विष्णुदत्तने उस का स्मरण किया है, क्योंकि जिस को ज्ञान होता है संस्कार-स्मरण भी उसी को ही होता है यह अनुभव सिद्ध है, आप के मत में एक क्षण से अनन्तर पूर्वचित्त नष्ट हो कर द्वितीय नूतन चित्त उत्पन्न होता है, तथा च अनुभव से हुआ अन्य चित्त को औ संस्कार हुआ अन्य चित्त औ स्मरण हुआ अन्य चित्त को यह अनुभव से विरुद्ध मानना पड़ेगा, अतः चित्त एक स्थिर ही माननीय है, यह भाव है।

(२) बिना कर्मानुष्ठान से फल की उत्पत्ति का नाम अकृताऽभ्यागम औ किये हुये कर्मों को फल दिये बिना नाश होजाना कृतविप्रणाश कहा जाता है। अन्य चित्त के किये हुये कर्म से यदि अन्य चित्त को फल होगा तो उत्तर चित्त को बिना ही कर्म से फलप्राप्ति होने से अकृताभ्यागम दोष, औ पूर्व चित्त को किये हुये का फल न मिलने से कृतविप्रणाश दोष हुआ।

(३) पुत्र की तेजस्विता वीरतादि के लिये जो पुत्र के जन्मदिन में वैश्वानर देवता के उद्देश से पिता यज्ञ करता है उस का नाम वैश्वानरइष्टि है। श्राद्ध तो स्पष्ट ही है।

उत्तर चित्त को फल होय किन्तु अपने ही निमित्त करता है, तब उत्तर चित्त को फल का संबन्ध कैसे, बहुत क्या कहें जितनी आप कीं युक्तियां हैं वह सब गोमयपायसीयन्याय से भी दुष्ट ही हैं।

अर्थात्-(१) (जैसे गोमय (गोबर) भी पायस (रावड़ी) के तुल्य स्वादु औ भक्ष्य है क्योंकि वह भी दुग्ध की तरह गईआ से ही उत्पन्न होता है) यह युक्ति दुष्ट है तैसे आप की भी सब युक्तियां दुष्ट ही हैं, वस्तुतः इस से भी अधिक दुष्ट हैं क्योंकि उस में तो गोमय को मिष्ट कहने में (गयीआ से उत्पन्न होता है) यह हेतु भी दिया है औ आप के मत में तो अन्यचित्त के किये हुये कर्मों का अन्य चित्त भोक्ता है इस में हेतु ही कोई नहीं मिलता, अतः एक स्थिर चित्त मानना उचित है।

किञ्च (२) यदि प्रतिक्षण में चित्त को अन्य से अन्य नूतन ही मानोंगे तो आप को जो यह अपना अनुभव होता है कि (जो मैं देखने वाला हूं सोई मैं इसको स्पर्श करता हूं) सो अनुपपन्न होगा क्योंकि इस ज्ञान में दर्शन औ स्पर्शन का एक ही कर्ता प्रतीत होता है भिन्न भिन्न नहीं।

अर्थात्-(३) जो मैं दर्शन करता था वही मैं अब स्पर्श करता हुं औ जो मैं स्पर्श करता था सोई मैं अब देखता हुं इस प्रकार भिन्न २ दर्शन स्पर्शनादि ज्ञानों में अहं अहं (मैं मैं) इत्याऽऽकार प्रतीयमान जो उन ज्ञानों का आश्रय वह एक ही प्रतीत होता है विभिन्न नहीं, सो यह भिन्न २ ज्ञानों में अनुगत जो अहं अहं इत्याकारक अभिन्न प्रतीति सो यदि अत्यन्तभिन्न क्षणिक चित्त माने जांयगे तो अनुपपन्न हो जाय गी क्योंकि अत्यन्तभिन्न क्षणिक चित्तों में इस एकाऽऽकार प्रतीति होने का संभव नहीं, औ इस प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्षानुभव (४) का माहात्म्य किसी से अपलाप हो नहीं सकता क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण ही सब से बली है औ इस प्रत्यक्ष प्रमाण के बल से ही अन्य प्रमाण सिद्ध होते हैं।

---

(१) "कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति" इस भाष्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

(२) किञ्च स्वात्माऽनुभवाऽपन्हवश्चित्तस्याऽन्यत्वेप्राप्नोति) इस भा[illegible] में करते हुये दोषान्तर कहते हैं (किञ्च) इत्यादिना।

(३) "यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि" इत्यादि भाष्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

(४) जो मैं देखनेवाला हूं सोई स्पर्श करता हूं यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

कपिलमुनि ने भी "न प्रत्यभिज्ञाबाधात्" अध्याय १ के ३५ सूत्र से इसी प्रकार क्षणिकत्व का खण्डन किया है।

एवं च प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष से क्षणिकत्व का बाधहोने से स्थिर चित्त मानना आवश्यक है।

जोकि बौद्धों ने क्षणिकत्व की सिद्धि के अर्थ (जो वस्तु है वह क्षणिक है, क्योंकि वस्तु होने से, जैसे कि दीप की शिखा) यह युक्ति दी है सो युक्ति भी दीप की शिखा को अनेकक्षण अवस्थायी होने से भ्रममूलक है।

अत एव कपिलमुनि ने "दृष्टान्ताऽसिद्धेश्च" (१) इस सूत्र से दीपशिखा-रूप दृष्टान्त का खण्डन किया है। विस्तर अन्यत्र (२) स्पष्ट है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ईश्वरप्रणिधानरूप अभ्यास को एकाग्रता का उपाय निरूपण कर इदानीं जिन साधनों के अनुष्ठान से रागद्वेषादि—चित्तमल निवृत्तिपूर्वक चित्त प्रसन्न) स्वच्छ निर्मल) हो कर ईश्वरप्रणिधान की योग्यता वाला हो जाता है उन साधनों का प्रतिपादन करते हैं—

सू० मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

भाषा—(सुख दुःख पुण्याऽपुण्यविषयाणाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा, पापात्मा पुरुषों विषयक, यथाक्रम से (मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्) मित्रता, दया, मुदिता=हर्ष, उपेक्षा=उदासीनता, इन धर्मों की (भावनातः) भावना के अनुष्ठान से (चित्तप्रसादनम्) चित्त की प्रसन्नता होती है, वा चित्त को प्रसन्न=निर्मल करे।

अर्थात्—जो पुरुष सुखसम्भोगसम्पन्न (सुखी) हैं उन में मैत्री भावना

---

(१) प्रदीप शिखारूप दृष्टान्त में क्षणिकत्व नहीं है किन्तु सूक्ष्म अनेक क्षणों का भान न होने से बौद्धों को क्षणिकत्व का भ्रम है यह सांख्य के प्रथमाध्यायस्थ ३७ सूत्र का अर्थ है।

(२) स्वामीजी निर्मित बौद्धदर्शनसमीक्षा में स्पष्ट है। अर्थात् यदि चित्त का क्षणिक होने से अत्यन्त भिन्न २ माना जायगा तो नीलपीतादि विलक्षण ज्ञानप्रवाह वाला चित्त बद्ध औ नीलज्ञानादि रहित विशुद्धज्ञानप्रवाह वाला चित्त मुक्त होने से बन्धमोक्ष का एक आश्रय नहीं होगा। एवं भावना के अनुष्ठान करनेवाला चित्त अन्य औ भावनापरिपाकजन्य कैवल्य फल का भोक्ता अन्य, यह भी युक्ति विरुद्ध बौद्धों को मानना पड़ेगा, अतः सर्वथा ही क्षणिकवाद अपाकृत है।

करे (१) औ जो पुरुष दुःखित हैं उन पर कृपा की भावना करे, औ जो पुण्यशील प्राणी हैं उन में मुदिता की भावना करे अर्थात् उन को देख कर आनन्द को प्राप्त होय, औ जो पुरुष पापाचार हैं उन में उपेक्षा नाम उदासीनता की भावना करे अर्थात्—उन के सङ्ग उदासीनभाव से वर्ताव करे।

इस प्रकार इन चारों भावना के अनुष्ठान से शुक्ल धर्म (२) की उत्पत्ति होती है औ तदनन्तर चित्त प्रसन्न हो जाता है, औ फिर प्रसन्न हुआ चित्त एकाग्ररूप स्थितिपद का लाभ कर लेता है।

भाव यह है कि–राग, द्वेष, ईर्ष्या, परापकारचिकीर्षा, असूया, अमर्ष संज्ञक राजसतामसरूप षट् धर्म चित्त को विक्षिप्त कर कलुष (मलिन) कर देते हैं, अतः यह षट् चित्तमल कहे जाते हैं, इन षट्प्रकार के चित्तमलों के होने से चित्त में षट्प्रकार का कालुष्य उत्पन्न होता है यथा–रागकालुष्य, द्वेषकालुष्य, ईर्ष्याकालुष्य, परापकारचिकीर्षाकालुष्य, असूयाकालुष्य, अमर्षकालुष्य।

रागकालुष्य=स्नेहपूर्वक अनुभव किये हुये सुख से अनन्तर जो (यह सुख मुझ को सर्वदा ही प्राप्त होय) इत्याकार राजस वृत्तिविशेष वह रागकालुष्य है क्योंकि यह राग निखिलसुखसाधनविषयों की प्राप्ति के न होने से चित्त को विक्षिप्त कर कलुषित कर देता है।

द्वेषकालुष्य=दुःख भोग से अनन्तर दुःख देने वाले विषयक अनिष्टचिन्तन पूर्वक जो (यह दुःखप्रद नष्ट होय औ मुझ को दुःख न होय) इत्याकार तामस वृत्तिविशेष वह द्वेषकालुष्य कहा जाता है क्योंकि यह द्वेष दुःखहेतु सिंह व्याघ्रादि के अभाव न होने से सर्वदा चित्त को विक्षिप्त कर कलुषित कर देता है।

---

(१) अर्थात्– सुखीप्राणियों के सङ्ग मित्रभाव से वर्ताव करे, मैत्रीनाम द्वेषाऽभाव का औ स्नेह का है।

मनुभाष्यकार मेधातिथि भट्ट तो यह कहते हैं कि मैत्री से द्वेषाऽभाव का ही ग्रहण करना कुछ स्नेह का नहीं क्योंकि स्नेह भी एक तरह का राग होने से बन्धन ही है।

एवं मुदिता नाम भी शोक की निवृत्ति का है कुछ हर्ष का नहीं क्योंकि हर्ष भी मैं एकप्रकार राग का हेतु होने से हेय ही है।

(२) यथा वेदाध्ययनादिनित्यकर्म से जन्य जो पापलेश से रहित धर्म वह शुक्ल कहा जाता है तैसे मैत्री आदि भावना से जन्य जो धर्म वह भी शुक्ल ही जानना क्यों कि इन दोनों में पाप का लेश न होने से यह दोनों शुद्धसात्विक हैं, औ जो धर्म यज्ञादि से उत्पन्न होता है वह कृष्ण-शुक्ल कहा जाता है क्योंकि उसमें हिंसादिजन्य पाप का लेश रहने से वह शुद्धसात्विक नहीं है, यह भाव है।

ईर्ष्याकालुष्य=अन्य पुरुष के गुणाधिक्य वा सम्पत्तिआधिक्य देख कर जो चित्त में क्षोभ (एक प्रकार की जलन उत्पन्न हो जानी) वह ईर्ष्याकालुष्य कहा जाता है क्योंकि यह भी चित्त को विक्षिप्त कर कलुषित कर देती है।

परापकारचिकीर्षाकालुष्य=अन्य किसी के अपकार (बुरायी) करने की इच्छा, यह भी चित्त को विहल कर कलुषित कर देती है।

असूयाकालुष्य=किसी के श्लाघनीयगुणों में दोष का आरोप करना, जैसे किसी व्रतआचारशील को दम्भी पाषण्डी जानना।

अमर्षकालुष्य=कुत्सितवचनश्रवणपूर्वक अपने अपमान से अनन्तर जो उसको न सह्य कर बदला लेने की चेष्टा वह अमर्षकालुष्य कहा जाता है।

यह छै प्रकार के कालुष्य ही पुरुषों के चित्त में विद्यमान हुये चित्त को मलिन कर विक्षिप्त कर देते हैं, अतः सुतरां इन के रहते चित्त प्रसन्न औ एकाग्र होना दुःसाध्य है।

मैत्री आदि भावना द्वारा इन चितमलों की निवृत्ति ही योगेच्छु को प्रथम करणीय है जिस से निर्मल हुआ चित्त एकाग्रता की योग्यतावाला हो जाय यह सूत्रकार का आशय है।

तहां (१) सुखी पुरुषों के सङ्ग मित्रभाव का वर्ताव करने से राग औ ईर्ष्या कालुष्य की निवृत्ति करे, अर्थात्-जब किसी को सुखी देखे तब उस के सङ्ग मैत्री कर यही समझे कि यह सब सुख मेरे मित्र को हैं तो हमें ही हैं, तब जैसे अपने राज्य के न होने पर भी पुत्र के राज्यलाभ को अपना जान उस राज्य में राग निवृत्त हो जाता है तैसे मित्र के सुख को भी अपना सुख मान कर अवश्य ही उस में राग निवृत्त हो जायगा, एवं जब परकीय सुख को अपना ही समझैगा तो उस के ऐश्वर्य को देख कर चित्त में जलन न होने से ईर्ष्या भी निवृत्त ही जायगी।

एवं दुःखित पुरुषों पर कृपा करने से द्वेष औ परापकारचिकीर्षारूप कालुष्य की निवृत्ति करे, अर्थात्-जब किसी दुःखित पुरुष को देखे तो अपने चित्त में (इस (२) विचारे को बड़ा कष्ट होता होगा क्योंकि जब हमें भी कोई संकट

---

(१) इदानीं जिस प्रकार इन भावना के अनुष्टान से रागादिकालुष्य की निवृत्ति होती है वह प्रकार उपपादन करते हैं (तहां) इत्यादि से।

(२) इदानीं "प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा, आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः" इस वृद्ध वाक्य के अनुसार कृपा का अर्थ करते हैं (इस विचारे) इत्यादि से। जैसे अपने प्राण हमें परम प्रिय हैं तैसे अन्य प्राणियों को भी यह प्रिय ही हैं, इस विचार से साधुजन अपने प्राणों के तुल्य सब उपर दया करते हैं, यह इस का अर्थ है।

आन पड़ता है तो कितना दुःख भोगना पड़ता है वह हमीं जानते हैं) यह विचार कर उस के दुःख दूर करने की चेष्टा करे कुछ यह मत समझे कि हमें इस के दुःख वा सुख से क्या प्रयोजन हैं, जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्त में उत्पन्न हो जाय गी तो अपने तुल्य सब को ही सुख की चाहना से वैरी का अभाव होने से द्वेष औ पराऽपकारचिकीर्षा निवृत्त हो जाय गी।

एवं जब पुण्यात्मा जनों के देखे तो चित्त में (अहोभाग्य इस के माता पिता के किं जिन्हों से एतादृश भाग्यशाली कुलप्रदीप सत्पुरुष की उत्पत्ति हुयी है औ धन्य इस को जो तन-मन-धन से यह पुण्यकार्मों में प्रवृत्त हुआ है) इस प्रकार आनन्द को प्राप्त होय, जब इस प्रकार मुदिताभावना चित्त में उत्पन्न होगी तो असूयारूप चित्त की मल भी अवश्य निवृत्त हो जायगी।

एवं पापी पुरुषों को देखे तो अपने चित्त में (यह हम को कुत्सित वचन ही बोलें वा अपमान ही करें हमें इन की कुटिलता से वा इन का बदला लेने का प्रयोजन ही क्या जो चाहें सो करें अपने कर्तव्य का फल यह आप ही भोगेंगे) इस प्रकार उन पर उपेक्षा की भावना करे, इस उपेक्षाभावना से अमर्ष रूप चित्तमल की निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार जब इन चारों भावना के अनुष्ठान से यह सब कालुष्य निवृत्त हो जाते हैं तब वर्षाऋतु से अनन्तर जलवत् चित्त भी अवश्य निर्मल हो जाता है, अतः प्रथम इन चारों भावना के अनुष्ठान से चित्तप्रसादन (स्वच्छचित्त) करे यह फलित हुआ ॥ ३३ ॥

इदानीं प्रसन्न हुआ चित्त जिन उपायों द्वारा स्थितिरूप एकाग्रता का लाभ करता है वह उपाय प्रतिपादन करते हैं—

सू० प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

भाषा—(वा) अथवा (प्राणस्य) कोष्ठस्थित प्राणसञ्ज्ञक वायु का (प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्) नासिका द्वारा रेचन–धारण कर, चित्त की स्थिति का सम्पादनकरे (१)।

अर्थात्—योगशास्त्रोक्त प्रयत्नविशेष से (२) कोष्ठस्थित (कोठा=उदर

---

(१) यहां पर (मनसः स्थितिं सम्पादयेत्) इस भाष्य के अनुसार उत्तर सूत्र में से (मनसः) औ 'स्थितिनिबन्धनी' इस पद के एकदेश स्थिति पद का आकर्षण कर (संपादयेत्) इस पद का अध्याहार कर लेना, इसी आशयसे कहते हैं-(चित्त की स्थिति का संपादन करे) इति।

(२) यह सब द्वितीयपाद के ४९, ५०, ५१, इन सूत्रों के व्याख्यान में स्पष्ट होगा।

में होने वाले) वायु का अपनें नासिकापुट द्वारा शनैः२ रेचन (बाहर निकासना) प्रच्छर्दन शब्द का अर्थ है, उस रेचित वायु का (बाहर निकसे हुये वायु का) जो फिर सहसा भीतर प्रवेश न कर बाहर ही स्थापन करणा वह विधारण कहा जाता है। एवं च प्रच्छर्दनपद से रेचक प्राणायाम औ विधारणपद से कुम्भकप्राणायाम का ग्रहण हुआ (१)।

तथा च यह अर्थ हुआ कि रेचक-कुम्भकप्राणायाम द्वारा मन की स्थिति का संपादन करे।

यहां पर सूत्र में जो वा शब्द है वह वक्ष्यमाण उपायों के सङ्ग इस प्राणायाम रूप उपाय का विकल्पबोधक है, अर्थात् वक्ष्यमाण उपायों से चित्त की स्थिति का संपादन करे वा प्राणायाम से करे इस अर्थ का बोधक वा शब्द है कुछ यह मत जानना कि मैत्रीआदिभावना से चित्त प्रसन्न करे वा प्राणायाम से करे।

अत एव भाष्यकारों ने पूर्वसूत्र में (ततश्च चित्तं प्रसीदति) इस भाष्य से मैत्रीआदिभावना को चित्तप्रसन्नता का कारण औ " ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत् (२) इस प्रकृतसूत्रस्थभाष्य से प्राणायाम को स्थिति का साधन कहा है।

एवं च प्रथम मैत्रीआदि भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न करे फिर प्रसन्न हुये चित्त की स्थिति चाहे प्राणायाम से वा अन्य वक्ष्यमाण उपायों से करे, कुछ आग्रह नहीं है कि प्राणयाम से ही स्थिति करे यह फलित हुआ।

प्रसन्न चित्त हुये विना स्थिति का होना असम्भव है अतः मैत्री आदिभावना का अनुष्ठान साधन औ प्राणायामादि वक्ष्यमाण उपाय साध्य हैं यह सूत्र-भाष्यकार का आशय है।

अत एव भाष्यकारों ने पूर्वसूत्र में "प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते" (३)

(१) कोई यह कहते हैं कि—वायु के भीतर पूरण किये विना विधारणसंज्ञक कुम्भक का होना असंभव है अतः कुम्भकवाचक विधारण पद से पूरक का भी ग्रहण कर लेना, तथा च रेचक-पूरक-कुम्भक प्राणायाम से चित्त की स्थिति का संपादन करे यह सूत्रार्थ हुआ।

वस्तुतः तो जैसे भीतर वायु को पूर कर रोकना कुम्भक है तैसे वायु को बाहर निकास कर रोकना भी कुम्भक ही है, अतः पूरक के विना ही कुम्भक होने से पूरक ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं, यह सब द्वितीयपाद में ४९ इत्यादि सूत्रोंमें स्पष्ट होगा।

(२) 'ताभ्याम्' प्रच्छर्दनविधारणद्वारा मन की स्थिति का संपादन करे।

(३) मैत्री आदि से प्रसन्न हुआ चित्त एकाग्र हो कर स्थितिपद का लाभ कर लेता है।

इस वाक्य से प्रसन्न हुये चित्त को स्थिति पद के लाभ वाला कहा है।

भगवान् ने भी अर्जुन के प्रति "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते" (१) इस वाक्य से प्रसन्न हुये चित्त को स्थिति की योग्यता वाला कहा है।

तथा च मैत्री आदि भावना का समुच्चय (२) औ स्थितिसाधन प्राणायाम प्रभृति का विकल्प जानना।

एवं च जो विज्ञानभिक्षु ने यह लिखा है कि (मैत्रीआदि भावना से वा प्राणायाम से चित्त को प्रसन्न करे) यह असंगत हुया क्योंकि मैत्री आदि भावना प्रसन्नता का कारण हैं औ प्राणायाम स्थिति का कारण है इस प्रकार कार्य्य भेद होने से विकल्प का यहां संभव नहीं है (३)।

यद्यपि प्राणनिरोध से चित्त की स्थिरता का होना असंभव है क्योंकि चित्त औ प्राण यह दोनों भिन्न हैं तथापि " द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने, एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः" (४) इत्यादि वशिष्ठवाक्य से वासनानिवृत्ति द्वारा प्राणनिरोध को भी चित स्थिति का उपाय जान लेना।

भाव यह है कि—यथा (५) घटीयन्त्र में सूक्ष्म सूची की अदृश्यमान सूक्ष्मक्रिया अधोवर्तमान निरन्तरभ्रमणशलि यन्त्र की स्थूलक्रिया के अधीन है तथा शरीररूप यन्त्र में भी अदृश्यमान सूक्ष्म मानसी क्रिया निरन्तरभ्रमणशलि प्राणवायु की क्रिया के अधीन है, तथा च जैसे अधोवर्तमान यन्त्र की क्रिया का किसी प्रकार निवृत्ति करने से सूची की क्रिया निवृत्त हो जाती है तैसे यहां भी प्राण की क्रिया निवृत्त होने से मन की क्रिया निवृत्त हो जाती है, अतः सुतरां प्राणनिरोध से मन का निरोध हो सकता है ॥ ३४ ॥

(१) प्रसन्नचित्तवाले योगी की शीघ्र ही बुद्धि स्थिर हो जाती है यह कृष्णवाक्य का अर्थ है। अ. २ श्लो. ६१।

(२) समुच्चय=अर्थात् चित्त प्रसन्नता के अर्थ मैत्री आदि भावना का तो अवश्य ही अनुष्ठान करे, स्थिति चाहे किसी उपाय से करे।

(३) जहां पर एक कार्य्य के दो साधन होते हैं वहां पर ही विकल्प माना जाता है अन्यत्र नहीं, यह भाव है।

(४) चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं एक प्राणस्पन्द अर्थात् प्राणों की निरन्तर क्रिया औ एक वासना, इन दोनों में से एक के नाश से दूसरे का नाश भी शीघ्र ही होजाता है यह वाशिष्ठवाक्य का अर्थ है। एवं च बीजभूत प्राणगति के निरोध से वासना निवृत्तिद्वारा चित्त की स्थिति का होना कुछ असम्भव नहीं, यह तत्त्व है।

(५) यद्यपि योगविषयक योगी के अनुभव के बिना युक्ति की अपेक्षा नहीं है तथापि दृढ़ता के लिये युक्ति कहते हैं—(यथा) इत्यादि से।

इदानीं जिन स्थिति के उपायों के संग प्राणायाम का विकल्प बोधन किया है उन उपायों का प्रतिपादन करते हैं—

सू० विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धनी ॥ ३५ ॥

भाषा—(वा) अथवा (विषयवती) गन्धादि विषयों का साक्षात्कार करने वाली (प्रवृत्ति) योगी के चित्त की वृत्ति (उत्पन्ना) उत्पन्न हुयी (मनसः स्थितिनिबन्धनी) मन की स्थिति का कारण है।

अर्थात् गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द संज्ञक पंचविषयों के साक्षात्कार करने वाली चित्तवृत्तियां उत्पन्न हुयीं भी चित्त को स्थिर कर देती हैं।

भाव यह है कि—गन्धादि पंच विषय लौकिक दिव्य भेद से दो प्रकार के हैं, तहां पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश संज्ञक पंच स्थूलभूतों में दृश्यमान जो गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द हैं यह पांच लौकिक हैं क्योंकि इन्हीं से लोकों को सुख-दुःख-मोहरूप भोग होता है, पंचतन्मात्रों के कार्य्य सूक्ष्मभूतों में विद्यमान जो गन्धादि पंच सूक्ष्म विषय हैं वह दिव्य कहेजातेहैं क्योंकि वह देवताओं(को) के ही भोगोपयोगी होते हैं मनुष्यों को नहीं (१)

इन पांचों दिव्यविषयों का जो उपायद्वारा पुरुष को साक्षात्कार हो जाना वह यहां विषयवतीप्रवृत्ति पद का वाच्य है, सो यह प्रवृति गन्धादिविषयों के भेद से पंचप्रकार की है यथा—गन्धप्रवृत्ति, रसप्रवृत्ति, रूपप्रवृत्ति, स्पर्शप्रवृत्ति, शब्दप्रवृत्ति।

गन्धप्रवृत्ति=अपनी (२) नासिका के अग्रभाग में संयम (३) से चित्त को एकतान कर धारण (लगाने) से जो दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होना वह गन्धप्रवृत्ति है, इसी को दिव्यगन्धसंविद् कहते हैं।

रसप्रवृत्ति=जिह्वा के अग्रभाग में संयमद्वारा चित्त को लगाने से जो

(१) जैसे लौकिक गन्धादि में शान्तघोरमूढ़नामक तीन धर्म हैं तैसे सूक्ष्मगन्धादि में नहीं हैं क्योंकि वह सुखात्मक ही हैं, अतः इन को दिव्य कहा जाता है। जिन्हें इस विषय को सम्यक् प्रकार जानना होय वह सांख्यदर्शनप्रकाश के प्रथमाध्यायस्थ ६२ सूत्र के विवरण पर दृष्टिपात करें।

(२) "नासिकाग्रे धारयतोऽस्यया दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये प्रवृतियों का लक्षण कहते हैं (अपनी नासिका) इत्यादि ग्रन्थ से।

(३) एकवस्तु विषयक धारणाध्यानसमाधि करने को संयम कहा जाता है, यह तृतीयपाद के ४ सूत्र में वर्णन किया जायगा।

दिव्यरस का साक्षात्कार वह रसप्रवृत्ति कही जाती है, इसी को दिव्यरससंविद् कहा जाता है।

रूपप्रवृत्ति=तालुस्थान में चित्त का संयम करने से जो दिव्यरूप का साक्षात्कार वह रूपप्रवृत्ति पद का वाच्य है, इसी कोही दिव्यरूपसंविद् कहते हैं।

स्पर्शप्रवृत्ति=जिह्वा के मध्यभाग में चित्त का संयम करने से जो दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार वह स्पर्शप्रवृत्ति का वाच्य है, इसी को ही दिव्यस्पर्श संविद् कहते हैं।

शब्दप्रवृत्ति=जिह्वा के मध्य भाग में चित्त का संयम करने से जो शब्द का साक्षात्कार वह शब्दप्रवृत्ति है, दिव्यशब्दसंविद् भी इसी का नामान्तर है, यह पांच प्रकार की प्रवृत्तियां उत्पन्न हुयीं चित्त को स्थितिविषयक बद्ध करदेती हैं।

अर्थात्–इन प्रवृत्तियों के होने से निजरूप के साक्षात्कार में वा ईश्वर के साक्षात्कार में भी योगी का चित्त समर्थ होजाता है।

एवं पुरुषों को जो यह संशय होता था कि (ईश्वरप्रणिधान से पुरुष का साक्षात्कार कैसे होगा) इस संशय को भी यह प्रवृत्तियां दूर कर देती हैं, अत एव समाधिप्रज्ञा में यह द्वारीभूत हैं अर्थात्–इन प्रवृत्तियों के होने से समाधि भी अनायास से सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्नप्रभादि में चित्त के संयम से जो इन सब का साक्षात्कार वह भी विषयवती प्रवृत्तिही जाननी।

यद्यपि इन सब प्रवृत्तियों को कैवल्य का उपयोगी न होने से इस शास्त्र में इन प्रवृत्तियों का निरूपण करना अनुपयुक्त है तथापि जैसे अनात्मपदार्थविषयक धारना करने से अनात्मवस्तु का साक्षात्कार हो जाता है तैसे आत्मवस्तुविषयक धारणा करने से आत्मा का भी साक्षात्कार होना कुछ असम्भव नहीं है, इस प्रकार विश्वासोत्पादनाऽर्थ यह निरूपण कियी गयीं हैं यह जानना।

यद्यपि युक्तिपूर्वक शास्त्र तथा आचार्य्यों के उपदेश द्वारा प्रतिपादन किया औ जाना हुया पदार्थ यथार्थ ही होता है कुछ मिथ्या नहीं क्योंकि शास्त्रादिकों की यथार्थ अर्थ के प्रतिपादन करने में ही सामर्थ्य है कुछ मिथ्या अर्थ के प्रतिपादन में नहीं, अतः शास्त्रोपदिष्ट अर्थ में संशय का अवकाश न होने से विश्वासोत्पादन की कुछ अपेक्षा नहीं है तथापि जब तक जिज्ञासु को शास्त्रप्रतिपादित अर्थों में से किसी एक पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक उस को कैवल्यपर्य्यन्त निखिल सूक्ष्मविषयों में दृढ़विश्वास नहीं होगा क्योंकि उस को किसी एक अर्थ का प्रत्यक्ष न होने से सब पदार्थ परोक्ष ही प्रतीत हो रहे हैं। अतः शास्त्रादि उपदिष्ट अर्थ विषयक दृढ़ता के अर्थ औ संशयनिवारणार्थ

ज्योतिःस्वरूप आकाशतुल्य भास्वर हुआ चित्त (१) कभी सूर्य्य कभी चन्द्र कभी नक्षत्र कभी मणिप्रभादिरूप आकार से भान होता है, फिर उसचित्त का साक्षात्कार हो जाता है, सो यह जो ज्योतिस्वरूप चित्त का साक्षात्कार वह ज्योतिष्मती-प्रवृत्तिपद का वाच्य है, इस में पूर्वोक्त सूर्य्यादि अनेक विषय रहते हैं इस से यह भी विषयवती ही है (२)

एवं अस्मिता में समापन्न (३) हुआ चित्त जब निस्तरङ्ग समुद्र के तुल्य शान्त औ अनन्त हो कर सत्त्वप्रधान अहङ्कार का स्वरूप हो जाता है तब उस चित्त की दशा को अस्मितामात्रज्योतिष्मती कहते हैं।

इसी प्रकार ही पंचशिखाचार्य्य ने अस्मितासमापत्ति का स्वरूप कहा है (४)

इन सब में से प्रथमनिरूपित जो चित्तसंविद् (चित्तसाक्षात्काररूप प्रवृत्ति) इस का नाम विषयवतीज्योतिष्मतीप्रवृत्ति है औ द्वितीय जो अस्मितास्वरूप चित्त की प्रवृत्ति वह अस्मितामात्रज्योतिष्मती कही जाती है, औ विशोका इन दोनों का ही विशेषण है क्योंकि शोक के कारण भूत रजोगुण का इन दोनों में लेश नहीं है।

इन दोनों प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने से भी योगी का चित्त ईश्वरविषयक स्थितिपद की योग्यता वाला हो जाता है ॥ ३६ ॥

उपायान्तर कहते हैं—

सू० वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

भाषा—(वा) अथव (वीतरागविषयं) निवृत्तराग=रागरहित योगि-

---

(१) "बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्" इत्यादि भाष्य का यह अनुवाद है। इस भाष्य में जो बुद्धिसंज्ञक चित्त को आकाशतुल्य कहा है सो अनेकविषयों में चित्त-गमन करता है इस आशय से कहा है कुछ वस्तुगत्या आकाशतुल्य कहने से इस को व्यापक मत जानना, अतएव कपिलमुनि ने "हेतुमदनित्यमव्यापि" इत्यादि अ० १ सू० १२४ से बुद्धि आदि को परिछिन्न कहा है, एवंच विज्ञानभिक्षु ने जो चित्त को व्यापक माना है वह प्रमाद ही है।

(२) सत्त्वगुणप्रधान होने से यह प्रवृत्ति रजोगुण से रहित है, अतः विशोका भी इसी का ही नाम है।

(३) अस्मिता नाम अहङ्कार का है, धारणापूर्वक स्थिरता का नाम समापन्न है।

(४) "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते" यह पञ्चशिखाचार्य्य का वचन है, तिस अणुमात्र (दुरधिगम) अहंकार का धारणापूर्वक चिन्तन कर अस्मि रूप जाने, यह इस का अर्थ है।

गणों के चित्तविषयक संयम से एकतान लगा हुआ (चितम्) चित्त भी स्थिति का लाभ कर लेता है।

भाव यह है कि—जिन महात्माओं का चित्त संसार की वासना से रञ्जित नहीं हैं एवंभूत जो शुकदेव, कृष्णद्वैपायन, दत्तात्रेय, सनकादिकप्रभृति योगिगण हैं उन के चित्त को ही आलम्बन कर यदि संयम द्वारा उस चित्त का एकतान ध्यान करे तो भी चित्त तदाकार हुआ स्थिरता को प्राप्त हो (१) जाता है ॥ ३७ ॥

इसी के सदृश अन्य उपाय कहते हैं—

सू० स्वप्ननिद्राज्ञानाऽऽलम्बनं वा ॥३८॥

भाषा—(वा) अथवा (स्वप्ननिद्राज्ञानाऽऽलम्बनं) स्वप्न वा निद्रा समय में ज्ञान का विषय जो पदार्थ हैं उन पदार्थों के आलम्बन वाला भी चित्त स्थिर हो जाता है।

यहां स्वप्न से सात्विकस्वप्न का ग्रहण करना।

अर्थात्—किसी समय में जब कोई पुरुष स्वप्न में विविक्त * वन के निकट वर्तिनी मानों चन्द्रमण्डल से उत्कीर्ण † अतिकोमल रमणीय अङ्ग-प्रत्यङ्ग वाली, चन्द्रकान्तमणिमयी, पवित्रसलिला-मन्दाकिनी-शोभित-जटाजूट-धारिणी, अतिसुरभीमालती-मालाधारिणी, मनोहारिणी भवानीपति भगवान महादेव की आनन्ददायिनी प्रतिमा को वा वैजयन्तीधारिणी चतुर्भुजशोभा-यमान श्रीपति विष्णु जी की प्रतिमा को) आराधन करता हुआ ही उस स्वप्न से प्रबुद्ध हो जाय तो उस पुरुष का चित्त इस से तृप्त न हुआ सुतरां अन्य आलंबन में लगना कठिन है, अतः उस स्वप्नज्ञान के विषयभूत प्रतिमा में ही वह चित्त को एकतान कर लगादे क्योंकि ऐसे लगाने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

एवं जिस गाढ़निद्रा से उत्थित हुये पुरुष को यह स्मरण होता है कि (मैं सुख से शयन किया) उस सात्विकनिद्राज्ञान का विषय भूत जो सुखमय

(१) जब मैत्री आदि भावना से चित्त निर्मल हो जाता है तब चित्त में एतादृश सामर्थ्य हो जाता है कि जिस में एकतान लगाया जायगा तदाकार ही हो जायगा, तथा च रागरहित चित्त में लगाने से इस का भी चित्त वीतराग होने से स्थिर हो जायगा, यह तत्त्व है।

* विविक्तनाम एकान्त औ शुद्धदेश का है।

(†) मानों चन्द्रमण्डल से निकाली हुयी।

अपना रूप (१) उस आलम्बन में भी चित्त को एकतान लगाने से चित्त स्थित हो जाता है ॥ ३८ ॥

प्राणियों के रुचिवैचित्र्य से जिस वस्तु में अधिक रुचि होय उसी का ही ध्यान करे, यह कहते हुये सूत्रकार अब इस प्रवृत्ति के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

सू० यथाऽभिमतध्यानाद् वा ॥ ३९ ॥

भाषा—(वा) अथवा (यथाभिमतध्यानाद्)। जैसा रूप अपने को अभिमत=इष्ट (माननीय) हो, तिस रूप के ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

अर्थात्—यदि वेदोक्त (२) आदित्यमण्डलान्तर्गत हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश में आप की विशेष रुचि होय तो उसी का ही ध्यान करो।

एवं यदि नवनीतप्रिय नन्दनन्दन मुरलीशालिनी कृष्ण जी की मूर्त्ति में तुम्हारी विशेष रुचि होय तो उसी का ही ध्यान करो।

एवं यदि नीतिप्रिय धनुर्धारी कौसल्यानन्दन रघुनन्दन जी की मूर्ति के ऊपर आपका उत्कट प्रेम होय तो उसी का ही ध्यान करो, एवं यदि श्मशान प्रिय त्रिशूलधारी महादेव जी की प्रतिमा में, वा वीणाधारिणी सरस्वती जी की प्रतिमा में, वा खड्गपट्टिशधारिणी दुर्गा जी की प्रतिमा में, वा इष्टदेव गुरुदेव जी की प्रतिमा में रुचि होय तो अपनी२ रुचि के अनुसार उन्हीं प्रतिमा का ध्यान करो, सर्वथा ही एकस्थान में स्थिर होने से अन्यत्र स्थितिपद का लाभ चित्त कर लेता है इस में संशय नहीं ॥ ३९ ॥

(१) यहां निद्राज्ञान से ज्ञानमात्र ही आलम्बन नहीं जानना किन्तु सुषुप्तिकालिक अपने सुखमय रूप का आलम्बन जानना, इस आशय से कहते हैं (अपना रूप) इति।

(२) "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद" इस सामवेदीयछान्दोग्योपनिषद् कथित।

जो यह सूर्य्यमण्डल के अन्तर्गत सुवर्णभूषणविशिष्ट, सुवर्णवत्चमत्कृतिविशिष्ट दाढ़ी मूछवाला, एवं उज्वल केशवाला, औ नखशिखपर्य्यन्त सुवर्णसदृश प्रकाशवाला, प्रफुल्लकमलतुल्य नेत्रवाला, औ जिस को योगिजन समाधि में देखते हैं, तिस परमात्मा का नाम (उत्) है क्योंकि वह पापों से (उदित) रहित है, जो पुरुष इस मूर्ति की उपासना करते हैं वह भी सर्व पाप से रहित हो जाते हैं, यह इस का अर्थ है।

इस प्रकार चित्तस्थिति के उपाय कथनकर इदानीं (यह किसप्रकार से ज्ञात होय कि अब चित्त ने पूर्णरूप से स्थितिपद का संपादन किया है) इस आकांक्षा को निवारण करते हुये जिस चिन्ह द्वारा चित्त की स्थिरता प्रतीत होय वह चिन्ह निरूपण करते हैं—

सू० परमाणुपरममहत्त्वाऽन्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

भाषा—(अस्य) पूर्वोक्त उपायों से स्थित हुये चित्त का, (परमाणुपरममहत्त्वाऽन्तः) सूक्ष्मों में परमाणुपर्य्यन्त महानों में परममहान्-आकाशपर्य्यन्त पदार्थों में (वशीकारः) वशीकार रहता है, वा वशीकार हो जाता है।

अर्थात्–पूर्वोक्त साधनों से स्थिर हुआ चित्त ऐसा वशीभूत हो जाता है कि यदि उस को सूक्ष्मपदार्थ में एकतान से लगाया जाय तो अतिसूक्ष्मपरमाणुपर्य्यन्त स्थितिपद का लाभकर लेता है, एवं यदि अत्यन्तवृहत् पदार्थ में एकतान से लगाया जाय तो अतिमहान् आकाशपर्य्यन्त-स्थितिपद का लाभकर लेता है।

यह जो दोनों तरफ धावमान (दौड़ते) हुये चित्त का कहीं भी प्रतिघात (रुकावट) न होना यही चित्त का पर वशीकार है (१)

इस वशीकार के लाभ से योगी का चित्त परिपूर्ण हुआ फिर अन्य अभ्याससाध्य परिकर्म (स्थितिउपायों) की अपेक्षा नहीं करता है।

एवं च सूक्ष्मों में निविशमान हुये चित्त का जो परमाणुतक निविष्ट होकर स्थिर हो जाना औ स्थूलों में निविशमान हुये चित्त का जो परममहान् आकाशतक निविष्ट हो कर स्थिर हो जाना यही चित्त की स्थिरता का पूर्ण चिन्ह है यह फलित हुआ ॥ ४० ॥

इस प्रकार पूर्व प्रकरण से चित्त की स्थिति के उपायों का प्रतिपादन कर, औ लब्धस्थितिवाले चित्त का वशीकार कह कर, इदानीं स्थितिपदप्राप्त चित्त को जो सम्प्रज्ञातसमाधि का लाभ होता है वह संप्रज्ञातसमाधि किंस्वरूप औ किस विषयक होती है यह प्रतिपादन करते हैं—

सू० क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

---

(१) सूक्ष्मविषयों की अवधि परमाणु है औ स्थूलविषयों की अवधि आकाश है, जब कि इन दोनों में भी चित्त स्थित हो गया तब स्थिरता चित्त के वशीभूत होजाती है, अर्थात् जहां इच्छा होय वहां चित्त को निवेशकर स्थिर कर सकता है, यह तत्त्व है।

भाषा-(अभिजातस्य) उत्तमजातीय वा अतिनिर्मल (मणेः इव) मणि की तरह, (१) (क्षीणवृत्तेः) राजसतामसवृत्तिरहित स्वच्छ चित्त की, जो (ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु) पुरुष महत्तत्व-अहङ्कार-इन्द्रिय-पंचतन्मात्र-स्थूलभूतादि पदार्थों में (तत्स्थतदञ्जनता) एकाग्रस्थिति हो कर तिन विषयों के समान आकारता वा तद्रूपता हो जानी, वह (समापत्तिः) सम्प्रज्ञातसमाधि है ।

अर्थात्-जैसे अतिस्वच्छ स्फटिकमणि रक्त-पीत-नीलादिवर्ण विशिष्ट-जपाकुसुमादि रूप उपाधि के सन्निधान से तिस तिस उपाधि की छाया से उपरक्त (प्रतिबिम्बित) हुआ तिस तिस उपाधि के रक्तादि आकार से ही प्रतीत हो जाता है तैसे अभ्यासवैराग्य से राजसतामसवृत्तिरहित औ मैत्री आदि भावनासे निर्मल हुआ चित्त भी जब स्थूल-सूक्ष्मभूता ऽऽख्यग्राह्यरूप(२) आलम्बन अथवा विश्वभेद=चेतन-अचेतन गो-घट आदि स्थूल पदार्थ रूप आलंबन से उपरक्त हो ग्राह्यभाव को प्राप्त हो जाता है तब ग्राह्य के आकार से प्रतीत होता है, औ जब ग्रहणनामक इन्द्रियरूप आलम्बन से उपरक्त हुआ ग्रहणभाव को प्राप्त होजाता है तब ग्रहणाऽऽकार से प्रतीत होता है, औ जब ग्रहीतृनामक अहङ्कारोपाधिक पुरुष (३) वा मुक्तपुरुष शुकप्रह्लादादिरूप आलम्बन से उपरक्त हुआ पुरुषाऽऽकार को प्राप्त हो जाता है तब पुरुषाऽऽकार से भासता है

इस प्रकार अभिजातमणिकल्प (निर्मलमणि के तुल्य) चित्त की जो ग्राह्य-ग्रहण ग्रहीतृसञ्ज्ञक भूत-इन्द्रिय-पुरुषों में तत्स्थतदञ्जनता=तिन वस्तुओं में स्थित हुये की तदाऽऽकारता वह समापत्तिः नाम सम्प्रज्ञातसमाधि है ॥४१॥

इन तीन प्रकार की सम्प्रज्ञातसंज्ञक समापत्तियों में से जो ग्राह्यसमापत्ति है वह

(१) सूत्र में (अभिजातस्येव मणेः) यह दृष्टान्त है, औ (क्षीणवृत्तेः) यह चित्त की निर्मलता में हेतुगर्भित विशेषण है, यह जानो ।

(२) यद्यपि सूत्रकार ने ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य इस प्रकार निर्देश किया है तथापि अनुष्ठान के क्रम से प्रथम ग्राह्यसमापत्ति का लक्षण करते हैं (स्थूलसूक्ष्म) इत्यादि से। ग्राह्य नाम सूक्ष्म-स्थूल भूतों का औ भूतकार्य्य घटादि का है, औ ग्रहण नाम इन्द्रियों का है, औ ग्रहीता नाम अहङ्कारोपाधिक पुरुष का है, यह सब पूर्व १७वें सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट है ।

(३) यद्यपि ग्रहीतृ पद से भाष्यकारों ने पुरुषमात्र का ही ग्रहण किया है तथापि केवल पुरुष को अविषय होने से अहङ्कारोपाधिक का ही ग्रहण करना, अतएव फिर भाष्यकारों ने "मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं" इत्यादि भाष्य से मुक्तियोग्य पुरुषों को ही समाधि का विषय कहा है क्योंकि शुक आदि मुक्तपुरुषों में लेशमात्र से अहङ्कार के सद्भाव का संभव है, इसी आशय से व्याख्यान करते हैं (अहङ्कारोपाधिक) इत्यादि से ।

सवितर्क-निर्वितर्क-सविचार-निर्विचार भेदसे चार प्रकार की है, तहां प्रथम दो भेद स्थूलग्राह्यसमापत्ति के हैं अन्त के दो भेद सूक्ष्मग्राह्यसमापत्ति के हैं, इन में से प्रथम सवितर्कसंज्ञक स्थूलग्राह्यसमापत्ति का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

सू० तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

भाषा—(तत्र) इन तीनों समापत्तियों के मध्य में, जो (शब्दार्थज्ञान-विकल्पैः) शब्द अर्थ औ ज्ञान इन तीनों विकल्पों से (संकीर्णा) मिलित है अर्थात् इन तीनों भिन्न पदार्थों का अभेद रूप से जिस में भान होता है वह (सवितर्का समापत्तिः) सवितर्कसञ्ज्ञक सम्प्रज्ञातसमाधि है।

अर्थात्—कण्ठ-तालु आदि के संयोग से उच्चारित तथा श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य जो (गौः) इत्याकारक शब्द है इस का भी (गौः) ऐसे ही उच्चारण होता है, एवं गोष्ठस्थित (गोशाला में स्थित) जो शृङ्गसास्नावालीव्यक्ति गो-शब्द का अर्थ है वह भी (गौः) ऐसे ही कहा जाता है, तथा पूर्वोक्तगोव्यक्ति के देख ने से जो चित्त का तदाऽऽकाररूप परिणामविशेष (गइया का ज्ञान) वह भी (गौः) ऐसे ही प्रयुक्त होता है, इन तीनों स्थानों में गो-शब्द गो-अर्थ-गो-ज्ञान इन तीनों भिन्न पदार्थों का एकसा ही भान होता है, इसी का नाम शब्दार्थ-ज्ञानविकल्प है क्योंकि यह वस्तु से शून्य है, औ शब्दज्ञानाऽनुपाती है।

भाव यह है कि—यद्यपि (१) गो-शब्द कण्ठस्थित तथा उदात्त-अनुदात्त मन्द-उच्चत्तादि धर्मवाला है, औ गो शब्दका अर्थ शृङ्गादिविशिष्टव्यक्ति भूमिस्थित तथा जडत्व-मूर्तत्त्वादिरूप धर्म वाली है, एवं गो-शब्दका ज्ञान चित्त-स्थित तथा प्रकाश अमूर्तत्वादि धर्म शील है, अतः इन तीनों का भिन्न ही पन्था है अर्थात् तीनों यह भिन्न भिन्न हैं (२), तथापि सर्वत्र इन का भान परस्पर संकीर्ण रूप से अभिन्न ही प्रतीत होता है, अतः यह विकल्पात्मक है।

अर्थात्—(३) यदि कोई किसी से यह कहे कि आप 'यह गौ है' इस का उच्चारण करिये तो वह अवश्य कहे गा कि (यह गौ है) औ फिर यदि गोशाला में स्थित गोशब्द के अर्थभूत व्यक्ति की तरफ अंगुलि कर पूछे कि यह क्या है तब भी (यह गौ है) ऐसे ही वह कहे गा, एवं यदि उस से यह

(१) इस ज्ञान को विकल्पात्मक सिद्ध करने के लिये शब्द-अर्थ-ज्ञान का भेद कथनपूर्वक अभेद प्रदर्शन करते हैं—(यद्यपि) इत्यादि ग्रन्थ से।

(२) यद्यपि से ले कर यहां तक "विभज्यमानाश्चाऽन्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः" इस भाष्य का अनुवाद है।

(३) परस्पर सङ्कीर्णता को स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

पूछा जाय कि गईया को देखने से तुमारे चित्त में कीदृश ज्ञान उत्पन्न हुआ है तब भी वह यही कहेगा कि (यह गौ है), इन सब स्थानों में (यह गौ है) ऐसा प्रयोग सर्वत्राऽनुगत है, यहां प्रथम शब्दस्थल में (१) शब्द के संग अविद्यमान ही का अर्थ और ज्ञान का अभेद भासमान हो रहा है, अतः यह भी एक विकल्प ही है द्वितीय-अर्थ=विषयस्थल (२) में भी विद्यमान विषय का अविद्यमान ही शब्द तथा ज्ञान के सङ्ग अभेद भासमान हो रहा है, सुतरां यह भी एक विकल्प हुआ, एवं ज्ञानस्थल में भी (३) विद्यमान ज्ञान के सङ्ग में अनहुये शब्द का औ अर्थ का भान हो रहा है, अतः यह भी एक विकल्प हुआ।

इन तीनों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध हैं कि भिन्न २ होने पर भी एक के ज्ञान से दूसरे की उपस्थिति हो जाती है, इस अविद्यमान (अनहुये) अभेद का भान होना ही यहां विकल्प है, औ यही यहां पर परस्पर संकीर्णता है।

तथा च इन शब्द अर्थ ज्ञान रूप तीनों विकल्पों से सङ्कीर्ण जो समापत्ति वह सवितर्कसमापत्ति जाननी।

अर्थात्—जिस समाधिप्रज्ञा में स्थूलभूतों का वा किसी मूर्त्ति का वा गौ घट आदि अन्य पदार्थ का शब्द-अर्थ-ज्ञान रूप विकल्प से संकीर्ण ही भान होता है वह सविकल्प संज्ञक संप्रज्ञातसमाधि है।

इस भावना में यथार्थज्ञान का अभाव होने से यह भावना अपरप्रत्यक्ष पद का (४) वाच्य है ॥ ४२ ॥

जब फिर (५) शब्द संकेत की स्मृति के अपगम (निवृत्त) होने पर आगम-अनुमान-ज्ञान विकल्प से रहित समाधिप्रज्ञा में स्वरूपमात्र से अवस्थित अर्थ का तन्मात्ररूप से ही भान होता है वह निर्वितर्का समापत्ति है, यह भावना यथार्थ पदार्थ को विषय करने से पर प्रत्यक्ष कही जाती है क्योंकि इस समा-

(१) जहां (यह गौ है) इस शब्द का उच्चारण किया गया है।

(२) जहां गोरूप अर्थ को देख कर (यह गौ है) ऐसे कहा गया है।

(३) जहां गईया को देख कर चित्त में (यह गौ है) ऐसा ज्ञान हुआ है।

(४) यदि शब्दार्थज्ञानरूप विकल्प से यह भावना सङ्कीर्ण न होती तब इस भावना का विषय यथार्थ होता, पर सो यहां नहीं अतः अयथार्थविषयक है, यह भाव है। यद्यपि भाष्यकारों ने इस को अपरप्रत्यक्ष नहीं कहा है तथापि निर्वितर्क समापत्ति को परप्रत्यक्ष कहने से इस को अपरप्रत्यक्ष जान लेना।

(५) उत्तर सूत्र की अवतरणिकारूप "-यदा पुनः शब्दसङ्केतस्मृतिपरिशुद्धौ" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये निर्वितर्कसमापत्ति का लक्षण करते हैं। "जब फिर" इत्यादि से।

पत्ति में यथार्थ वस्तु का ही भान होता है अयथार्थ का नहीं।

अर्थात्—(१) जितने गो-घट-पट आदि शब्द हैं उन सब का एक२ अर्थ के सङ्ग नियमित संबन्ध है इसी का नाम शब्द-संकेत है, अतएव जिस पुरुष को यह ज्ञात नहीं होता कि 'गाय' पद का किस अर्थ के सङ्ग नियतसंबन्ध है औ 'लायो' पद का किस अर्थ के सङ्ग नियतसंबन्ध है उस पुरुष को (गाय लायो) इस शब्द के श्रवण से कुछ भी बोध नहीं होता है, औ जिस पुरुष को यह ज्ञात है कि गाय शब्द का शृङ्गादिविशिष्ट व्यक्तिविशेष के सङ्ग नियतसंबन्ध है औ लायो शब्द का असन्निहित पदार्थ को सन्निहित कर-देने रूप अर्थ के सङ्ग नियमितसंबन्ध है वह पुरुष 'गायलायो' इस शब्द के श्रवण से अनन्तर ही गईआ को ले आता है क्योंकि इस को शब्दसङ्केत का ज्ञान है।

एवं च शब्दसङ्केतका स्मरण ही आगम-अनुमानादिकज्ञान का कारण है यह निर्विवाद है, सो यह शब्दसंकेत (यह गौ है) इत्यादि उपदेश द्वारा ही प्रथम ज्ञात होता है ऐसे नहीं, औ (यह गौ है) यह शब्द-अर्थ-ज्ञानों का इत-रेतराभास रूप होने से विकल्पात्मक है, तथा च शब्दसङ्केतस्मृति से जो आगमअनुमानादि ज्ञान होता है वह सब विकल्पात्मक ही होता है।

तहां सवितर्कसमापत्ति में जो योगी को पदार्थों का भान होता है वह शब्द सङ्केतस्मरणपूर्वक होने से विकल्पात्मक कहा जाता है, औ निर्वितर्कसमापत्ति में जो योगी को अर्थ का भान होता है वह शब्दसंकेतस्मरण के अभावपूर्वक होने से आगम-अनुमानज्ञानविकल्प से शून्य केवल पदार्थमात्रविषयक होने से निर्विकल्पात्मक कहा जाता है।

इस भावना में विपर्य्ययज्ञान का लेश न होने से यह योगी का परप्रत्यक्ष है, यह योगीका पर प्रत्यक्ष ही आगम औ अनुमान का बीज है क्योंकि इस के बल से ही अर्थ का प्रत्यक्ष कर योगी लोक उपदेश करते हैं।

यह योगी का जो निर्वितर्कसमाधिजन्य ज्ञान वह अपने कार्य्यभूत विकल्पात्मक आगम-अनुमान से अनुपक्त (संबद्ध) न होने से प्रमाणान्तर से असङ्कीर्ण है।

एतादृश निर्वितर्कसमापत्ति का ही इस अग्रिम सूत्र द्वारा सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

सू० स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

भाषा—(स्मृतिपरिशुद्धौ) आगम-अनुमानज्ञान के कारणभूत शब्दसङ्केत

(१) भाष्यस्थ "शब्दसङ्केतस्मृतिपरिशुद्धि" पद का अर्थ शब्दसङ्केतस्मरण का अभाव है, इसी को स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

स्मरण के अपगम (निवृत्त) होने से, जो (अर्थमात्रनिर्भासा) केवल ग्राह्यरूप अर्थ को ही प्रकाश करने वाली, अतएव (स्वरूपशून्या) अपने ग्रहणाकार ज्ञानात्मक रूप से रहित चित्तवृत्ति, वह (निर्वितर्का) निर्वितर्कसम्प्रज्ञात है।

अर्थात्–(१)जैसे सवितर्कसम्प्रज्ञात में ग्राह्यपदार्थ तथा ग्राह्यपदार्थ का वाचक शब्द तथा ग्राह्यपदार्थ का ज्ञान यह तीनों विषय चित्त में वर्तमान रहते हैं तैसे निर्वितर्कसम्प्रज्ञात में यह तीनों विषय चित्त में नहीं रहते हैं, क्योंकि इस दशा में केवल ग्राह्य (ध्येय) वस्तु विषयक ही चित्तस्थिर रहता है कुछ शब्द औ ज्ञान विषयक नहीं, अत एव इस को अर्थमात्रनिर्भासा कहते हैं क्योंकि इस समापत्ति में शब्द-अर्थ-ज्ञान रूपविकल्प का भान न हो कर केवल अर्थाऽऽकार से ही चित्त विद्यमान रहता है।

यद्यपि इस अवस्था में अर्थाऽऽकार चित्तवृत्ति भी रहती है परन्तु वह अपने रूप से भान नहीं होती है किन्तु ध्येयस्वरूप ही हो जाती है, अत एव (स्वरूपशून्या इव) यह ‘ इव ’ पद दिया है।

शब्द औ ज्ञान का भान न होकर केवल अर्थ का ही भान क्यों होता है इस में हेतु प्रदर्शन के लिये “ स्मृतिपरिशुद्धौ ” यह पद उपात्त किया है, अर्थात्–यदि विकल्पात्मक आगम-अनुमानज्ञान के कारणभूत शब्दसङ्केत का स्मरण इस में रहता तो शब्द औ ज्ञान का भी भान होता परन्तु सो स्मरण इस दशा में रहता नहीं क्योंकि उस की इस दशा में परिशुद्धि (निवृत्ति) हो गयी है, अतः शब्द औ ज्ञान का भान न हो कर केवल स्थूल घटादि पदार्थों के स्वरूप का ही इस में भान होता है अन्य का नहीं।

यहां प्रसंग से यह भी जान लेना उचित है कि इस निर्वितर्कसमापत्ति का विषयभूत जो स्थूल गोघटादि पदार्थ हैं वह न तो अणुसमुदाय रूप हैं औ न ज्ञान स्वरूप हैं औ न अणुयों से उत्पन्न भिन्न कार्य्य स्वरूप हैं किन्तु (२)

(१) सवितर्क सम्प्रज्ञात से निर्वितर्क सम्प्रज्ञात में भेदबोधक जो (अर्थमात्रनिर्भासा) यह पद है उस के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं–“अर्थात्” इत्यादि।

(२) जितने स्थूल घट आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वह अनन्तपरमाणु ही मिले हुये हैं कुछ परमाणुओं का कार्य्य वा परिणाम घट नहीं है, अतः परमाणुपुञ्ज ही घट है, यह वैभाषिक-सौत्रान्तिक संज्ञक बौद्ध का मत है, इसी को संघातवाद कहते हैं, यह सब घटादि विज्ञानस्वरूप हैं यह योगाचारसंज्ञक विज्ञानवादि बौद्ध का मत है अणुयों से द्वयणुक द्वयणुक से त्रसरेणु इत्यादि प्रकार से परमाणु आदि का घट कार्य्य है, यह नैयायिक मानते हैं इसी का नाम आरम्भवाद है।

इन्ह तीनों से भिन्न परिणामवाद साङ्ख्य-योग का मत है, सोई कहते हैं “किन्तु” इत्यादि से।

'यह एक घट है' इस एकबुद्धि को उत्पन्न करने वाले अणुओं का स्थूल परिणामविशेष है (१)

भाव यह है कि—यदि (२) अनेक मिलित परमाणुओं को ही घटस्वरूप माना जाय गा तो (यह एकघट है) यह व्यवहार कैसे होगा क्योंकि अनेक परमाणुओं में एक व्यवहार का होना असम्भव है, एवं (यह महान् स्थूलघट है) इस प्रकार परमाणुओं में महत्त्व औ स्थूलत्व की प्रतीति भी कैसे होगी क्योंकि परमाणुओं में महत्त्व तथा स्थूलत्व का अभाव है।

किञ्च—मुद्गरप्रहार द्वारा घट के फूट जाने पर जो कपाल तथा शर्करा (कांकड) प्रभृति प्रतीत होते हैं सो भी बौद्ध मत में न होने चाहियें क्योंकि कुछ कपालादिकों ने तो घट का आरम्भ किया ही नहीं जिस से कपालादि-दिखायी दें किन्तु मिले हुये परमाणु ही घट हैं तथा च इस मत में घट का फूटना क्या मानों परमाणुओं का वियोग ही हो जाना है, एवं च वियुक्त हुये परमाणुओं को अतीन्द्रिय होने से घट फूटनेसे अनन्तर कुछ भी दिखायी देना न चाहिये औ कपालादि सभी को दिखायी देते हैं। अतः यह संघातवाद मत असङ्गत है।

एवं (३) यदि विज्ञानस्वरूप ही घट माना जाय गा तो (यह घट है) इस प्रकार बाह्य देश में घटादि पदार्थ प्रतीत न होने चाहियें क्योंकि यदि बुद्धि में घट मानते हो तो 'बुद्धि में घट है' ऐसी प्रतीति होनी उचित है औ यदि बुद्धिस्वरूप घट है तो (मैं घट हूं) इस प्रकार प्रतीति होनी उचित है, अतः सर्वथा ही भदन्त * मतानुयायी योगाचार का मत असङ्गत है।

एवं (४) यदि द्व्यणुकादि क्रम से घटादि की उत्पत्ति मानी जायगी तो

---

(१) "तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः" इस भाष्य का यह अनुवाद है।

(२) पूर्वोक्त भाष्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुये पहिले संघातवाद का खण्डन करते हैं 'यदि' इत्यादि से।

(३) पूर्वोक्त प्रकार से (एकबुद्ध्युपक्रमः) इस भाष्य के अर्थ कथनपूर्वक संघातवाद का निराकरण कर इदानीं (अर्थात्मा) इस भाष्य के अनुसार विज्ञानवादी पर आक्षेप करते हैं (एवं यदि) इत्यादि से। ज्ञानस्वरूप घट नहीं है किन्तु बाह्यपदार्थ स्वरूप है यह (अर्थात्मा) इस भाष्य का अर्थ है।

(*) भदन्त नाम २७ सत्ताइसदांतवाले का है, बुद्धदेव के सत्ताइस दांत थे इस से बुद्ध को भदन्त कहते हैं, विशेष बौद्धदर्शनसमीक्षा में देखो।

(४) इदानीं "अणुप्रचयविशेषाऽऽत्मा" इस भाष्य के अनुसार नैयायिकमत पर आक्षेप करते हैं "एवं यदि" इत्यादि से। अणुओं का स्थूलरूप परिणामघट है, यह इस भाष्य का अर्थ है।

मृत्तिका से भिन्न अन्य वस्तुओं से भी घट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि प्रथम अविद्यमान पदार्थ का ही फिर विद्यमानत्व हो जाना उत्पत्ति पद का अर्थ है, एवं च यथा मृत्पिण्ड में पहिले घट अविद्यमान था तथा वालूप्रभृति में भी अविद्यमानत्व समान है, तथा च जैसे मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होता है तैसे वालूप्रभृति से भी होना चाहिये परन्तु होता नहीं, अतः प्रथम अविद्यमान पदार्थ की फिर उत्पत्ति होती है यह आरम्भवाद भी असङ्गत है (१)।

एवं च (२) जैसे तिलों में विद्यमान ही तैल की पीड़नद्वारा अभिव्यक्ति होती है तैसे मृत्पिण्ड में विद्यमान ही घट की कुलालादि के व्यापार से अभिव्यक्ति होती है कुछ यह नहीं कि पहिले नहीं था फिर उत्पन्न हुआ है, यही मत समीचीन है।

परन्तु इतना (३) विशेष है कि–कुलालादि के व्यापार से पूर्व मृत्तिका में अनागताऽवस्था * से घट विद्यमान रहता है औ कुलालादि के व्यापार से अनन्तर वर्तमानावस्था वाला हो जाता है औ दण्डप्रहार से अनन्तर अतीताऽवस्थापन्न हो जाता है, सर्वथा ही घट का कुछ अभाव नहीं है, अतः पार्थिवभूतसूक्ष्मों से कथंचिद् भिन्न औ कथंचिद् अभिन्न जो स्थूलपरिणामविशेष सोई घट है यह जानना।

यह(४) परिणामविशेष ही अवयवी इस नाम से व्यवहृत होता है, औ यही एकमहान्–तथा-स्पर्शवान् औ जलादिधारनरूप क्रियावाला औ अनित्य कहा जाता है, औ इस अवयवीद्वारा ही सब व्यवहार होता है।

एवं च जिस बौद्ध के मत में यह प्रचयविशेष (स्थूलरूपपरिणाम) अवयवी अवस्तुक (तुच्छ) है उस के मत में परमाणुओं में पूर्वोक्त स्थूलादि व्यहार का असंभव जानना, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय औ सूक्ष्म हैं।

तथा च बौद्धमत में अवयवी के अभाव से जो यह पूर्वोक्त एक-स्थूल-अवयवी इत्यादिव्यवहार होता है वह सब अतद्रूपप्रतिष्ठ होने से मिथ्या ही ज्ञान कहा जायगा क्योंकि जो जो देखने में आता है वह सब अवयवी है औ वह अवयवी मानते नहीं, अतः सम्यक्ज्ञानशील न होने से बौद्धमत दुष्ट है।

(१) विस्तर खण्डन साङ्ख्यदर्शनप्रकाश के अ० १ सू० ११६ में देखो।

(२) स्वसिद्धान्त कहते हैं "एवंच" इत्यादि से।

(३) यदि सर्वदाही घट मृत्तिका में विद्यमान है तो दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता इस का उत्तर कहते हैं–(परन्तु इतना) इत्यादि से।

* इस अनागता ऽवस्थाकोहीसूक्ष्माऽवस्था औ अनभिव्यक्तावस्था कहते हैं।

(४) 'स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते' इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं 'यह' इत्यादि से।

तथा च ज्ञान के सत्यत्व के लिये महान्-स्थूल इत्यादि व्यवहारवाला एक अवयवी अवश्य ही मानना चाहिये।

यह पूर्वोक्त प्रकार से साधित स्थूलरूप अवयवी ही इस निर्वितर्कसमापत्ति का विषय है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार स्थूलपंचभूत तथा भौतिकपदार्थों विषयक ग्राह्यसमापत्ति के सवितर्क-निर्वितर्करूप दो भेद निरूपण कर इदानीं सूक्ष्मभूत तथा पञ्चतन्मात्रों विषयक ग्राह्यसमापत्ति के दो भेद निरूपण करते हैं—

सू० एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

भाषा—(एतया एव) इस सवितर्क-निर्वितर्कसमापत्ति के निरूपण से ही (सूक्ष्मविषया) सूक्ष्मभूतों विषयक (सविचारा निर्विचारा च) सविचार-निर्विचाररूप समापत्ति भी (व्याख्याता) व्याख्यान कियी गयी।

अर्थात्—जैसे स्थूलपदार्थों में शब्द-अर्थ-ज्ञानविकल्प से सङ्कीर्ण भावना को सवितर्कसमापत्ति औ असंकीर्णभावना को निर्वितर्कसमापत्ति कहा जाता है तैसे अभिव्यक्तधर्म वाले (१) भूतसूक्ष्मों में जो देश-काल-कारणज्ञान (२) पूर्वक भावना प्रवृत्त होती है सो सविचारा जाननी, औ देशादि ज्ञान के अभाव पूर्वक जो केवल सूक्ष्मभूतमात्र विषयक भावना प्रवृत्त होती है वह निर्विचारा जाननी।

सवितर्का की तरह इस सविचारा में भी वर्तमानादि धर्मविशिष्ट ही सूक्ष्मभूत आलम्बन हुये समाधिप्रज्ञा में भान होते हैं, अतः कार्य्यकारणभाव

---

(१) "भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये सविचार समापत्ति का निरूपण करते हैं "अभिव्यक्तधर्मवाले" इत्यादि से, अभिव्यक्त=प्रत्यक्षदृष्ट घटादिरूप स्थूलपदार्थ हैं (धर्म) परिणाम जिनों का एवंभूत जो सूक्ष्मभूत, यह इस का अर्थ है।

(२) देश=ऊपर, पार्श्व, अधः। काल=वर्तमानादि, कारणज्ञान=पार्थिवपरमाणु (सूक्ष्मपृथिवी) का गन्धतन्मात्रप्रधान पंचतन्मात्र कारण हैं, औ जलपरमाणु (सूक्ष्मजल) का गन्धतन्मात्र रहित रसतन्मात्रप्रधान चार तन्मात्र कारण हैं, औ अग्निपरमाणु (सूक्ष्मअग्नि) का गन्ध-रसतन्मात्ररहित रूपतन्मात्रप्रधान तीन तन्मात्र कारण हैं एवं वायुपरमाणु (सूक्ष्मवायु) का गन्ध-रस-रूपतन्मात्र रहित स्पर्शतन्मात्रप्रधान दो तन्मात्र कारण हैं एवं आकाशपरमाणु (सूक्ष्मआकाश) का केवल शब्दतन्मात्र ही कारण है। इस प्रकार कार्य्यकारणभाव विचारपूर्वक जिस भावना में सूक्ष्मभूतों का सक्षात्कार होता है वह सविचारा समापत्ति है, यह तत्त्व है।

का विचार रहने से यह सविचारा कही जाती है, औ जो भावना सर्वथा देश कालादिज्ञान से रहित केवल सूक्ष्मभूतों को विषयकर कार्य्यकारणभाव के विचार में प्रवृत्त न होकर केवल अर्थमात्रा होती है वह निर्विचारा कही जाती जाती है।

इस निर्विचारसमापत्ति में भी निर्वितर्कसमापत्ति की तरह प्रज्ञासंज्ञक चित्त की वृत्ति स्वरूप से शून्य होकर अर्थमात्र (१) हो जाती है।

भाव यह है कि-सविचारसमापत्ति में (सूक्ष्मपृथिवी गन्धतन्मात्रप्रधान-पञ्चतन्मात्रों से उत्पन्न हुयी है औ गन्ध इस का धर्म है) इत्यादि प्रकार से कार्य्यकारणभाव का विचार विद्यमान रहता है औ निर्विचार में केवल सूक्ष्म-भूतों का ही भान होता है कुछ पूर्वोक्त विचार नहीं रहता है, यही दोनों में भेद है।

एवं च स्थूलपदार्थविषयक सवितर्क-निर्वितर्क औ सूक्ष्मभूतों विषयक सविचारनिर्विचार-रूप भेद से यह ग्राह्यसमापत्ति चार प्रकार की हुयी यह निष्पन्न हुआ ॥ ४४ ॥

इदानीं (सविचार-निर्विचारसंज्ञक सूक्ष्मग्राह्यसमापत्ति में जिन सूक्ष्म-विषयों का साक्षात्कार होता है उन सूक्ष्मपदार्थों की विश्रान्ति कहां पर्य्यन्त है, इस आकांक्षा को निवारण करते हुये सूक्ष्मविषयत्व की अवधि कहते हैं—

सू० सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिङ्गपर्य्यवसानम् ॥४५॥

भाषा—(सूक्ष्मविषयत्वं च) सूक्ष्मग्राह्यसमापत्ति के विषयभूत सूक्ष्मविषयत्व का तो (अलिङ्गपर्य्यवसानम्) अलिङ्गसंज्ञक प्रकृति ही पर्य्यवसान= अवधि है।

अर्थात्—सूक्ष्म-ग्राह्यसमापत्ति की जो सूक्ष्मपदार्थविषयता है सो प्रकृति-पर्य्यन्त जा कर समाप्त हो जाती है।

भाव यह है कि—पार्थिवपरमाणु (२) तथा इस का कारणभूत गन्धत-

(१) अर्थात्—इस भावना में कार्य्यकारणभाव विचार को त्यागकर चित्त की वृत्ति एतादृश सूक्ष्मभूताकार से परिणत हो जाती है कि मानों अपनावृत्तिभावही एकवार इसने त्यक्त कर दिया है।

(२) पार्थिवपरमाणु नाम पृथिवीसंज्ञक सूक्ष्मभूत का है, एवं जलपरमाणु जलाख्यसूक्ष्मभूत का, अग्निपरमाणु अग्निसंज्ञक सूक्ष्मभूत का, वायुपरमाणु वायुसंज्ञक सूक्ष्मभूत का, आकाशपरमाणु-आकाशसंज्ञक सूक्ष्मभूत का नाम जानना।

यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि योगभाष्यकार के मत में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन पंच तन्मात्रों से पहिले आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथिवीसंज्ञक सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं, फिर उन सूक्ष्मभूतों से आकाशादि स्थूलभूत उत्पन्न होते है कुछ सांख्य मत की तरह तन्मात्रों से ही स्थूलभूतों की उत्पत्ति नहीं होती है।

न्मात्र, एवं जलपरमाणु तथा इस का कारणभूत रसतन्मात्र, एवं अग्निपरमाणु तथा इस का कारणभूत रूपतन्मात्र, एवं वायुपरमाणु तथा इस का कारणभूत स्पर्शतन्मात्र, एवं आकाशपरमाणु तथा इस का कारणभूत शब्दतन्मात्र, एवं इन पञ्चतन्मात्रों का कारणभूत अहङ्कार औं अहङ्कार का कारणभूत लिङ्ग संज्ञक (१) महत्तत्त्व, औं महत्तत्त्व का कारण अलिङ्गसंज्ञक प्रकृति, यह सब सूक्ष्म विषय कहे जाते हैं।

इन सब में से पूर्व २ कार्य्य की अपेक्षा से उत्तरोत्तर कारणभूत सूक्ष्म हैं। प्रकृति से परे फिर अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ को न होने से प्रकृति में ही सूक्ष्मता की विश्रान्ति है।

यद्यपि "अव्यक्तात्पुरुषः परः" इस श्रुति में प्रकृति की अपेक्षा से पुरुष को भी सूक्ष्म कहा है अतः प्रकृति में सूक्ष्मता की विश्रान्ति कथन असमञ्जस है तथापि पुरुष को अग्राह्य औं चेतन होने से ग्राह्य जड़पदार्थों की सूक्ष्मता की विश्रान्ति का प्रकृति में ही संभव होने से तहां ही विश्राम कथन समञ्जस है (२)।

अर्थात्—जैसे महत्तत्त्व की अपेक्षा से प्रकृतिमें सूक्ष्मता है ऐसी पुरुष में नहीं है क्योंकि जैसे महत्तत्व का प्रकृति उपादान कारण है तैसे पुरुष उपादान कारण नहीं है अपितु निमित्त कारण है, एवं च यद्यपि वस्तुतः पुरुष भी सूक्ष्म है तथापि जड़-ग्राह्य-परिणामि-उपादान-कारणता सहित सूक्ष्मताकी विश्रान्ति प्रकृति में ही है पुरुष में नहीं, अतः प्रधान में ही निरतिशय सौक्ष्म्य कहा गया है।

सूक्ष्मभूतों से ले कर प्रकृतिपर्य्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं वह सब ही सविचार-समापत्ति के विषय हैं यह तात्पर्य्य है ॥४५॥

ग्राह्यविषयक इन चारो संमापत्तियों का नामाऽन्तर कहते हैं।

सू० ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

भाषा—(ता एव) यह पूर्वोक्त चारो समापत्तियां ही (सबीजः समाधिः) सबीज समाधि कही जाती हैं।

---

(१) जो तत्त्व कारण में लीन हो जाता है वह लिङ्ग कहाजाता है, महत्तत्त्वा-दि निखिलकार्य्य अपने २ कारण में लीन होने से लिङ्ग हैं औ प्रकृति किसी में लीन न होने से अलिङ्ग है।

महत्तत्त्व अपने कारण प्रधान का बोधन करता है इस से भी वह लिङ्ग है।

(२) भाव यह है कि—सूक्ष्मभाव पदार्थ की समाप्ति कहां पर होती है, इस के उत्तर में प्रकृतिपर्य्यन्त समाप्ति कही गयी है, एवं च पुरुष भी सूक्ष्म रहो परन्तु जड़-पदार्थनिष्ठ सूक्ष्मता की विश्रान्ति तो प्रकृति पर्य्यन्त ही कही जायगी।

अर्थात्—यह चारो ही समापत्तियां सबीजसमाधि नाम से व्यवहृत होती हैं क्योंकि यह चारो ही वहिर्वस्तुबीजवाली (१) हैं, अर्थात् इन चारों समापत्तियों में स्थूल वा सूक्ष्म एक न एक आलम्बन बना ही रहता है अतः यह सालम्बन होने से सबीज हैं।

वाचस्पतिमिश्र तो यह कहते हैं कि—यहां पर "ता एव सबीजः" इस प्रकार पाठ से यह अर्थ मत जानना कि यह चारो हीं सबीज हैं अन्य नहीं क्योंकि ऐसे मानने से ग्रहण-ग्रहीतृसमापत्ति को सबीजत्व का लाभ नहीं होगा किन्तु "ता सबीज एव" इस प्रकार भिन्न क्रम से एव-शब्द का सबीजशब्द के संग अन्वय कर यह अर्थ करना कि यह चारों सबीज ही हैं निर्बीज नहीं, एवं च इन चारों को निर्बीजत्व का निषेध हुया कुछ ग्रहण-ग्रहीतृसमापत्ति को सबीजत्व का निषेध नहीं हुया, अतः इन दोनों में भी सबीजत्व की विद्य मानता से ग्रहण-ग्रहीतृसमापत्तियों को भी सबीज जानना।

एवं जैसे ग्राह्य समापत्ति में विकल्प औ विकल्प के अभाव द्वारा दो भेद निरूपण किये गये हैं तैसे ग्रहण-ग्रहीतृसमापत्तिमें भी दो दो भेद जानलेने (२)।

तथाच चारप्रकार की ग्राह्यसमापत्ति औ दो प्रकार की ग्रहणसमापत्ति औ दो प्रकार की ग्रहीतृसमापत्ति की सिद्धि होने से सब मिलकर सम्प्रज्ञातसंज्ञक सबीजसमाधि के आठ भेद हुये यह फलित हुया (३)।

वस्तुतः तो ग्रहणसंज्ञक इन्द्रिय औ ग्रहीतृसंज्ञक अहङ्कार भी सूक्ष्म ग्राह्य के अन्तर्गत ही हैं अतएव सूत्रकार ने प्रकृतिपर्य्यन्त सूक्ष्मविषय कहा है, यद्यपि भाष्यकारों ने सूक्ष्मपदार्थों में इन्द्रियों की गणना नहीं कियी है तथापि तन्मात्रों से इन्द्रियों का भी ग्रहण जान लेना क्योंकि जैसे पञ्चतन्मात्र अहङ्कार का कार्य्य औ सूक्ष्म हैं तैसे इन्द्रिय भी अहंकार का कार्य्य औ सूक्ष्म हैं, एवं च ग्राह्य समापत्ति में

---

(१) बहिर्वस्तु नाम प्रकृतिआदि बाह्य अनात्मवस्तु का है औ बीज नाम आलम्बन का है। अथवा इन सब समाधियों में बीजभूत अज्ञान बना ही रहता है इस से यह सबीज हैं।

(२) ग्रहण-नाम-श्रोत्र आदि इन्द्रियों का है, शब्द श्रोत्र का विषय है औ अहङ्कार इस का कारण है इस प्रकार विचारपूर्वक भावना करने से सविचारग्रहणसमापत्ति, केवल इन्द्रियमात्र की भावना करने से निर्विचारग्रहणसमापत्ति, एवं महत्तत्त्व का कार्य्य अहङ्कार त्रिगुणात्मक है इस प्रकार भावना से सविचारग्रहीतृसमापत्ति, औ केवल अहङ्कारमात्र की भावना करने से निर्विचारग्रहीतृसमापत्ति जाननी।

(३) एवं च छे प्रकार का सम्प्रज्ञात योग है, यह विज्ञानभिक्षु का प्रमाद ही जानना।

गत की तरह तन्मात्रों से ही स्थूलभूता का ...

ग्रहण-ग्रहीतृ समापत्ति का अन्तर्भाव जान कर ही सूत्रकार ने चार समापत्तियों को सबीज कहने से यथाश्रुत पाठ में भी कोई न्यूनता दोष नहीं है यह जानना। जिस सम्प्रज्ञातसमाधि के १७ सूत्र से चार भेद कहे गये हैं उसी के ही ४१ सूत्र से तीन भेद कहे हैं, औ उसी की फिर चार विभाग में यहां समाप्ति की है, औ अवान्तर भेद से यही आठ प्रकार का है, यह परमार्थ है ॥४६॥

इन सवितर्कादि-संप्रज्ञातसमाधियों में से अन्य समाधियों की अपेक्षा से निर्विचार-सम्प्रज्ञात को फल कथन पूर्वक श्रेष्ठ कहते हैं।

सू० निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

भाषा—(निर्विचारवैशारद्ये) निर्विचारसमाधि की विशारदता होने से, योगी को (अध्यात्मप्रसादः) एक काल में निखिलपदार्थविषयक यथार्थज्ञान उदय हो जाता है।

रजतम (१) गुण के आधिक्यप्रयुक्त जो अशुद्धि तथा आवरणरूप मल तिस से अपेत (रहित) हुयी प्रकाशस्वरूप बुद्धि का जो सत्वगुण के प्राधान्य से रज तम से अनभिभूत (अतिरस्कृत) स्वच्छ स्थिरतारूप एकाग्र प्रवाह, इस का नाम वैशारद्य है, जब निर्विचारसमाधि की उक्त विशारदता (प्रवीणता) योगी को लब्ध हो जाती है तब योगीको सूक्ष्मभूतों से लेकर प्रकृतिपर्य्यन्त निखिलपदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार हो जाता है, इस साक्षात्कार का नाम ही अध्यात्मप्रसाद है।

इसी को ही स्फुटप्रज्ञाऽऽलोक कहते हैं, औ प्रज्ञाप्रसाद भी इसी का ही नामान्तर है, इस प्रज्ञा-प्रसाद के लाभ होने से योगी अशोच्य (शोकरहित) हो जाता है, अत एव भगवान वेदव्यास ने—

" प्रज्ञाप्रसादमारुह्याऽशोच्यः शोचतो जनान् ,
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति "

इस वाक्य से प्रज्ञाप्रसाद वाले को अशोच्य कहा है।

जैसे शैलशिखराऽऽरूढ पुरुष भूमिस्थित पुरुषों को अल्प देखता है तैसे यह योगी प्रज्ञाप्रसाद रूप शैल पर आरूढ हुआ ज्ञान के प्रकर्ष से अपने को

---

(१) " अशुद्ध्यावरणमलाऽपेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् " इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये निर्विचारवैशारद्य का अर्थ करते हैं " रजतम " इत्यादि से।

सर्वोपरि जानता हुआ अशोच्य (शोक से रहित) होकर अन्य सब पुरुषों को शोकयुक्त औ अल्प देखता है, यह इस का अर्थ है ॥ ४७ ॥

इस अध्यात्मप्रसाद के लाभ होने से जिस प्रज्ञा का योगी को लाभ होता है उस का सार्थक नाम कहते हैं—

सू० ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

भाषा—(तत्र) तिस अध्यात्मप्रसाद के लाभ होने पर, जो योगी को (प्रज्ञा) बुद्धि लब्ध होती है उस का नाम (ऋतम्भरा) है।

अर्थात्—निर्विचारसमाधि के वैशारद्य से जन्य अध्यात्मप्रसाद के होने पर जो समाहितचित्त योगी की एक-प्रकार चित्त की वृत्ति उत्पन्न होती है उस का नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है (१) अर्थात् यह प्रज्ञा सत्य अर्थ को ही धारण करती है कुछ मिथ्या अर्थ को नहीं क्योंकि इस में विपर्य्ययज्ञान का लेश भी नहीं है।

यह जो इस चित्तवृत्ति का नाम ऋतम्भरा है सो रूढ नहीं है किन्तु अर्थ के अनुसार ही है क्योंकि ऋत नाम सत्य का है औ भर नाम धारण करनेवाली वृत्ति का है, एवं च सत्यार्थधारिणी होने से ऋतम्भरा यह नाम सार्थक है।

इस प्रज्ञा के होने से ही उत्तमयोग का लाभ होता है, ऐसे ही परमर्षि ने कहा है।

"आगमेनाऽनुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् (२) इति ॥४८॥

इदानीं इस ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्षज्ञान को आगम औ अनुमान जन्य ज्ञान से श्रेष्ठ कहते हैं—

सू० श्रुताऽनुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ४९

भाषा—(श्रुताऽनुमानप्रज्ञाभ्याम्) श्रुत=शास्त्रजन्य प्रज्ञा औ अनुमानजन्य प्रज्ञा से, यह ऋतम्भरा प्रज्ञा (अन्या) भिन्न है क्योंकि (विशेषार्थत्वात्) यह प्रज्ञा विशेषरूप से अर्थ का साक्षात्कार करने से विशेषार्थविषयक है।

---

(१) इस प्रज्ञा से जो पदार्थों का भान होता है वह सत्य ही सत्य होता है, कुछ मिथ्या नहीं, यह भाव है।

(२) आगम नाम श्रवण का, अनुमान नाम मनन का, औ ध्यानाऽभ्यासरस नाम निदिध्यासन का है, इन तीनों द्वारा प्रज्ञा की प्रकल्पना से अर्थात् मार्जनपूर्वक सूक्ष्मता की सम्पत्ति से योगी उत्तम योग को प्राप्त हो जाता है, यह इस का अर्थ है।

श्रुत नाम आगमज्ञान का है, अर्थात्–आगमजन्य ज्ञान सामान्य को ही विषय करता है विशेष को नहीं क्योंकि विशेषकथन करने का आगम में सामर्थ्य नहीं हैं कारण यह कि विशेष के सङ्ग शब्द का वाच्यवाचकभाव संबन्ध ही नहीं है (१)।

अर्थात्–शब्द जो है वह सामान्यरूप से ही लक्षणद्वारा वस्तु का निरूपण कर सकता है जैसा कि इस को स्वर्ग कहते हैं यह आत्मा का लक्षण है यह प्रकृति का लक्षण है, कुछ यह आत्मा है यह प्रकृति है यह सूक्ष्म भूत है इस प्रकार विशेष व्यक्ति का प्रत्यक्ष नहीं करा सकता है।

एवं अनुमान भी (जहां धूम है वहां अग्नि है, जहां प्राप्ति है वहां गति है औ जहां गति का अभाव है वहां प्राप्ति का अभाव है) इस प्रकार सामान्यरूप से ही वस्तु का ज्ञान उत्पन्न कराता है कुछ विशेष प्रत्यक्षरूप से नहीं (२)।

अतः आगम औ अनुमान विशेषविषयक नहीं हैं किन्तु सामान्य-विषयक ही हैं।

औ ऋतम्भरा-प्रज्ञा तो विशेषरूप से प्रकृति आदि अनात्म सूक्ष्मपदार्थों का औ पुरुषगत विशेष का भी प्रत्यक्षकर लेती है इस से उन दोनों से अन्य-विषयक होने से यह विशेष है।

यद्यपि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान भी विशेष को विषय कर सकता है तथापि वह सूक्ष्म-व्यवहित दूरवर्ती पदार्थ गत विशेष ग्रहण में असमर्थ होने से पुरुष-प्रकृति आदि गत विशेष का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

औ यह तो कोई कही नहीं सकता कि (लौकिकप्रत्यक्ष-अनुमान-आगम-प्रमाण का विषय न होने से पुरुषगत विशेष अप्रामाणिक है) क्योंकि योगी-लोक पुरुषादिगत विशेष को समाधिकाल में प्रत्यक्ष देखते हैं।

एवं च समाधि में होने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही पुरुष-प्रकृतिगत विशेष का साक्षात्कार होता है अन्य से नहीं, (३) अतएव यह प्रज्ञा विशेष-विषयक

---

(१) जिस वस्तु के साथ शब्द का शास्त्र ने सङ्केत किया है तिस वस्तु को वह शब्द सामान्यरूप से ही बोधन करता है विशेषरूप से नहीं, अत एव गोशब्द के श्रवण से मनुष्य को सामान्य ज्ञान होता है कुछ विशेष व्यक्तिविशेष का नहीं, यह तत्त्व है।

(२) कुछ धूम ज्ञान द्वारा वन्हि त्रिकोण वा चतुष्कोण है इस प्रकार विशेष ज्ञान नहीं होता है किन्तु सामान्य रूप से ही वन्हि का ज्ञान होता है।

(३) यद्यपि बुद्धितत्त्व सत्त्वगुण प्रधान होने से सर्व पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में स्वभावतः ही समर्थ शील है तथापि तमोगुण कर आवृत होने से निखिलपदार्थों का ग्रहण नहीं कर सकता, फिर जब अभ्यासवैराग्य-जन्य समाधि से रजतमगुणनाशपूर्वक बुद्धि में वैशारद्य उदय हो जाता है तब ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है कि जिस को यह

होने से श्रुत-अनुमान प्रज्ञा से अन्य औ उत्कृष्ट है यह निष्पन्न हुआ ॥ ४९ ॥

इस समाधि प्रज्ञा के लाभ से जो योगी के चित्तमें इस प्रज्ञा से जन्य नूतन २ संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्य सब विक्षेपसंस्कारों का प्रतिबन्धक होता है।

यही सूत्रकार कहते हैं—

सू० तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

भाषा—(तज्जः) तिस ऋतम्भराप्रज्ञा से जन्य, जो (संस्कारः) संस्कार है, वह (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) अन्य विक्षेपजनित संस्कारों का प्रतिबन्धक है।

अर्थात्—निर्विचारसमाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न जो संस्कार हैं वह निखिल अन्य व्युत्थान-संस्कारों का बाधक होता है।

यद्यपि (१) अनादिकाल से प्रवृत्त विषयभोगवासनाजनित दृढ संस्कारों को प्रबल होने से इस आधुनिक ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कारों से उन का बाध होना असंभव है तथाऽपि बुद्धि का तत्त्वविषयक पक्षपात होने से यह आधुनिक संस्कार भी अनादिव्युत्थान का बाधा कर सकते हैं (२)

अर्थात्—तावत्काल ही यह बुद्धि विक्षिप्त हो कर इतस्ततः भ्रमण कर रही है कि यावत्काल यह तत्त्व का लाभ नहीं करती औ जब फिर तत्त्व का लाभ हो गया तब आपही अन्य विषयों का त्याग कर उस में स्थिर हो जाती है, औ दिनों दिन स्वसंस्कारद्वारा मिथ्या संस्कारों का अभिभव 'निरादर' कर देती है।

इस प्रकार व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव होने से फिर विक्षेप जन्य प्रमाण-विपर्ययादि वृत्तियां भी उत्पन्न नहीं होती हैं, औ इन वृत्तियों की उत्पत्ति न होने से वृत्तिनिरोधलाभ द्वारा निर्विचार समाधि भी उपस्थित हो जाता है औ

बुद्धितत्त्व विषय न कर सके अपितु सूक्ष्म, दूरस्थ, व्यवधानसहित, भूत, भविष्यत् निखिलपदार्थों को विषय कर लेता है, इस से प्रकृति तथा पुरुषादि गत विशेष के प्रत्यक्ष करने में ऋतम्भरा प्रज्ञा समर्थ होने से आगम अनुमानादि ज्ञान से उत्कृष्ट है यह तत्त्व है।

(१) जैसे उद्दण्ड प्रवहमान वायु के वेग में दीप की शिखा का स्थिर होना दुःसाध्य है तैसे प्रचण्ड विषयवासना से विक्षिप्त हुये चित्त में स्थिरता का संस्कार भी होना असाध्य है, इस आशंका का अनुमोदनपूर्वक उत्तर कहते हैं "यद्यपि" इत्यादि से।

(२) स्वभावतः बुद्धि का पक्षपात सत्यवस्तु की ही तरफ रहता है मिथ्या की ओर नहीं, एवं च यद्यपि मनुष्य के चित्त में अनेक प्रकार के सांसारिक विषय विद्यमान हैं तथापि उन को मिथ्या होने से बुद्धि उस तरफ उन्मुख नहीं होती किन्तु यथार्थ तत्त्वग्राहिणी हुयी तत्त्व का पक्षपात कर उनमिथ्या संस्कारों का पराभव कर देती है, यह तत्त्व है।

फिर निर्विचारसमाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा का लाभ होता है, फिर उस प्रज्ञा से निरोध संस्कार होता है, औ संस्कार से फिर ऋतंभराप्रज्ञा का प्रकर्ष, उस प्रज्ञा से फिर संस्कार का प्रकर्ष, इस प्रकार दिनों दिन नया नया ही संस्कार उदय होता रहता है।

आशङ्का—जब कि (१) समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार विद्यमान ही रहते हैं तो वह संस्कार चित्त को अधिकारविशिष्ट क्यों नहीं करते, क्योंकि जो चित्त-वासनाजनित संस्कारों से युक्त होता है वह चित्त जन्मादिदुखदेनेकीयोग्यता वाला होने से अधिकारविशिष्ट कहा जाता है।

समाधान—यद्यपि संस्कार विद्यमान रहते हैं तथापि यह संस्कार क्लेश-क्षय का हेतु होने से चित्त को अधिकारविशिष्ट नहीं कर सकते प्रत्युत चित्त को अधिकार से रहित करदेते हैं क्योंकि जो संस्कार क्लेशादिवासना से जन्य होते हैं वही संस्कार चित्त को अधिकारविशिष्ट करते हैं कुछ ऋतम्भराप्रज्ञा-जन्य नहीं।

भाव यह है कि—चित्त का दो कार्य्यों में अधिकार है एक शब्दादि का पुरुषों को भोग देना औ एक विवेकख्याति उत्पन्न करनी, तहां भोग-हेतु क्लेशादिवासनाजनित-संस्कारविशिष्ट चित्त भोगादिअधिकार वाला कहा जाता है औ समाधिजन्य संस्कार से क्लेशसंस्काररहित हुया चित्त विवेख्यातिअधिकार वाला कहा जाता है, इन दोनों में से प्रथम ही अधिकार भोग का हेतु होने से दुष्ट है दूसरा नहीं (२)।

विवेकख्याति के उदय से भोगाधिकार की समाप्ति हो जाती है क्योंकि विवेकख्याति के उत्पादनपर्य्यन्त ही चित्त की चेष्टा है फिर आगे नहीं* ॥५०॥

इस प्रकार ऋतम्भराप्रज्ञारूपफल-सहित सम्प्रज्ञातसमाधि का निरूपण कर इदानीं (इस योगी को प्रज्ञाजन्य संस्कारों के निरोधार्थ अन्य कुछ कर्तव्य अपेक्षित है वा नहीं) इस आशङ्का का निवारण करते हुये जिस असम्प्रज्ञात-

---

(१) "कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साऽधिकारं न करिष्यति" इस शंकापर भाष्य के अनुसार आशङ्का का उत्थापन करते हैं (जब कि) इत्यादि से।

(२) तावत्काल ही चित्त भोग के लिये चेष्टा करता है कि यावत्काल विवेक ख्याति की उत्पत्ति नहीं करता है औ जब विवेकख्याति उदय हुयी तब क्लेश निवृत्त होने से अपने ही भोगाधिकार समाप्त हो जाता है, एवं च भोगाधिकार की शान्ति ही प्रज्ञाकृतसंस्कारों का प्रयोजन है यह तत्त्व है।

(*) "ख्यातिपर्य्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्" इस भाष्य का यह अनुवाद है।

समाधि से इन प्रज्ञाकृत संस्कारों के निरोध द्वारा चित्त एकवार निरधिकार हो जाता है उस असम्प्रज्ञात का लक्षण कहते हैं—

सू० तस्याऽपि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ५१

भाषा—(तस्याऽपिनिरोधे) परवैराग्य द्वारा तिसप्रज्ञाजन्यसंस्कारों का भी निरोध होने पर, (सर्वनिरोधात्) निखिल पुरातन नूतन संस्कारों का निरोध होने से (निर्बीजः समाधिः) निर्बीज समाधि हो जाता है।

अर्थात्—पूर्वोक्तगुणवैतृष्ण्य रूप परवैराग्य से जन्य जो निखिल वृत्तिप्रवाह औ संस्कार-प्रवाह का निरोध वह निर्बीज समाधि कहा जाता है (१)।

इसी को ही निर्विकल्प वा असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

सो यह निरोध केवल समाधिजन्य ऋतम्भराप्रज्ञा का ही विरोधी नहीं हैं किन्तु प्रज्ञाजन्य संस्कारों का भी यह विरोधी ही है, इसी के बोधनार्थ सूत्र में (तस्याऽपि) यह 'अपि' पद दिया है।

अर्थात्—इस निरोध से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह सब संप्रज्ञात समाधिजन्य संस्कारों को बाध कर ही उदय होता हैं ऐसे ही नहीं।

यद्यपि इस सर्ववृत्तिनिरोध में तथा परवैराग्यजन्य संस्कारों में प्रत्यक्ष प्रमाण की योग्यता नहीं है क्योंकि सर्ववृत्तिनिरोध का योगी को प्रत्यक्ष होना असम्भव है एवं स्मृतिरूप कार्य्य से भी निरोधसंस्कार सत्ता अनुमित नहीं हो सकती क्योंकि वृत्तिमात्र का निरोध होने से इन संस्कारों की स्मृतिजनन में शक्ति नहीं है तथापि चित्त की निरुद्धावस्था का जो मुहूर्त अर्द्धप्रहर प्रहर दिन-रात्रि इत्यादि कालक्रम तिस से निरोधसंस्कारों का अनुमान जान लेना (२)।

अर्थात्—जैसे जैसे परवैराग्य के अभ्यास से व्युत्थान तथा समाधि के संस्कारों की न्यूनता होती है तैसे तैसे निरोध की संस्कारों की सत्ता का अनुमान कर लेना, क्योंकि विना निरोध संस्कार की सत्ता से समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कारों की न्यूनता होनी असंम्भव है।

---

(१) जैसे संप्रज्ञातसमाधि में ध्येयाऽऽकार वृत्ति का विषय भूत प्रकृति आदि आलम्बन रूप बीज विद्यमान रहता है तैसे इस समाधि में ध्येयरूप बीज नहीं रहता है, इस से यह निर्बीज है।

(२) योगी को जो वृत्तियों का निरोध होगा सो एक काल में तो होगा नहीं किन्तु पहिले दो घटी फिर अर्द्धप्रहर इत्यादि क्रम से होगा इसी से निरोधवृद्धि का सद्भाव जानलेना

इस निरोधावस्था में क्लेशजनक व्युत्थानसंस्कार तथा कैवल्योपयोगि संप्रज्ञातसमाधिजन्य संस्कारों के सहित ही चित्त अपनी प्रकृति में प्रविलय होकर अवस्थित हो जाता है।

यद्यपि निरोधसंस्कारों के सद्भाव से यह चित्त यत्किञ्चिद्अधिकारविशिष्ट ही प्रतीत होता है तथापि यह संस्कार अधिकार के विरोधी ही हैं कुछ भोग के हेतु नहीं, क्योंकि इस दशा में शब्दाद्युपभोग वा विवेकख्याति यह दोनों ही अधिकार निवृत्त हो जाते हैं।

अत एव यह चित्त निरोधावस्था में समाप्तअधिकार वाला होकर संस्कारों के सहित निवृत्त हो जाता है।

इस समाप्त-अधिकारवाले चित्त के निवृत्त होने से पुरुष निजशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित हुया शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है।

इस असम्प्रज्ञातयोग के लाभ से ही योगी जीवन्मुक्तिपद में अभिषिक्त हो जाता है।

यह असम्प्रज्ञातयोग ही निखिलकर्तव्यों की सीमा है * ॥५१॥

दो० उपक्रम † लच्छन योग पुन, लच्छन वृत्ति बखान।
योग उपाय विभेद कथ, कियो पाद अवसान ॥१॥

---

* यहां पर भाष्यकारों ने "इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमः" इस वाक्य से इस शास्त्र को सांख्यप्रवचन कहा है, इस का अर्थ यह है कि-यह योगशास्त्र सांख्यशास्त्र का ही प्रकृष्ट से वचन=प्रतिपादन करता है, अर्थात्--इस योगशास्त्र में प्रक्रिया सब सांख्य की ही है केवल ईश्वर का स्वीकार औ योग का प्रतिपादन इस में प्रकृष्ट=अधिक है, अतएव इस का नाम सेश्वरसांख्य है।

† इदानीं इस पादोक्त अर्थ के संग्रह कथन पर दोहा का उपन्यास कर पादसमाप्ति करते हैं (उपक्रम) इत्यादि से, उपक्रम नाम आरम्भ का है, तहां—१ सूत्र से योगारम्भ की प्रतिज्ञा कथन कियी २ सूत्र से योग का लक्षण कहा, औ ३, ४, सूत्रों से योग का औ व्युत्थान का परस्परभेद निरूपणकर, ५ से ११ तक चित्तवृत्तियों का निरूपण किया, फिर १२ सूत्र से वृत्तिनिरोध का उपाय कहा, पश्चात अभ्यासवैराग्य के लक्षण कथन पूर्वक ४० सूत्र पर्य्यन्त स्थिति के उपाय कहे, फिर समाप्तिपर्य्यन्त अवान्तरभेद सहित सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात समाधि का भेद निरूपण किया।

इति श्रीमद् -उदासीनप्रवर-स्वामि-बालराम-परमहंस समुद्भासिते पातञ्जलदर्शनप्रकाशे समाधिपादः * प्रथमः ।

* इस पाद में सांगोपांग समाधि का निरूपण प्रधान है अतः इस का नाम समाधिपाद है ।

इति श्री यतिवरउदासीन आत्मस्वरूप हंस † समुद्दीपितं पातञ्जलदर्शनप्रकाश-टिप्पणम् ।

† हंसनाम वेद में शिखारहित यज्ञोपवीतधारी उदासीन का है । यह भूमिका के प्रथम पृष्ठ के टिप्पण में स्पष्ट है ।



ओम्

नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

पातञ्जलदर्शनप्रकाशे साधनपादः ॥ २ ॥

दो० जिज्ञासु जन तरन हित, साधनपाद अनूप ।
करत प्रकाश महेश नम, बालराम यतिभूप ॥१ ॥

पूर्वपाद में (१) समाहितचित्त योगी के प्रति योग उपदिष्ट किया, इदानीं व्युत्थितचित्त पुरुष भी किसी प्रकार समाहितचित्त हो कर योगयुक्त हो जाय एतदर्थ द्वितीय साधनपाद का आरम्भ किया जाता है (२) ।

तहां वक्ष्यमाण यम नियमादि योगसाधनों में से पृथक कर पहिले सुकर अत्यन्तोपकारक क्रियायोग का निरूपण करते हैं-

---

सो०—उदासीन-कवि-भूप, शिक्षाविद्याप्रद गुरु ।
वन्दत आतमरूप, साधनपाद विवरण हित ॥ १ ॥

(१) (जब कि अवान्तरभेद सहित सफल योग का निरूपण हो ही चुका तब फिर क्या शेष रहा कि जिस के लिये उत्तर पाद का आरम्भ किया जाता है ' इस आशंका का वारण करते हुये उत्तरपाद के संग पूर्व पाद की संगति निरूपणसहित पूर्व वृत्त के अनुवादपूर्वक उत्तरपाद के आरम्भ में हेतु कहते हुये साधनपाद के प्रकाश का आरम्भ करते हैं (पूर्वपाद में) इत्यादि से ।

(२) भाव यह है कि—पूर्व समाधिपाद में मूढ़ तथा क्षिप्त चित्तवाले पुरुषों के प्रति योगाऽभावकथन पूर्वक समाहित चित्त वाले योगाऽरूढ उत्तम अधिकारी के प्रति अभ्यास-परवैराग्यसाध्य असंप्रज्ञातयोग औ एकाग्रचित्तवाले मध्यमअधिकारी के प्रति सम्प्रज्ञातयोग कथन किया, परन्तु विक्षिप्त चित्तवाले मन्द अधिकारी के प्रति कोई भी उपाय निरूपण नहीं किया क्योंकि उन के चित्त को सांसारिकवासना तथा रागद्वेष से कलङ्कित होने से उन पुरुषों को झटिति अभ्यास वैराग्यादि का होना असम्भव है, इदानीं वह विक्षिप्तचित्तवाले पुरुष भी जिन साधनों के अनुष्टान से शुद्धान्तःकरण हुये अभ्यास वैराग्य की योग्यता संपादन द्वारा एकाग्रचित्त होजांय उन साधनों के प्रति पादनार्थ कृपालु आचार्य्य द्वितीय साधनपाद का आरम्भ करते हैं ।

सू० तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।१।

भाषा—तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, यह तीनों (क्रियायोगः) क्रियायोग हैं।

अर्थात्—तप आदि तीनों क्रिया (कर्म), योग का साधन होने से क्रियायोग पद का वाच्य हैं।

बिना तपस्वी से योग सिद्ध हो नहीं सकता अतः प्रथम तप का उपादान (ग्रहण) किया है ।

भाव यह है कि—अनादि कर्म-क्लेश वासना से चित्रित हुआ जो विषयों में औन्मुख्य (प्रवृत्ति) कराने वाला अशुद्धिसञ्ज्ञकरजतमकाप्रचार वह विना तप के अनुष्ठान से सम्भेद (विरलप्रचार वा नाश) को प्राप्त होना असम्भव है अतः सब से पहिले तपरूपसाधन का उपदेश किया है।

तप=हित-मित मेध्य भोजनपूर्वक (१) द्वन्द्वसञ्ज्ञकशीतउष्णादिसहनशीलतासहित इन्द्रियों का निरोध तपशब्द का अर्थ है।

जो (२) तप चित्त की प्रसन्नता का हेतु हो तथा शरीर

---

(१) यहां हितभोजन से योगविरोधी अतिअम्ल, अतिलवण, अतिउष्ण, अतिरूक्ष, तिल, सर्षप, दधि, मांस प्रभृति का त्याग, औ गेहूं, तण्डुल, गोदुग्ध, खण्ड, घृत, मधु मूंग प्रभृति का सेवन लेना, ऐसे ही दत्ताऽऽत्रेय जी ने कहा है—"लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकम्, अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम्" इति। स्कन्द-पुराण में तो "त्यजेत् कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्" इस वाक्य से कटु आदि के त्यागपूर्वक दुग्धपान हां योगी को पथ्य कहा है। उदर के दो भाग अन्न से पूर्ण करे औ एक भाग जल से पूरण करे औ तुरीयभाग वायु के संचारार्थ खाली रक्खे, इस का नाम मितभोजन है, मद्य, मत्स्य, मांस, लशुनादि के त्याग पूर्वक परवल, सूरण, वाथू प्रभृति के शाक का सेवन करना मेध्यभोजन कहा जाता है।

(२) "तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमितिमन्यते" इस भाष्य का अनुवाद करते हुये प्रकृतोपयुक्त तप का लक्षण करते हैं "जो तप" इत्यादि से।

इन्द्रियादि का बाधाकारक (पीड़ाकर) न होय वही तप योगारु रुचु मन्द अधिकारी के प्रति सेवनीय है अन्य नहीं, यही सूत्र-कारादिमहर्षियों का अभिमत है।

अर्थात्—यहां पर तप शब्द से स्मृतिकारोक्त (१) शरीरपीडा-कर तपों का ग्रहण नहीं करना क्योंकि उपवासादि के अभ्यास से मरणभय औ चान्द्रायणादि के अभ्यास से धातुवैषम्य होने से यह सब योग के विरोधी हैं किन्तु हित-मित-मेध्य भोजन द्वारा इन्द्रियों का निरोध करना ही यहां तप-शब्द का अर्थ है।

अतएव "तपसाऽनाशकेन" इस श्रुति में (जो शरीर का नाशक नहीं है एवंभूत तप से आत्मज्ञान की योग्यता होती है) इस प्रकार पीड़ाकर तप का निषेध किया है, अतः युक्त आहार-विहार (२) को यहां तप जानना।

स्वाध्याय=ओङ्कार, रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त, मण्डल, ब्राह्मण आदि वैदिकमंत्र, तथा ब्रह्मपार आदि पौराणिक पवित्रमन्त्रों का जप, एवं मोक्षशास्त्र-उपनिषदादि का अध्ययन, इस का नाम स्वाध्याय है।

ईश्वरप्रणिधान=निखिल कर्मों का परमगुरु भगवान में अर्पण करना, जैसा कि मुनियों ने कहा है—

"कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाऽशुभं, तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्" अर्थात्—फलेच्छा से वा निष्का-मता से जो मैं शुभाऽशुभकर्म का अनुष्ठान करता हूं सो सब मैं आप ही को समर्पण करता हूं क्योंकि आप ही अन्तर्यामी हो

---

(१) "उपवासपराकादिकृच्छ्चान्द्रायणादिभिः, शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम्" इस स्मृतिउक्त उपवासादि।

(२) युक्तआहार पूर्व कह चुके हैं, औ युक्तविहार यही है कि--रात्रि के प्रथम औ अन्तिम प्रहर में जागरण औ मध्यके दो प्रहर में शयन इत्यादि।

कर प्रेरणा करते हो तो मैं करता हुं ऐसे नहीं (१)।

यद्वा फलेच्छापरित्यागपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करना हो यहां ईश्वरप्रणिधान जानना, जैसा कि गीता में कहा है—

"कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदा चन, मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि"

हे अर्जुन ! कर्मों के अनुष्ठान में ही तुमें अधिकार है, औ कर्मों के फल में कदाऽपि अधिकार नहीं, अतः फल के अर्थ कर्म का अनुष्ठान मतकरो, औ (निरर्थक कर्म करने से क्या फल होगा) इस कुतर्क से कर्मों के अनुष्ठान में आसक्ति का अभाव भी मत करो किन्तु निरन्तर कर्म करते ही रहो, यह कृष्णवाक्य का अर्थ है। अर्थात्--ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ भृत्यवत् निष्कामकर्मानुष्ठान का नाम ईश्वरप्रणिधान है।

यह सब क्रिया योग का साधन हैं इसलिये इन को क्रियायोग कहा जाता है।

विष्णुपुराणान्तर्गत खाण्डिक्यकेशिध्वजसंवाद में भी पहिले इस क्रियायोग का ही उपदेश किया है।

एवं भगवान् ने गीता में भी—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते" इस वाक्य से आरुरुक्षु (२) योगी के प्रति पहिले क्रियायोग ही करना कहा है॥ १॥

इदानीं (इस क्रियायोग से क्या फल लब्ध होता है) इस आकांक्षा के निवारणार्थ क्रियायोग का फल कहते हैं—

---

(१) भगवान् ने भी गीता में "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्, यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इसवाक्य से—(हे कौन्तेय जो तुम कार्य्य करो वा भक्षण करो वा यज्ञ करो वा दान करो यह सब मेरेही अर्पण करो" इस प्रकार अर्पण को ही ईश्वरप्रणिधान कहा है।

(२) योगेच्छु का नाम आरुरुक्षु है।

'स हि क्रियायोगः*'

सू० समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

भाषा—(स हि क्रियायोगः) सो यह पूर्व उक्त क्रियायोग, 'समाधिभावनार्थः' समाधि की भावना=सिद्धिरूप प्रयोजनवाला है, (च) और 'क्लेशतनूकरणार्थः' क्लेशों को सूक्ष्म करदेने रूप प्रयोजन वाला है।

यद्वा 'अनुष्ठेयः' इस पद का अध्याहार कर यह अर्थ करना कि- सो यह क्रियायोग समाधि की सिद्धि के अर्थ औ क्लेशों की सूक्ष्मता के अर्थ अनुष्ठान करना उचित है।

अर्थात्—यह क्रियायोग आसेव्यमान (सम्यक्प्रकार सेवनकिया हुया) समाधि की भावना (उत्पत्ति वा सिद्धि) करदेता है औ क्लेशों को सूक्ष्म कर देता है।

इस (१) क्रियायोगद्वारा सूक्ष्म किये हुये क्लेशों को ही फिर योगी प्रसंख्यानरूप अग्नि से दग्धबीजतुल्य संपादन कर अप्रसवधर्मी (२) करदेता है।

भाव यह है कि—यथा अंगारमध्यपतित बीज अंकुरोत्पादन

(*) इतना पाठ भाष्यकारों ने सूत्र के आदि में अध्याहार किया है।

(१) यदि क्रिया योग के अनुष्टान से ही क्लेश सूक्ष्म हो सकते हैं तो फिर प्रसंख्यानसंज्ञक विवेकख्याति किस लिये है, इस आशङ्का का वारन करते हुये "प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाऽग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यति" इस भाष्य का अनुवाद करते हैं--"इस क्रिया" इत्यादि से।

(२) जो अपने अंकुर उत्पादन में समर्थ न होय वह वन्ध्य औ अप्रसवधर्मी कहे जाते हैं, अर्थात्—क्रियायोग का क्लेशों को सूक्ष्म कर देना ही कर्तव्य है कुछ क्लेशों को (वन्ध्य) दग्ध करदेना नहीं, औ प्रसंख्यान तो वन्ध्य करदेने में भी समर्थ है, परन्तु विना सूक्ष्म हुये क्लेशों का वन्ध्य होना असम्भव है अतः क्रियायोग औ प्रसंख्यान दोनों ही उपादेय हैं।

में असमर्थ होता है, तैसे बलिष्ट विरोधी क्लेशों से संवलित अन्तःकरण में प्रधान पुरुष का विवेक होना दुर्घट है अतः प्रथम क्रिया योग के अनुष्ठानद्वारा क्लेशों को सूक्ष्म करे फिर सूक्ष्म हुये क्लेशों को प्रसंख्यानअग्नि से दग्धतुल्य करे कि जिस में वह क्लेश अपने संस्काररूप अंकुर को उत्पन्न न कर सकें।

क्लेशों के तनूकरण (सूक्ष्मकरण) से अनन्तर फिर क्लेशों कर अनभिभूत हुया सत्वपुरुषान्यताख्यातिसञ्ज्ञक विवेक सहज ही उदय हो जाता है, तदनन्तर ऋतम्भराप्रज्ञा भी योगी को अनायास से हीलब्ध हो जाती है।

परन्तु यह विवेकख्याति भी तावत्काल ही विद्यमान रहती है कि यावत्काल निरोधसंज्ञक असम्प्रज्ञातसमाधिका लाभ नहीं होता क्योंकि निरोधकाल में यह प्रज्ञा भी समाप्त अधिकार (१) होने से प्रतिप्रसव (विलयभाव) के लिये समर्थ हो जाती है, (२) अर्थात्—यह प्रज्ञा भी निरोधकाल में लय हो जाती है॥ २॥

(जिन क्लेशों को क्रियायोग सूक्ष्म करता है वह क्लेश कौन हैं और कितने हैं) इस आशंका के शमनार्थ संख्या सहित क्लेशों का स्वरूप निर्देश करते हैं।

सू० अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥३॥

भाषा—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह पांच क्लेश हैं।

---

(१) समाप्त=नाश किया है सत्वआदि गुणों का औ क्लेशों का कार्य्यजनन सामर्थ्य जिस ने वह समाप्तअधिकार वाली कही जाती है।

(२) अर्थात्—सत्वपुरुषान्यताख्याति भी गुणों का कार्य्य होने से हेय ही है इस लिये विवेकख्याति की प्राप्तिमात्र से ही अपने को कृतकृत्य मत समझे किन्तु निरोधसमाधिद्वारा इस का भी लय करे, येहै सब तृतीय पाद में १८ इस सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट होगा—

अर्थात्—अविद्या आदि पंच, क्लेश का हेतु होने से क्लेश कहे जाते हैं, औ यही पंच विपर्य्यय भी कहे जाते हैं (१)।

यद्यपि मिथ्याज्ञान, विपर्य्ययज्ञान, अविद्या, इन तीनों को एकार्थक होने से अविद्यासंज्ञक क्लेश ही विपर्य्ययस्वरूप है तथापि अस्मिता आदि चारों क्लेशों का भी अविद्या सद्भाव अधीन सद्भाव औ अविद्या समुच्छेद अधीन समुच्छेद होने से यह भी अविद्यामूलक होने से विपर्य्यय ही हैं।

यह (२) क्लेश ही स्यन्दमान (उदारावस्थावाले) हुये सत्त्वादिगुणों के कार्य्योत्पादनरूप अधिकार को दृढ़ करते हैं, औ पुनः यह क्लेश ही कार्य्यकारणप्रवाह को उत्पन्न करते हैं, औ यह क्लेश ही परस्परअनुग्रह के अधीन होकर (३) कर्मों के फल को निष्पादन करते हैं (४)।

भाव यह है कि-जिस हेतु से यह क्लेश ही उदारावस्थापन्न होकर सत्त्वादिगुणों को कार्य्योत्पादन में औन्मुख्यकर गुणवैषम्य-रूप परिणाम द्वारा प्रधानमहत्तत्त्व आदि परम्परा से कार्य्यकारणरूप परम्परा को निष्पादन कर कर्मफल जन्म आदि का हेतु होते हैं इस हेतु से अनर्थ परम्परा के हेतुभूत यह क्लेश अवश्य ही हेय हैं॥ ३॥

---

(१) यहां पर भाष्यकारों ने "क्लेशा इति पंच विपर्य्ययाः" इस भाष्य से इन को विपर्यय कहा है, इस से विपर्य्यय भी इन का नाम जानना, यह तत्त्व है।

(२) संसार का कारण होने से क्लेश हेय हैं इस आशय से "ते स्यन्दमानाः गुणाधिकारं द्रढयन्ति" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये क्लेशों को संसार का कारण कहते हैं—"यह" इत्यादि से।

(३) अविद्या से राग राग से कर्म कर्म से जन्म जन्म से क्लेश क्लेश से फिर कर्म कर्म से फिर जन्म जन्म से फिर राग इत्यादि प्रकार से परस्पर अनुग्रह अधीन ही क्लेशादि संसार के हेतु हैं, यह तत्त्व है।

(४) प्रथम गुणों का अधिकार फिर गुणवैषम्य फिर सृष्टि, यहि सृष्टि का क्रम है

अविद्यामूलक होने से यह क्लेश अवश्य ही हेय हैं, इस आशय से क्लेशों को अविद्यामूलक कहते हैं—

सू० अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-
दाराणाम् ॥ ४ ॥

भाषा—(प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्) प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदार सञ्ज्ञक चार भेदों से विभक्त 'उत्तरेषाम्' पूर्व सूत्रोक्त अविद्या से परवर्ती अस्मिता आदि चारों क्लेशों की (अविद्या) प्रथम उक्त अविद्या ही-(क्षेत्रम्) मूल कारण है।

अर्थात्—प्रसुप्त आदि भेद से चार प्रकार के जो अस्मिता आदि चार क्लेश हैं उन सब का अविद्या ही मूलकारण है।

प्रसुप्त=जो राग आदि क्लेश विदेह-प्रकृतिलयों के (१) चित्त में विद्यमान हुये बाह्य प्रकाशमान नहीं होते हैं औ न कुछ अपने कार्य्य करने में समर्थ होते हैं किन्तु दुग्ध में दधि की तरह वीजभाव से अवस्थित हुये स्वकार्य्य जनन की शक्तिवाले हैं वह प्रसुप्त कहे जाते हैं।

अर्थात्—पूर्वपाद उक्त विदेह तथा प्रकृतिलय जब तक अपने ध्येय तत्त्व में लीन रहते हैं तब तक उन के चित्त में अस्मिता-राग आदि क्लेशों का न तो प्रकाशही होता है औ न वह क्लेश कुछ कार्य्य ही कर सकते हैं किन्तु सूक्ष्मरूप से शक्तिमात्र (अनागतावस्था) से एतादृश विद्यमान रहते हैं कि मानों सोये ही पड़े हैं, अतः यह क्लेश प्रसुप्त कहे जाते हैं।

परन्तु यह सुप्त भी तबी तक रहते हैं कि यावत्काल इन दोनों की अवधि पूर्ण नहीं होती, औ जब फिर अवधि के अनन्तर विदेह प्रकृतिलय उत्थित हो जाते हैं तब फिर उन के संमुख उत्तेजक

(१) विदेह प्रकृतिलयों का निरूपण पूर्वपाद के १९ सूत्र की व्याख्या में देखो।

विषय की उपस्थिति होने से वह क्लेश भी अंकुरित हो कर अपने कार्य्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् जैसे प्रसुप्त पुरुष किसी उत्तेजक से प्रबुद्ध हुये अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं तैसे यह तत्त्वलीनों के क्लेश भी प्रबुद्ध हुये अपने कार्य्य में प्रवृत्त हो जाते हैं।

औ जो पुरुष विवेकख्यातियुक्त हैं उन के क्लेश प्रसंख्यान अग्नि से दग्ध हो जाते हैं अतः वह क्लेश प्रसुप्त नहीं जानने (१)।

दग्ध क्लेशों से प्रसुप्त क्लेशो में यही वैलक्षण्य है कि–प्रसुप्त क्लेशों का विषयसन्निधि से प्रबोध हो जाता है और दग्ध क्लेशों का योगसम्पत्ति बल से विषयसन्निधि होने पर भी प्रबोध नहीं होता है, क्योंकि "दग्धबीजस्य कुतः प्ररोहः" अर्थात्–दग्धबीज का प्ररोह कैसे हो सकता है।

जैसे दग्धबीज अंकुरोत्पादन में असमर्थ हैं तैसे दग्धक्लेश भी अपने कार्य्यकरने में असमर्थ हैं, यह फलित है।

विवेकख्याति द्वारा क्लेशों का दाह होने से ही यह योगी क्षीणक्लेश, तथा कुशल, औ चरमदेह वाला (२) कहा जाता है।

तथाच–यह दग्धबीजभावसंज्ञक पंचमी क्लेशअवस्था योगी के ही चित्त में विद्यमान रहती है विदेहादिकों में नहीं यह निष्पन्न हुया।

यद्यपि सिद्धान्त में सत्कार्य्य वाद के अंगीकार से विद्यमान-

(१) विना विवेकख्याति के उदय से क्लेशों का नाश होना असम्भव है, औ विदेह प्रकृतिलयों को विवेकख्याति उदय नहीं हुयी, अतः विदेह औ प्रकृतिलय प्रसुप्त क्लेश वाले हैं दग्धक्लेश वाले नहीं यह भी जानो।

(२) जिस देह से अनन्तर फिर अन्य देह का योग नहीं होता है वह चरमदेह कहा जाता है, योगी को मुक्त होने से फिर देह का योग होता नहीं इसलिये योगी चरमदेह वाला कहा जाता है, यह भाव है।

पदार्थ की अत्यन्ताऽभाव का अस्वीकृत होने से क्लेशों की विद्यमानता योगी के चित्त में भी अवश्य माननी उचित है एवं च योगवल से विषयों की सन्निधि होने से प्रसुप्त क्लेशों की तरह दग्ध क्लेशों का भी प्रवोध होना उचित है तथापि विद्यमानक्लेशों का विवेककाल में वीजरूपसामर्थ्य नष्ट होने से विषय सन्निधि होने पर भी इन का प्रवोध नहीं होता है यह जानना (१)।

भाव यह है कि—यद्यपि क्लेशों का अत्यन्ताभाव न होने से योगी के चित्त में क्लेश विद्यमान ही हैं तथापि उन में जो कार्य्यकरणरूप सामर्थ्य था सो विवेकख्याति से नष्ट हो गया है, अतः वह विषयसन्निधि होने पर भी आविर्भूत नहीं होते हैं (२)।

तनु=जो (३) क्लेश अपने प्रतिपक्षीभूत (विरोधी) तपस्वाध्याय आदि क्रियायोग के अनुष्ठान से उपहत हुये सूक्ष्म हो जाते हैं वह तनु कहे जाते हैं।

यद्वा अविद्या आदि पांचो के यथाक्रम विरोधी भूत सम्यग्ज्ञान, विवेकज्ञान, माध्यस्थ्य, (४) अहंताममतात्याग के होने से जो क्लेश कृशित हो जाते हैं वह तनु जानने।

---

(१) "सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोधः" इस भाष्य का यह अनुवाद है।

(२) जैसे स्वरूप से विद्यमान भूंजा हुआ चणक सलिलधरणी संयोग के होने पर भी अङ्कुरोत्पादन में असमर्थ है तैसे योगी के चित्त गत्त क्लेश भी दग्ध हुये स्वकार्य करने में असमर्थ (न पुंसक) होने से अविद्यमान तुल्य ही हैं यह तत्त्व है।

(३) इस प्रकार क्लेशों की सुप्त औ दग्ध अवस्था का प्रतिपादन कर इदानीं "प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनव उच्यन्ते" इत्यादिभाष्य का अनुवाद करते हुये तनु क्लेशों का लक्षण करते हैं—'जो' इत्यादि से।

(४) यह ग्रहण करने योग्य है औ यह त्याग करने योग्य है इस प्रकार अनुकूल प्रतिकूल ज्ञान का जो अभाव वह माध्यस्थ्य है, यह रागद्वेष का प्रतिपक्षी है।

विच्छिन्न = जो क्लेश वीच वीच में विच्छिन्न विच्छिन्न हो (अन्तरा पाकर) फिर तिसी रूप से आविर्भूत हो जाते हैं वह विच्छिन्न कहे जाते हैं।

अर्थात्—राग के आविर्भावकाल में क्रोध का आविर्भाव न होने से जो अदृश्यमान क्रोध वह विच्छिन्न कहा जाता है, एवं एकवस्तुविषयक उत्कट राग होने से जो अन्यवस्तुविषयक अनुत्कट अदृश्यमान राग वह भी विच्छिन्न जानना।

भाव यह है कि-किसी वस्तु में पुरुष का राग देखने से अन्य पदार्थ में यह पुरुष विरक्त है ऐसे मत जानना क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है कि—चैत्रनामक पुरुष एक स्त्री विषयक रक्त (प्रीतियुक्त) है औ अन्य में वह विरक्त है किन्तु एक स्त्री-विषयक उत्कट होने से राग लब्धवृत्ति अर्थात् उदार है औ अन्य स्त्रियों में राग भविष्यद्वृत्ति अर्थात् विच्छिन्न है। परन्तु इतना विशेष है कि—राग के आविर्भावकाल में जो अनुत्कट क्रोध है वह विजातीय राग की उदारताप्रयुक्त विच्छिन्न है औ एक विषयक राग के आविर्भावकाल में जो अन्यत्र अनुत्कट राग है वह सजातीयराग की उदारता प्रयुक्त विच्छिन्न है।

औ यह भी नियम नहीं है कि जिसकाल में एक क्लेश उदार होता है उस काल में अन्य क्लेश विच्छिन्न ही होते हैं किन्तु कहीं अन्य क्लेश प्रसुप्त हैं औ कहीं तनु हैं औ कहीं विच्छिन्न हैं (१)।

---

(१) सांख्ययोगमत में सत्कार्य्यवाद होने से अविद्यमान पदार्थ का प्रादुर्भाव नहीं माना जाता है अतः वालकों के चित्त में अविद्या को उदार मान कर राग आदि को प्रसुप्त या तनु जानना नहीं तो प्रौढ अवस्था में उन का प्रादुर्भाव नहीं होगा, एवं तत्त्वलीन विदेहादि के चित्त में अविद्या को उदार मान कर रागादि क्लेशों को प्रसुप्तजानना नहीं तो अवधि से अनन्तर उन का उद्भव नहीं होगा, औ विच्छिन्न का उदाहरण तो मूल में स्पष्ट ही है, इस प्रकार एक क्लेश की उदाराऽवस्था में अन्य क्लेश कोई प्रसुप्त कोई कहीं तनु कोई कहीं विच्छिन्न जानना।

उदार = अपने विषय में लब्धवृत्ति होने से जो उत्कटरूप से बाह्य प्रकाशमान हुये अपने कार्य में तत्पर हैं वह क्लेश उदार कहे जाते हैं ।

यद्यपि उदाराऽवस्थापन्न ही रागद्वेषादि, क्लेश का जनक होने से क्लेशपदवाच्य औ हेय (त्याज्य) हो सकते हैं अन्य नहीं तथापि प्रसुप्त आदि तीनों भी भविष्यत्काल में उदाराऽवस्थापन्न हुये क्लेश का जनक होने से क्लेश पदवाच्य औ हेय जानने।

अतएव भाष्यकारों ने " सर्व एवैते क्लेशविषयत्वन्नाऽतिक्रामन्ति " (१) इस वाक्यसे चारो अवस्थावाले रागादि को क्लेश कहा है।

यद्यपि (२) क्लेशत्वेन क्लेश एक ही हैं तथापि तत्तद् उदारादिअवस्था विशिष्ट को भिन्न २ मानकर चार प्रकार के जानने।

यह चार भेदों में विभक्त जो क्लेश हैं वह जैसे प्रतिपक्षीभूत क्रिया योग के अनुष्ठान से सूक्ष्म हो जाते हैं तैसे विषयआसक्ति विषय-चिन्तन प्रभृति उत्तेजक से उदार भी हो जाते हैं, एवं च यथा क्रियायोग क्लेशों की सूक्ष्मता का कारण है तथा विषयआसक्ति का अभाव भी क्लेशों की तनुता (सूक्ष्मता = कृशता) का हेतु जानना।

यह सब पूर्वोक्त क्लेश अविद्या के ही भेद हैं क्योंकि इन सब में अविद्या ही अनुगत है, अर्थात्–जो वस्तु अविद्या से उपस्थित होता है रागादिक्लेश भी उसी में लब्धवृत्ति वाले हुये उदार

(१) यह सब ही अर्थात् चारो अवस्थावाले ही राग आदि क्लेशपदवाच्यता को उलंघन नहीं कर सकते, अर्थात् सब ही उदार हुये क्लेश जनक हैं यह भाष्यका अर्थ है।

(२) यदि सब उदाराऽवस्थापन्न हो सकते हैं तो चारभेद क्यों, इस आशङ्का का वारण करते हैं (यद्यपि) इत्यादि से।

हो जाते हैं, अतः अविद्या के अन्वयव्यतिरेकानुसारी होने से (१) यह सब अविद्यास्वरूप ही हैं।

अविद्यास्वरूप होने से ही यह क्लेश विपर्य्ययज्ञानकाल में उपलब्ध होते हैं औ सम्यग्ज्ञान द्वारा विपर्य्यज्ञान के नाशकाल में यह नष्ट हो जाते हैं।

यद्यपि दग्धसञ्ज्ञक पंचमी क्लेशावस्था का भी योगिजनाऽनुभवसिद्ध होने से सूत्रकार को निरूपण करना उचित था तथापि दग्धअवस्था को अविद्यामूलकत्व के अभाव से प्रसुप्त आदि चार ही अवस्था का निरूपण किया गया है।

भाव यह है कि—इस सूत्र में हेय क्लेशों की ही अवस्था का निरूपण किया है कुछ उपादेय अवस्था का नहीं, अतएव (अविद्याक्षेत्रम्) इस पद से सब को अविद्यामूलक कहा है, औ पञ्चमी दग्धअवस्था अविद्या का विरोधी होने से उपादेय है, अतः तत्कथनाभाव प्रयुक्त न्यूनत्व दोष नहीं जानना।

यद्यपि (१) तनु अवस्था के सम्पादनार्थ क्रियायोग का निरूपण करनेसे तनु अवस्था भी उपादेय ही है कुछ हेय नहीं एवंच तनु अवस्था को अविद्यामूलक कहना उचित नहीं तथापि असम्प्रज्ञातयोगी के लिये वह भी हेय होने से अविद्यामूलक ही है यह जानना।

अर्थात्—क्रियायोगद्वारा क्लेशों की तनुअवस्था सम्पादन

---

(१) अविद्या के होने से क्लेशों का होना अन्वय है औ अविद्या के अभाव से क्लेशों का अभाव हो जाना व्यतिरेक है।

इसी को स्पष्ट करते हैं "अविद्यास्वरूप" इत्यादि से।

(१) यदि हेय क्लेशों का ही निरूपण किया है तो तनु अवस्था का निरूपण क्यों किया क्योंकि वह उपादेय है, इस आशङ्का का निवारण करते हैं (यद्यपि) इत्यादि से।

करने का यही प्रयोजन है कि वह तनु हुये प्रसङ्ख्यान अग्नि से दग्धबीज हो जांय कुछ उपादेयता के लिये तनु अवस्था का सम्पादन नहीं है ।

दो० तत्त्वलीन (*) जन सुप्त-युत, तनु-युत योगी जान ।
कभी विच्छिन्न उदार पुन, संसारिक जन जान ॥४॥

इन पांचो क्लेशों में से प्रथम अविद्या का स्वरूप कथन करते हैं-

सू० अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

भाषा-(अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु) अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म इन चारों में, यथाक्रम जो (नित्यशुचिसुखात्मख्याति) नित्य, शुचि, सुख, आत्म ज्ञान, वह (अविद्या) अविद्यापद का वाच्य है (१) ।

अर्थात्—स्वर्गादि अनित्य प्रपञ्च में नित्यज्ञान, औ अशुचि शरीरादि में शुचिज्ञान, औ दुखरूप विषयभोग में सुख ज्ञान, अनात्मभूत बुद्धि इन्द्रिय शरीरादि में आत्मज्ञान, यह चार प्रकार का विपर्य्यज्ञान अविद्या पद का वाच्य है ।

(*) इस सूत्रस्थभाष्य की व्याख्या की समाप्ति में वाचस्पति मिश्र ने " प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनां, विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम् " यह श्लोक लिखा है, उसी का दोहा से अनुवाद करते हैं—(तत्त्वलीन " इत्यादि से—

विदेहादितत्त्वलीनों के क्लेश प्रसुप्त हैं औ योगियों के क्लेश तनु हैं, औ विषयी पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न तथा उदार हैं, यह श्लोक औ दोहे का अर्थ है ।

एवं योगारूढ तथा ज्ञानियों के क्लेश दग्ध हैं यह भी जानलेना—

(१) यद्यपि लक्षण का प्रकरण होने से प्रथम लक्षण कथन कर फिर ही अविद्या का भेद निरूपन करणा उचित था तथापि प्रथमपादस्थ सप्तमसूत्रोक्त रीति से अविद्या पद की आवृत्ति कर (नाविद्या अविद्या) अर्थात् विपर्य्ययज्ञान अविद्या पद का वाच्य है, इस प्रकार दोषाभाव जान लेना ।

भाव यह है कि—जन्य (कार्य्य) होने से अनित्य जो पृथिवी आदि प्रपञ्च इस में (पृथिवी तथा नक्षत्र चन्द्रादि सहित स्वर्ग नित्य है एवं देवता भी अमृत=मरणरहित होने से नित्य हैं,) इस प्रकार जो विपर्य्ययज्ञान वह अनित्य में नित्यज्ञानस्वरूप प्रथम अविद्या है (१) ।

एवं परमवीभत्स=अत्यन्तविकृत पूयशोणितपूरित अस्थिचित मांसलिप्त चर्मवेष्टित मूत्रद्वाराविनिष्क्रान्त स्त्री के अशुचि शरीर में जो (यह कन्या ऐसी कमनीया है कि मानों नूतन एक चन्द्र की रेखा है तथा मधु औ अमृत के अवयवों से ब्रह्मा ने इस की रचना कियी है, मानों अभी चन्द्रमण्डल को भेदन कर बाह्य निसृत हुयी है, औ नीलकमलदल तुल्य विस्तृत नयनों से युक्त हुयी हावभाव-कटाक्षादि गर्भित लोचनों से मानों जीवों को यह धैर्य्य दे रही है कि तुम मृत्यु से मत भीत हो मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी) इस प्रकार पवित्रता का वा कमनीयता का ज्ञान वह अशुचि में शुचिज्ञानरूप द्वितीय अविद्या है ।

यह पूर्वउक्त प्रत्यक्ष-सिद्ध शरीर की अपवित्रता ही योगभाष्यकारों ने—

"स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्पन्दान्निधनादपि
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः" ।

इस श्लोक से युक्तिपूर्वक निरूपण कियी है ।

(१) एवंच जो पुरुष पंचभूतों को नित्य मानकर वायु वा जलस्वरूप होने के लिये अथवा आकाशादि में लय होने के लिये पंचभूतों की उपासना करते हैं एवं जो पुरुषचन्द्रादि स्वर्गलोक के प्राप्त्यर्थ धूमादिमार्गहेतु उपासना का अनुष्ठान करते हैं एवं जो पुरुष देवताओं को अमर जानकर अपने अमर होने के लिये (अपामसोमममृताअभूम " इत्यादि श्रुतियों के वश होकर यज्ञादिमें सोमलता का पान करते हैं वह सब विपर्यय-ज्ञानी ही हैं, क्योंकि इन सबको अनित्य में नित्य ज्ञान है यह फलित हुआ ।

स्थान नाम स्थिति के आधार का है अर्थात्—मलमूत्रप्रभृति दुर्गन्धवस्तु से लिप्त जो अत्यन्त अपवित्र माताका उदर वह तो इस शरीर की उत्पत्ति का स्थान अर्थात् क्षेत्र है, एवं अत्यन्त मलिन जो माता पिता का रजवीर्य्य वह इस का (बीज) उपादान कारण है, एवं भुक्तपीत अन्नजलादि के परिपाकसे उत्पन्न जो रुधिरादिरूप से परिणत रस वह इस शरीर का उपष्ठम्भ है, अर्थात् आश्रय है क्योंकि इस रस ने ही शरीर को धारण किया है, एवं मल मूत्र प्रस्वेद प्रभृति अपवित्र पदार्थों का इस शरीर से निष्पन्द (१) होता है, एवं निधन अर्थात् प्राणवियोग के अनन्तर यह शरीर अस्पृश्य हो जाता है क्योंकि चाहे वेदपाठी हो वा ज्ञानी हो मृतकशरीर उन का भी अपवित्र ही माना जाता है, एवं यह शरीर आधेयशौच है अर्थात् जैसे कामिनी स्वतः निर्गन्ध अपने शरीर में अङ्गराग (अवटन) द्वारा गन्ध की आधेयता कल्पना=भावना कर लेती है तैसे जलमृत्तिकादि द्वारा शरीर में शुद्धि का आधान किया जाता है वस्तुतः उस मृत्तिकादि से वह शरीर पवित्र नहीं होता।

इस प्रकार स्थान-बीज-उपष्ठम्भ-निष्पन्द-निधन-आधेयशौच तारूप हेतुओं से पण्डितगण इस काय को अशुचि ही मानते हैं, शुचि नहीं, यह इस श्लोक का अर्थ है।

इस प्रकार के (२) अशुचि शरीर का भला किस चन्द्ररेखा से क्या सम्बन्ध है अर्थात् दुर्गन्धपूरित शरीर का मधुअमृतादि उपमा के संग संबन्ध ही क्या, परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से अशुचि में

(१) निस्पन्दनाम प्रस्रवण (झरने) का है।

(२) 'कस्य केनाऽभिसम्बन्धः' इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं 'इस प्रकार के' इत्यादि से।

शुचिरूप विपर्य्यय ज्ञान होता है, अतः यह भी अविद्या ही है।

अशुचि में शुचिबुद्धि के प्रदर्शन से अपुण्य हिंसादि में जो मीमांसकों को पुण्य ज्ञान, तथा अर्जन-पालन प्रभृति दुःख-बाहुल्य से अनर्थजनक धन में जो अर्थ ज्ञान वह भी अविद्या-संज्ञक विपर्य्यय ही जानना (१)

एवं विषयभोगरूप दुःख में जो सुखज्ञान वह भी एक अविद्या ही है, जिस प्रकार विषयसुख दुःखरूप है वह प्रकार सूत्रकार (परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेवसर्वं विवेकिनः, पाद २ सू १५ से) आप ही कथन करेंगे, इस से यहां कहने की कुछ आवश्यकता नहीं।

एवं देह के उपकरणभूत आत्मभिन्न पशु भृत्य आदि चेतन पदार्थ, तथा शय्या आसन गृह स्थानादि अचेतन पदार्थ, एवं भेगाऽधिष्ठान * शरीर, औ पुरुष का उपकरणभूत मन, इन सब अनात्मपदार्थों में जो आत्मज्ञान वह चतुर्थी अविद्या है।

पञ्चशिखाचार्य्य ने भी "व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाऽभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनु नन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः" इस वाक्य से पूर्वोक्तप्रकार से ही अनात्मविषयक आत्मख्याति का निरूपण किया है।

अर्थात्—व्यक्त † अव्यक्त जो सत्त्व अर्थात्—पुत्र, कलत्र, गृह, क्षेत्र प्रभृति चेतन जड पदार्थ, इन सब को आत्मत्वेन अभिप्रतीत

(१) जैसे अशुचि में शुचि बुद्धि भ्रम है तैसे अपुण्य औ अनर्थ में पुण्य औ अर्थ बुद्धि भी भ्रम ही है यह तत्त्व है।

(*) शरीर में स्थित होकर पुरुष भोग भोगता है इसलिये शरीर को भोगाधिष्ठान कहा जाता है। एवं सुखादिभोग में मन को साधन होने से मन उपकरण है।

(†) व्यक्त नाम चेतन पुत्रादि का औ अव्यक्त नाम जड महादि का है।

कर अर्थात् आत्मा औ आत्मीय जानकर, जो पुरुष इन की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति मान कर आनन्द को प्राप्त होता है एवं इन की हानि को अपनी हानि मान कर शोक को प्राप्त होता है वह पुरुष अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जानना (१) यह पञ्चशिखाचार्य्य जी के वाक्य का अर्थ है।

यह (२) चार प्रकार की * अविद्या ही रागद्वेषादि क्लेश प्रवाह का तथा रागद्वेषजन्य धर्म-अधर्म का एवं धर्माऽधर्मजन्य सुखदुखादि का मूलकारण है।

यहां पर अविद्याशब्द में न ञ् का अर्थ विरुद्ध जानना कुछ अभाव नहीं।

अर्थात्—(३) जैसे अमित्रशब्द में न ञ् का (४) अर्थ विरुद्ध होने से मित्रविरुद्ध शत्रु रूप अर्थ प्रतीत होता है औ अगोष्पद शब्द से गोखुरविरुद्ध विपुल देश का बोध होता है तैसे अविद्याशब्द में भी न ञ् का अर्थ विरुद्ध मानकर विद्याविरुद्ध विपर्य्यय ज्ञान का ग्रहण करना।

(१) अर्थात्—आत्मा से भिन्न असत्य-जड रूप अन्तःकरण, देह तथा देह के अङ्गभूत पुत्र कलत्र क्षेत्र प्रभृति अनात्मपदार्थों को आत्मा वा आत्मीय जानकर जो पुरुष इन की वृद्धि वा हानि से अपनी वृद्धि वा हानि मानते हैं वह विपर्य्ययज्ञानवाले हैं।

(२) "एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्य" इस भाष्य का अनुवाद करते हैं (यह) इत्यादि से।

(*) यद्यपि दिग्भ्रम शुक्तिरजतादिभ्रम भेद से अविद्या अनन्त है तथापि क्लेशों का मूलभूत यह चार प्रकार की ही है, इसलिये चारविध कही गयी है।

(३) "तस्याश्चाऽमित्राऽगोष्पदवद् वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्" इस भाष्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से। गोष्पदनाम गाय के खुर का है।

(४) अमित्र अगोष्पद आदि शब्दों में आदि का वर्ण जो (अ) है वह नञ् कहा जाता है।

भाव यह है कि—जैसे अमित्रशब्द न तो मित्राऽभाव का वाचक है औ न मित्रमात्र का किंतु मित्रविरुद्ध शत्रु रूप अर्थ का वाचक है औ अगोष्पदशब्द भी न तो गोखुर के अभाव का बोधक है औ न गोखुरमात्र का बोधक है किन्तु गोखुरविरुद्ध विस्तृत देश का वाचक है तैसे यहां पर अविद्याशब्द भी न तो तत्त्वज्ञान का ही वाचक है औ न तत्त्वज्ञान के अभाव का ही वाचक है किन्तु तत्त्वज्ञान से विरुद्ध जो मिथ्याज्ञान उस का वाचक है॥ ५॥

इदानीं इस अविद्या का कार्य्यभूत जो बुद्धिपुरुष का अविवेकरूप द्वितीय अस्मितासञ्ज्ञक क्लेश उस का लक्षण कहते हैं।

सू० दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता॥ ६॥

भाषा—(दृग्दर्शनशक्त्योः) दृक्शक्ति-दर्शनशक्ति सञ्ज्ञक पुरुष-बुद्धि की जो (एकात्मता इव) अभिन्नता सी प्रतीत हो जानी, वह (अस्मिता) अस्मितासञ्ज्ञक क्लेश है।

दृक्शक्ति * नाम पुरुष का है क्योंकि यह सब का द्रष्टा है औ दर्शनशक्ति नाम बुद्धि का है क्योंकि यही विषयाकार से परिणत हुयी दृश्य=विषयरूप को प्राप्त होती है, यह दोनों परस्पर अत्यन्त विभक्त हैं, तथापि पूर्वोक्त अविद्या के बल से जो इन दोनों का एकरूपत्व वा तादात्म्यभाव सा प्रतीत हो जाना यही अस्मिता है।

इस अस्मिता के होने से ही (अहं अस्मि) अर्थात् मैं हूं वा मैं सुखी हूं इत्यादि व्यवहार होता है।

वस्तुतः बुद्धितत्त्व परिणामी मलिन तथा जड़ है औ पुरुष कूटस्थ शुद्ध तथा चेतन है इसलिये इन दोनों की एकता होनी असम्भव है परन्तु विवेक के अभाव से एकता सी प्रतीत होती है, इस के बोधनार्थ सूत्रकार ने (एकात्मता इव) यह 'इव' पद दिया है।

---

* "पुरुषोदृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिः" इत्यादिभाष्य का अनुवाद करते हैं "दृक्शक्ति" इत्यादि से।

अत्यन्त (१)असङ्कीर्ण (विलक्षण) होने से परस्पर अत्यन्त भिन्न जो भोक्तृशक्ति-भोग्यशक्तिसंज्ञक पुरुष औ बुद्धि, इन दोनों की जो यह अविभागप्राप्तिरूप अस्मिता यही पुरुष को भोग का हेतु है क्योंकि इस अस्मिता के होने से ही पुरुष अपने को कर्ता भोक्ता मानता है।

औ जब फिर विवेकख्यातिद्वारा अस्मिता का नाश होने से पुरुष को अपने रूप का साक्षात्कार हो जाता है तब भोग के अभाव होने से केवल हुया कैवल्यसञ्ज्ञक मुक्तिपद के लाभ से पुरुष अपने को अभोक्ता मानता है।

एवं च अन्वयव्यतिरेक से यह अस्मितासञ्ज्ञक अविवेक ही सुख दुःख आदि भोग का हेतु है यह फलित हुया।

पञ्चशिखाचार्य्य ने भी "बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्य्यात् तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेन" इस वाक्य से इस अविवेकसञ्ज्ञक अस्मिताको ही मोहद्वारा भोगका हेतु कहा है।

आकार-शील-विद्या (२) प्रभृति विलक्षणधर्मों से पुरुष को बुद्धि से भिन्न होने पर भी अनात्मविषयक आत्मज्ञान रूप मोह से भिन्न न जान कर बुद्धि में आत्मबुद्धि अविवेकी कर लेता है यह पञ्चशिखाचार्य्य जी के वाक्य का अर्थ है।

---

(१) "भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्ताऽसङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये बुद्धि पुरुष के अविवेक को भोग का हेतु औ विवेक को मोक्ष का हेतु कहते हैं—(अत्यन्त) इत्यादि से।

भोक्तृशक्ति नाम भोक्ता चेतन पुरुष का है औ भोग्यशक्ति नाम जड बुद्धि का है।

(२) आकार नाम स्वरूप का औ शील नाम स्वभाव का औ विद्या नाम चैतन्य का है, अर्थात् पुरुष का स्वरूप शुद्ध, औ स्वभाव औदासीन्य है, औ चेतनता विद्या है, औ बुद्धि का स्वरूप मलिन, औ स्वभाव परिणामी, औ धर्म जडता है, इस प्रकार यह दोनों आकार-शील-विद्या आदि धर्मों से विलक्षण हैं, यह तत्त्व है।

नित्य शुद्ध-बुद्ध-कूटस्थ आत्मा को औ मलिन जड़ विकारी बुद्धि को भिन्न न जान कर मैं कर्ता भोक्ता हूं इस प्रकार पुरुष अपने को मान लेता है यह भाव है।

यह "अस्मितासञ्ज्ञक चित्जडअविवेक ही वेदान्तमत में (चित्जडग्रन्थि) इस नाम से व्यवहृत होता है।

इसी चित्जडग्रन्थि को ही "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे" † इस श्रुति में हृदयग्रन्थि कहा है।

तिस आनन्द अमृत रूप परावर * परमात्मा के साक्षात्कार होने से हृदयग्रन्थि का भेदन होजाता है औ जितने इस जिज्ञासु को अविवेकप्रयुक्त संशय थे सो भी साक्षात्कार से इस के छिन्न हो जाते हैं औ देहारम्भक प्रारब्ध कर्म से भिन्न यावत् संचित औ आगामि कर्म थे वह भी सब इस ज्ञानी के क्षय हो जाते हैं यह श्रुति का अर्थ है।

इदानीं क्रमप्राप्त अविवेक के कार्य्यभूत (१) रागद्वेष का लक्षण करते हैं—

सू० सुखाऽनुशयी रागः ॥७॥

भाष—(सुख-अनु-शयी) सुख नाम सुखभोग से अनु नाम अनन्तर शयी नाम अन्तःकरण में रहने वाला जो अभिलाषाविशेष, वह (रागः) राग कहा जाता है।

(†) यह मुण्डक उपनिषद् गत द्वितीयमुण्डक के द्वितीय खण्ड का ८ मन्त्र है।

(*) (परावर) कारणरूप से सर्व से पर औ कार्य्यरूप से अवर=निकृष्ट, अर्थात्—कारणकार्य्यस्वरूप। यद्वा सर्वापेक्षया पर हिरण्यगर्भ आदि भी अवर=निकृष्ट हैं जिससे सो कहीये परावर, सर्वथा ही परावर नाम परमात्मा का है।

(१) अविवेक से रागद्वेष के होने से औ विवेक से रागद्वेष का अभाव होने से अविवेक ही रागद्वेष का कारण है, यह तत्त्व है।

अर्थात्—सुखाऽभिज्ञ (१) पुरुष को सुखस्मरणपूर्वक जो तत्सजातीय सुख तथा तत्साधनों में गर्ध * तृष्णा = लोभ चाह वह राग कहा जाता है।

सू० दुःखाऽनुशयी द्वेषः ॥८॥

भाषा—दुःख नाम दुःखभोग से अनु नाम अनन्तर शयी नाम चित्त में होने वाला जो दुःखविषयक क्रोध वह द्वेष कहा जाता है।

अर्थात्—दुःखाभिज्ञ पुरुष को दुःखभोगस्मरणपूर्वक जो दुःख तथा दुःखसाधनों विषयक मन्यु = जिघांसा (२) क्रोध वह द्वेष कहा जाता है।

इन दोनों सूत्रों का भाव यह है कि—जिस काल में पुरुष को पहिले किसी प्रकार के सुख वा दुःख का अनुभव हुया था उस काल में उन दोनों ने एक प्रकार का संस्कार भी चित्त में उत्पन्न किया था, उस संस्कारद्वारा ही उस पुरुष को समय समय पर उस सुख वा दुःख का स्मरण होता रहता है, फिर उस स्मरण से ही अनुभूतसुखसजातीय सुख विषयक इच्छा औ अनुभूत दुःखसदृश दुःखविषयक द्वेष होता रहता है। एवं च पुरुष को जो अब सुख वा सुखसाधनसामग्री विषयक राग होगा एवं दुःख तथा दुःखसाधनसामग्री विषयक द्वेष उत्पन्न होगा वह अवश्य ही सुखानुशयी (सुखस्मरणपूर्वक) औ दुखानुशयी (दुःखस्मरणपूर्वक) ही होगा यह निष्पन्न हुया।

---

(१) जिस पुरुष ने सुख का अनुभव नहीं किया उस को सुखस्मरण का अभाव होने से 'सुखाऽभिज्ञ' यह पद दिया है।

(*) गर्ध, तृष्णा, लोभ, इच्छा, यह सब एकार्थ, हैं।

(२) जिघांसा नाम हनन करने की इच्छा का है, मन्यु, जिघांसा, क्रोध द्वेष पर्य्याय हैं।

तहां इतना विशेष है कि—अनुभव किये हुये सुखविषयक स्मरणपूर्वक राग है औ वर्तमानकाल में भोगारूढ सुखविषयक स्वाभाविक राग है, एवं दुःखविषयक भी जान लेना (१)॥८॥

इदानीं अवसरप्राप्त पंचम अभिनिवेश क्लेश का लक्षण कहते हैं।

सू० स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽऽरूढोऽभिनिवेशः।९।

भाषा—(स्वरसवाही) वासना के बल से स्वभावसिद्ध ही, जो (विदुषोऽपि) विद्वानों के चित्त में भी (तथाऽऽरूढः) मूर्खों के तुल्य आरूढ (विद्यमान) मरणभय, वह (अभिनिवेशः) अभिनिवेशसंज्ञक क्लेश है।

अर्थात्—(२) निखिलप्राणिमात्र को आत्मविषयक जो यह निरन्तर प्रार्थना कि (मेरा अभाव कभी मत हो किन्तु सर्वदा ही मैं विद्यमान रहूं) इस मरणभय का नाम अभिनिवेश है।

सो यह मरणभय जिसने पूर्व मरणरूप धर्म का अनुभव नहीं किया है उस को होना असम्भव है, अतः इस मरणभय द्वारा यह प्रतीत हुआ कि पूर्व जन्म में इस ने मरण का अनुभव किया है अतएव यह अभिनिवेश स्वरसवाही अर्थात्–पूर्वमरणानुभव की वासना से वहन शील है।

अर्थात्–यह अभिनिवेश निखिल प्राणिमात्रसाधारण तथा स्वभावसिद्ध है क्योंकि जिसने प्रत्यक्ष अनुमान आगमप्रमाण द्वारा कभी मरणदुख का अनुभव नहीं किया है एवम्भूत तत्काल उत्पन्न कीट प्रभृति को भी यह मरणत्रास दृष्ट है।

---

(१) एवं सुखसाधन मालाचन्दनादि में दृश्यमान जो प्रीति है वह भी पहिले इन सब को सुख हेतुता का अनुभव कर चुका है इसलिये स्मरणपूर्वक ही जानना।

(२) "सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति" इस भाष्य का अनुवाद करते हुये (स्वरसवाही) इस पद के अर्थ को स्पष्ट करते हैं "अर्थात्" इत्यादि से।

सो यह तत्कालउत्पन्न कीटादि को दृश्यमान जो उच्छेदज्ञानस्वरूप मरणत्रास यही पूर्व जन्म में अनुभूत मरणदुःख का अनुमान कराता है।

भाव यह है कि-(१) प्रौढमनुष्यों को तो क्या कहना है उत्पन्नमात्र (तत्काल का जन्मा हुआ) बालक भी जिस समय मारक किसी भयंकर सिंह सर्पादि को देखता है उस समय वह कांपता हुआ दिखायी देता है, एवं निकृष्टतमचेतन कीट को भी यदि कोई छेडछाड करता है तो वह भी प्राणपरिपालन केलिये इधर उधर चेष्टा करता हुआ कांपता ही दिखायी देता है, इस बालक औ कीटादि के कंपन से यह जाना गया कि मरणरूप दुःख को समीप आगत जानकर भययुक्त हुआ यह कांपरहा है, क्योंकि दुःख वा दुःख कारण वस्तुओं से ही भय दृष्ट है अन्य से नहीं, औ इस बालक वा कीट को अभी उत्पन्न होने से यह कह नहीं सकते कि शास्त्र से वा अन्यलोकों से श्रुत (सुनाहुआ) ही मरण दुःख त्रास का हेतु है, औ यह भी संभाना नहीं हो सकती कि अनुभव किया ही मरणदुःख स्मृत हुआ इस को त्रास का हेतु है क्योंकि अभी इस की उत्पत्ति होने से पहिले मरणदुःख के अनुभव का संभव नहीं, अतः परिशेष से यह सिद्ध हुआ कि पूर्वजन्म में अनुभव किये मरणदुःख को स्मरण कर ही यह बालक वा कीट भय युक्त हुआ कांपता है।

एवं च यह सिद्ध हुआ कि यह मरणत्रास ही पूर्वजन्म में अनुभव किये हुये मरणदुःख का औ पूर्वजन्म के सद्भाव का बोधक है।

---

(१) अत्र प्रसङ्ग से पूर्व जन्म के अभाव मानने वाले नास्तिक का तिरस्कार करते हुये पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं (भाव यह है) इति।

तथा च पूर्वले जन्मों में अनेकवार अनुभूत हुआ जो मरण-दुःख उस मरणदुःख के अनुभव से उत्पन्न हुआ जो वासना-समूह वही इस मरणत्रास का कारण है यह फलित हुआ।

अत एव यह मरणत्रास स्वरसवाही है (१)।

सो (२) यह मरणभय रूप अभिनिवेशक्लेश जैसे अत्यन्तमूढ कीटादिकों में देखा जाता है तथा "विदुषोऽपि रूढः" अर्थात्—विज्ञातपूर्वाऽपरान्त (३) विद्वानों के हृदय में भी वैसेही दृढ आरूढ है क्योंकि पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःख के अनुभव से (मैं मतमरूं) यह वासना विद्वान अविद्वान इन दोनों को ही समान है।

यहां पर विद्वान शब्द से संप्रज्ञात-योगी वा विवेकी वा ज्ञानी का ग्रहण नहीं हैं किन्तु आगमअनुमानद्वारा जो प्रकृतिपुरुष के विवेक को जानने वाला शास्त्रज्ञाता है उसी का ग्रहण है नहीं तो "विद्वान् न बिभेति कदाचन" (४) इस श्रुति कर ज्ञानी को भयाभाव कथन असंगत होगा।

अतएव वाचस्पतिमिश्र ने "न सम्प्रज्ञातवान् विद्वानपितु श्रुताऽनुमानविवेकी" इस वाक्य में शास्त्रज्ञ का ग्रहण किया है ज्ञानी का नहीं।

---

(१) स्वरस नाम वासना द्वारा वाही नाम प्रवृत्त है, यह इस का अर्थ है।

(२) इस प्रकार प्रसङ्गागत पूर्वजन्माभाववादी नास्तिकमत निराकरणपूर्वक स्वरसवाही इस पद का व्याख्यान कर इदानीं (विदुषोऽपि तथा रूढः) इस पद का व्याख्यान करते हैं "सो यह" इत्यादि से।

(३) अन्त नाम कोटि वा दशा का है, विज्ञात नाम शास्त्रद्वारा जान लिया है पूर्वदशा= संसार औ उत्तरदशा=कैवल्य जिसने एवम्भूत शास्त्रज्ञ का नाम विज्ञातपूर्वाऽपरान्त है।

(४) ब्रह्मज्ञानी कदापि भय को प्राप्त नहीं होता है यह तैत्तिरीयश्रुति का अर्थ है, (कुतश्चिन्) यह भी शाखान्तर का पाठ है, ज्ञानी किसी से भी भीत नहीं होता है यह इस पाठ का अर्थ है, यदि ज्ञानी को भय माना जायगा तो यह श्रुति असङ्गत हो जायगी, यह तत्त्व है।

एवं च जो विज्ञानभिक्षु ने सम्प्रज्ञातयोगी को भी मरणभय कथन किया है सो अज्ञानमूलक (१) ही जानना ॥ ८ ॥

पूर्वप्रकरण से क्लेशों का लक्षण तथा प्रसुप्तआदि अवस्थाचतुष्टयका निरूपण किया, औ स्थूल क्लेशों की क्रियायोग से सूक्ष्मता भी कही ; इदानीं क्रियायोग से सूक्ष्म किये हुये क्लेशों की तथा प्रसङ्ख्यान अग्नि से दग्धबीज हुये क्लेशों की निवृत्ति का उपाय दो सूत्रद्वारा सूत्रकार निरूपण करते हैं—

सू० ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

भाषा—(ते) यह पूर्वोक्त पञ्च क्लेश (सूक्ष्माः) क्रियायोग से सूक्ष्म औ प्रसंख्यानअग्नि से दग्ध हुये (प्रतिप्रसवहेयाः) असम्प्रज्ञातसमाधिद्वारा * त्यक्त (निवृत्त) करणीय हैं।

अर्थात्—क्रियायोग से सूक्ष्म हुये क्लेश जब प्रसङ्ख्यानअग्नि से दग्धबीजतुल्य हो जाते हैं तब समाप्तअधिकार वाले चित्त का अपनी प्रकृति में लीन होने से वह क्लेश भी संग के संग ही अस्तंगत अर्थात् लीन हुये निवृत्त हो जाते हैं।

अर्थात्-प्रतिप्रसव से विना उन क्लेशों के निरोध के लिये अन्य यत्न की अपेक्षा नहीं है ॥ १० ॥

(१ जो कि (संस्कारों को बली होने से तत्त्वज्ञ को भी अभिनिवेश हो सकता है, यह विज्ञानभिक्षु ने कहा है, सो भी प्रमाद ही है क्योंकि " तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी " इस पूर्वपाद के ५० सूत्र से समाधि संस्कारों को अन्य संस्कारों का नाशक होने से मिथ्यासंस्कारों का तत्त्वज्ञ के चित्त में संभव नहीं।

यदि ज्ञानी को भी मरणभयरूप अभिनिवेश नाश नहीं हुआ तो ज्ञान का फल ही क्या यह भी जानो।

(*) प्रसव नाम उत्पत्ति का है प्रति नाम प्रतिकूल=विरोधी का है तथा च उत्पत्ति के विरोधी प्रलय का नाम प्रतिप्रसव हुआ। परन्तु यहां पर चित्तप्रलय रूप असम्प्रज्ञातयोग का ग्रहण करना इस आशय से कहते हैं—"असम्प्रज्ञातसमाधिद्वारा" इति।

स्थितानान्तु वीजभावोपगतानां † ।

सू० ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

भाषा—(स्थितानां) जो क्लेश चित्त में स्थूल रूप से स्थित हैं अतएव (वीजभावोपगतानां) वीजभाव से युक्त हैं अर्थात् दग्ध-वीजभाव नहीं है, उन क्लेशों की जो वृत्तियां है (तद्वृत्तयः) वह वृत्तियां (ध्यानहेयाः) क्रियायोग से सूक्ष्मकर प्रसङ्ख्यान-सञ्ज्ञक ध्यान से हेय अर्थात् दग्धवीजतुल्य करनी उचित हैं।

अर्थात्—जो क्लेशवृत्तियां स्थूल अर्थात् उदार हैं वह प्रथम क्रियायोग से सूक्ष्म कर फिर प्रसङ्ख्याननामक ध्यान से दग्ध-वीज तुल्य सम्पादनीय हैं।

भाव यह है कि—जैसे वस्त्रों का स्थूलमल विना ही प्रक्षा-लन से विधूनन (फटकारन) द्वारा निरस्त हो जाता है औ सूक्ष्म मल प्रक्षालनादियत्न तथा क्षारसंयोगादि उपाय से निवृत्त होता है तथा क्लेशों की स्थूलवृत्तियां स्वल्पप्रतिपक्षवाली अर्थात् समाधि की अपेक्षा से सुकर औ स्वल्प जो प्रसङ्ख्यान तिस से निवृत्त हो जाती हैं औ जो सूक्ष्म क्लेशवृति हैं वह महाप्रति-पक्षवाली अर्थात् सर्वापेक्षया उत्कृष्ट औ दुःसाध्य जो असम्प्र-ज्ञातसमाधि तिस से निवृत्त होती हैं (१)।

स्थूलक्लेशों को क्रियायोग से सूक्ष्म करे औ सूक्ष्मों को ध्यान से दग्ध करे औ दग्धहुये क्लेशों का फिर असम्प्रज्ञातयोग से समूल नाश करे यह परमार्थ है ॥ १२ ॥

(†) इतने पाठ का भाष्यकारों ने सूत्र के आदि में अध्याहार किया है।

(१) भाव यह है कि—जैसे वस्त्र का स्थूल मल विधूनन से औ सूक्ष्म प्रक्षालन से औ सूक्ष्मतर क्षारसंयोग से निवृत्त होता है तैसे स्थूल-उदार क्लेश क्रियायोग से सूक्ष्म करे औ सूक्ष्म क्लेशों को प्रसंख्यानअग्नि से दग्ध करे, औ दग्धतुल्य अतिसूक्ष्म हुये अ-सम्प्रज्ञात द्वारा निवृत्त करे।

आशंका–जो पदार्थ जन्मादि दुःखद्वारा पुरुषों को क्लेशित (दुःखित) करता है वही क्लेशपद का वाच्य हो सकता है अन्य नहीं सो ऐसा धर्म औ अधर्म है क्योंकि यह दोनों ही जन्मद्वारा लोकान्तर में गमन आगमन सुख वा दुःख के हेतु हैं, एवं च अविद्यारागद्वेषादि को क्लेश न कहकर धर्माधर्म को ही क्लेश कथन उचित है ?

इस आशङ्का का वारण करते हैं—

सू० क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः॥१२॥

भाषा–(कर्माऽऽशयः) शुभ अशुभ कर्मों का आशयभूत जो (१) धर्म औ अधर्म वह (क्लेशमूलः) अविद्यादिक्लेशमूल कही होता है, सो कर्माशय कीदृश है कि (दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः) कोई धर्माऽधर्म दृष्टजन्मवेदनीय अर्थात्–इसी जन्म में फल देने वाला है औ कोई अदृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् मरण से अनन्तर पर जन्म में फल देने वाला है।

अर्थात्–पुण्य अपुण्य संज्ञक जो कर्माशय है वह काम-लोभ मोह-क्रोध (२) द्वारा जन्य होने से अविद्यादिक्लेश मूलक है, एवं च अविद्याआदिमूलक ही धर्माऽधर्म को जन्मादि का हेतु होने से अविद्या आदि ही क्लेश का हेतु होने से क्लेश हैं कुछ धर्माऽधर्म नहीं यह फलित हुआ—(३)

---

(१) शुभाऽशुभकर्मों के अनुष्ठान से जन्य जो चित्त में रहने वाला एक प्रकार का अदृष्ट वह कर्माशय कहा जाता है, इसी का नाम धर्माऽधर्म है। इसी अभिप्राय से कहते हैं "धर्मअधर्म" इति।

(२) "कामलोभमोहक्रोधप्रसवः" इस भाष्य का यह अनुवाद है, यहां पर कामपद से राग औ क्रोधपद से द्वेष औ लोभपद से अभिनिवेश औ मोहपद से अविद्या का औ अस्मिता का ग्रहण कर लेना।

(३) रागद्वेषपूर्वक कर्माऽनुष्ठान से जन्य धर्माऽधर्म ही जन्मादि का कारण हैं कुछ ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्मानुष्ठान से जन्य नहीं, एवं च मुख्यतया संसार का कारण होने से रागद्वेषादि ही क्लेश हैं कुछ धर्माऽधर्म नहीं, यह तत्त्व है, यह अग्रिम सूत्र में स्पष्ट होगा।

तहां इतना विशेष है कि अविद्या तथा अविवेक रूप दो क्लेश तो धर्म अधर्म इन दोनों के कारण हैं औ राग केवल धर्म का ही कारण है, एवं लोभ परद्रव्यअपहरण द्वारा औ मोह हिंसादिद्वारा केवल अधर्म का ही कारण जानना, एवं क्रोध भी ब्रह्मवधादिद्वारा अधर्म का कारण है, परन्तु कहीं क्रोध धर्म का भी कारण हो जाता है जैसा कि ध्रुवजी का, क्योंकि ध्रुव जी ने विमाता औ स्वतात उत्तानपाद कृत निरादर से उत्पन्नहुये क्रोध से तपअनुष्ठान द्वारा ऐसे धर्म का लाभ किया था कि जिस से अद्याऽवधि सर्वोपरि स्थान में वह विराजमान हो रहा है।

तहां जो धर्म, अत्युग्रप्रयत्नपूर्वक अनुष्ठित मन्त्र वा तप वा समाधि अथवा ईश्वर-देवता-महर्षि-महानुभावों के अत्युग्र आराधन द्वारा निर्वर्तित = निष्पादित (उत्पन्न) हो सद्यः (शीघ्र) ही अपने फल देने में उद्यत हुआ इसी जन्म में फल देता है वह धर्म दृष्टजन्मवेदनीय कहा जाता है, जैसा कि (१) शिलादमुनि का नन्दीनामक कुमार अत्युग्र महादेव के पूजन से मनुष्य शरीर को त्यागकर उसी जन्म में देवदेह के लाभ से अमर हुआ था (२)

एवं जो अधर्म, भीत-व्याधित कृपण जनों के प्रति क्लेश देने से वा विश्वासप्राप्त (३) पुरुषों को दुःख देने से वा महानुभाव-तपस्वियों का अत्युग्र अपकार (पीडा) करने से उत्पन्न हुआ

---

(१) "यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः" इस भाष्य का अनुवाद करते हुये दृष्टजन्मवेदनीय धर्म का उदाहरण कहते हैं "जैसाकिशिलादमुनि" इत्यादि से।

(२) यह कथा शिवपुराणीयसनत्कुमारसंहिता के ४९ इत्यादि अध्याय में प्रसिद्ध है।

(३) जिस पुरुष ने यह विश्वास करलिया है कि इस से हमें कदापि अनिष्ट नहीं होंगे उस विश्वासंप्राप्त पुरुष का अनिष्ठ करना भी एक बड़ा पाप है।

शीघ्र ही अपने अनिष्ट फल देने को उन्मुख होता है वह अधर्म भी दृष्टजन्मवेदनीय है।

जैसा कि (१) देवेन्द्रभाव को प्राप्त हुआ भी नहुष राजा शिविकासंलग्न (पालकी में लगेहुये) महानुभावऋषियों का पार्ष्णिप्रहाररूप अपकार करने से अगस्त्यमुनि के शापद्वारा शीघ्र ही देवदेह को त्याग कर अजगरसर्पभाव को प्राप्त हुआ था।(२)

अदृष्टजन्मवेदनीय धर्माऽधर्म तो प्रसिद्ध ही हैं, (३) जो हो निखिल धर्म औ अधर्म क्लेशमूलक ही हैं।

यहां पर इतना विशेष है कि—जो पुरुष (४) नारक अर्थात् रौरवादिनरकप्रापक पाप का अनुष्ठान करते हैं उन पुरुषों को जो अधर्म उत्पन्न होता है वह दृष्टजन्मवेदनीय नहीं होता है क्योंकि यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है कि इसमनुष्य-लोक में ही सहस्र वर्षों कर भोगने योग्य रौरवादिनरक की प्राप्ति हो जाय।

एवं जो क्षीणक्लेश योगी वा ज्ञानी हैं उन का धर्म भी अदृष्ट जन्मवेदनीय नहीं होता है क्योंकि उन के सब धर्माऽधर्म प्रसङ्ख्यानरूप अग्नि से दग्ध हो गये हैं।

---

(१) "तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्य्यक्त्वेन परिणतः" इस भाष्य का अनुवाद करते हुये दृष्टजन्मवेदनीय अधर्म का उदाहरण कहते हैं (जैसा देवेन्द्र) इति।

(२) यह महाभारत के आनुशासनिक १३ पर्व के १०० अध्याय में प्रसिद्ध है।

(३) यज्ञदानादिजन्य जो मरण से अनन्तर परलोक में स्वर्गादि फल देनेवाला धर्म, एवं ब्राह्मणवध आदि जन्य जो मरण से अनन्तर नरकादि फल देनेवाला अधर्म यह दोनों अदृष्टजन्मवेदनीय हैं, यह भाव है।

(४) "तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः, क्षीणक्लेशानामपि नास्ति अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माऽऽशयः" इस भाष्य का अनुवाद करते हैं "जो पुरुष नारक" इत्यादि से।

कोई (१) तो यह कहते हैं कि "नारकी पुरुषों को दृष्टजन्मवेद-नीय कर्माशय नहीं" इस भाष्य का यह अर्थ है कि (जो पुरुष नरकपतित हैं उन को सामग्री के अभाव से वहां पर धर्माऽधर्म की उत्पत्ति न होने से दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं हो सकता है औ जो स्वर्ग में स्थित हैं वह तो लीलामानुषविग्रह को धारण कर प्रयागादि तीर्थों में कर्मानुष्ठान द्वारा दृष्टजन्मवेदनीय धर्मशील भी हो सकते हैं इसलिये भाष्यकारों ने नारकी मात्र को निषेध किया है स्वर्गी का नहीं, ॥ १२ ॥

इस प्रकार धर्माऽधर्म को अविद्यादिक्लेशमूलक प्रतिपादन कर इदानीं (धर्माऽधर्म को अविद्यामूलक होने से विद्या उत्पन्न से अविद्यानाश के अनन्तर कारण के अभाव से आगामि धर्माऽधर्म का संचय पुरुष को मत होय परन्तु पूर्व अनेक जन्मसंचित-धर्माऽधर्मों को विद्यमान होने से तत्प्रयुक्त आगामी जन्मआदि अनर्थ की निवृत्ति न होने से विद्या होने से भी आगामिजन्म का अभाव कैसे) इस आशंका के वारणार्थ त्रयोदश सूत्र का आरम्भ करते हैं—

सू० सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

भाषा—(मूले) धर्माऽधर्मादि के मूलभूत=कारण अविद्यादि क्लेशों के (सति) विद्यमान होने से ही (तद्विपाकः) तिन धर्मअधर्मों का फल होता है अन्यथा नहीं, सो यह विपाक अर्थात्–कर्मों का फल तीन प्रकार का है (जात्यायुर्भोगाः) जाति=जन्म वा देवमनुष्यत्वादि उत्तममध्यमजाति, आयु= जीवनकाल अर्थात् कुछ कालपर्य्यन्त शरीर के संग प्राणों का

(१) वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या के अनुसार पूर्वोक्त भाष्य के अर्थ का निरूपण कर इदानीं विज्ञानभिक्षु कृत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं "कोइ तो" इत्यादि से।

सम्बन्ध, भोग = इन्द्रियादि द्वारा सुखदुखभोगात्मक चित्त की वृत्ति। (१)

अर्थात्-अविद्याआदि क्लेशों के होने से ही यह धर्माऽधर्म अपने फल का जनक होता है कुछ उच्छिन्नक्लेशमूल (२) नहीं।

जैसे तुष (३) रूप सहकारी कारण से संबद्ध औ अदग्धबीजभाव (४) हुये ही शालितण्डुल अपने अंकुरोत्पादन में समर्थ होते हैं औ तुषरहित तथा दग्धबीजभाव नहीं तैसे अविद्यादि क्लेशरूप सहकारी कारण से संबद्ध हुये ही धर्माधर्म अपने फल देने में समर्थ होते हैं अपनीत क्लेश † वा प्रसंख्यानाग्निदग्धबीजभाव नहीं।

भाव यह है कि-जैसे जल से सिंचन कियी हुयी भूमि में ही उप्त (बोये हुये) बीज उत्पन्न हो कर अपने फल को देते हैं तैसे अविद्यादि क्लेशरूपी सलिल से सिंचन कियी हुयी चित्तभूमि में ही पुण्यपापरूपी बीज उप्त हुये अङ्कुरित हो अपने सुखदुःखादिफल को देते हैं अन्यथा कदापि नहीं।

---

(१) इन तीनों में से सुखादिभोग तो मुख्य फल है औ जाति तथा आयु यह दोनों इस के लिये होने से गौणफल हैं क्योंकि भोग यदि उत्तम होना होगा तो देवत्वादि उत्तमजाति तथा अधिक आयु का लाभ अवश्य होगा औ यदि मन्दभोग होना होगा तो हीनजाति वा हीन आयु का भी लाभ अवश्य होगा।

(२) (उच्छिन्न) नष्ट हो गया है ज्ञान से रागादिक्लेशरूप मूलकारण जिस का वह धर्माऽधर्म उच्छिन्नक्लेशमूल हैं।

(३) तुष नाम उस का है जो कि चावलों पर भुस्सा होता है।

(४) तुष रहने पर भी नहीं दग्ध हुआ प्रस्वेदादि द्वारा बीजभाव जिस का, यह इस का अर्थ है।

(†) योगाभ्यास से अपनीत=दूर कर दिया है रागादिक्लेशरूप सहकारी कारण जिस का सो धर्माऽधर्म अपनीतक्लेश कहा जाता है।

एवं च जैसे जलसिंचनरूप सहकारी कारण के अभाव से चेत्र-उप्त बीज अपने फल को नहीं देते हैं तैसे सहकारीभूत अविद्यादि के अभाव से अनन्त संचित धर्माऽधर्म भी स्वफल नहीं देते हैं, तथा च ज्ञान से संचित धर्माऽधर्म का भी नाश होने से तत्प्रयुक्त आगामिजन्मादि का नाश सुतरां संभव हुआ ।

अतएव भगवान् ने "ज्ञानाऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" इस वाक्य से प्रसंख्यानअग्नि को यावत् धर्माऽधर्म का दाहक कहा है।

अनन्तसञ्चितकर्मों का क्षणभर में नाश करने से ही "नास्ति योगसमं बलम्" इस वचन से योग को सर्व से बली कहा है (१)।

अब (२) यहां पर प्रसंग से यह विचार किया जाता है कि (क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है वा एक कर्म अनेकजन्म का कारण होता है, द्वितीय विचार यह है कि (क्या अनेक कर्म अनेकजन्म को निष्पादन करता है वा अनेक कर्म एक जन्म को ही उत्पन्न करता है।

यदि एक ही कर्म आगामी एक जन्म का आरम्भ करता है यह प्रथम पक्ष माना जायगा तो अनादिकाल से अनेक जन्मों कर संचित भोगावशिष्ट असंख्येय कर्म औ वर्तमानकाल में अनुष्ठित कर्म के फल का क्रम नियत न होने से लोकों की विश्वासाभाव से कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी, परन्तु सो प्रवृत्तिअभाव

(१) जब कि प्रारब्धकर्म के भी नाश करने में योग समर्थ है तो अन्य के नाश में तो क्या कहना है, जिस प्रकार प्रारब्धकर्म का नाश योग से होता है वह प्रकार जीवन्मुक्तिविवेक में देखना।

(२) यहां पर भाष्यकारों ने "तत्रेदं विचार्य्यते किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्" इत्यादि ग्रन्थ से विचारपूर्वक एकभविकवाद का निरूपण किया है, उसी के अनुवाद का आरम्भ करते हैं—(अबयहां) इत्यादि से।

किसी को अभिमत नहीं क्योंकि यावज्जीवनपर्य्यन्त ही शास्त्र शुभकर्मानुष्ठान का उपदेश करता है, अर्थात्-कर्म तीन प्रकार का है एक सञ्चित जो कि पूर्वले अनेकजन्मों में निष्पादित किया हुया स्थित है (१) औ द्वितीय प्रारब्धकर्म जो कि उन्हीं सञ्चित कर्मों में से निकासा हुया वर्तमानशरीर तथा भोगादि का हेतु है (२) औ तृतीय आगामिकर्म जो कि इस वर्तमानदेहद्वारा आगामि फल के लिये अनुष्ठित किया जाता है, एवं च यदि यह ही माना जाय कि एक ही कोई कर्म उत्तरकालिक एक जन्म का आरम्भ करता है तो किसी पुरुष की आगामी पुण्य अनुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि यह तो उस को निश्चय है नहीं कि प्रथम अमुक कर्मफल देगा, किन्तु सञ्चित कर्मों में से ही कोई एक उत्तर जन्म देगा यही उस को संभावना है, एवं च यह भी सम्भव हो सकता है कि उसजन्म में कहीं पाप का अनुष्ठान हुया तो वर्तमानकालिक पुण्यानुष्ठान भी नष्ट हो जायगा, तथा च पुण्यानुष्ठान को निष्फल जान कर लोकों की शुभकर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी (३)।

एवं (एक ही कर्म आगामी अनेक जन्मों का कारण है) यह द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं क्योंकि अनेक सञ्चित वा आगामिकर्मों में से एक ही किसी कर्म को अनेक जन्म देने से अवशिष्ट कर्म निष्फल हो जांय गें क्योंकि उन कर्मों को फल

---

(१) अर्थात्-जिन कर्मों ने अभी फल नहीं दिया औ अवशिष्ट पड़े हैं वह संचित कहे जाते हैं।

(२) अर्थात्-जिस ने अपने फल देने का आरम्भ किया है वह प्रारब्ध कहा जाता है।

(३) वर्तमानकाल में किये हुये पुण्य आगामिजन्म का आरम्भ करते हैं वा संचितों में से ही कोइएक कर्म आगामी जन्म का आरम्भक होगा, इस संदेह से पुरुष की शुभकर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी यह तत्त्व है।

देने का अवसर नहीं मिलेगा, एवं च विफल जान कर आगामी-कर्मों में प्रवृत्ति के (१) अभाव से यह पक्ष भी अनिष्ट ही है (२)।

एवं (अनेककर्म अनेक जन्म का कारण है) यह तृतीयपक्ष भी समञ्जस नहीं क्योंकि यह अनेक कर्म एक ही काल में अनेक जन्म देंगे सो तो संभव नहीं किन्तु क्रम क्रम से देंगे एवं च एक कर्म से एक जन्म हुआ यह प्रथम पक्ष ही फलित हुआ, तथा च प्रथमपक्ष कथित दोष कर ग्रस्त होने से यह भी असंगत ही है।

अतः (३) जन्म से लेकर मरणपर्य्यन्त जो असंख्यात तथा विचित्र औ गुणप्रधानभाव से अवस्थित यावत् धर्माऽधर्मसमूह है वह सब ही मरणकाल में अभिव्यक्त हो कर एक ही काल में एक साथ मिलकर आगामी एक ही जन्म का आरम्भ करता है अनेक का नहीं, यह अन्तिमपक्ष ही समीचीन है।

अर्थात्--मरणकाल से पूर्व बलीभूत प्रारब्ध कर्म रूप प्रतिबन्ध क बल से संचित कर्मों की अपने फल प्रदान के लिये अभिव्यक्ति-'उपस्थिति' नहीं होती है औ मरणकाल में प्रतिबन्धक के अभाव से जितने संचित कर्म हैं वह सब ही उपस्थित हो जाते

---

(१) आगामिपापों से संचित पुण्य के नाश होने की संभावना से भी पुण्या-नुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होगी यह भी जानो।

(२) जब कि प्रथमपक्ष में एक कर्म को एकजन्म का कारण होने से ही पुरुषों को कर्माऽनुष्ठान में विश्वासाऽभाव कहा है तो एक कर्म को अनेकजन्म का कारण मानने में पुरुषों को अविश्वास होगा यह सुतरां सिद्ध है, यह तत्त्व है।

(३) (इदानीं "तस्माज्जन्मप्रायणान्तरेकृतः" इत्यादिभाष्य का अनुवाद करते हुये अन्तिमपक्ष का सिद्धान्त करते हैं (अतः) इत्यादि से।

हैं (१)। सो यह मरण, विशेषाऽभाव से (२) निखिल ही अप्रदत्तफल * कर्मों का अभिव्यञ्जक होता है कुछ एक दो का नहीं क्योंकि निमित्तकारण के समान होने पर एक की अभिव्यक्ति होनी औ एक की न होनी यह कथन युक्ति से विरुद्ध है क्या (३) यह कभी संभव हो सकता है कि प्रदीप की सन्निधि की समानता होने पर घट का प्रकाश होय और पट का न होय, एवं च मरणकाल में प्रतिबन्धक के अभाव से निखिल ही कर्म परस्पर संघट्टित 'मिलजुल कर' प्रधानगौण भाव (४) को प्राप्त हुये उत्तरकालिक एक ही जन्म का आरम्भ करते हैं अनेक का नहीं यह निष्पन्न हुआ।

सो यह मिश्रित हुये अनेक कर्म जैसे आगामी जन्म का आरम्भ करते हैं तैसे उस शरीकी आयु का औ उस आयु में होने वाले सुख दुःख भोग का भी यह आरम्भक होते हैं। अत एव यह कर्माशय जन्म, आयु, भोग, इन तीनों फल का कारण होने से त्रिविपाक कहा जाता है, इस प्रकार मिलकर एकजन्म देने

---

(१) एवं च मरणसमय ही संचित कर्मों को फलोन्मुख करता है, यह बोधन किया, यह जानना।

(२) यह कर्म उपस्थित होय यह न होय इस प्रकार विशेष कारण के अभाव से।

(*) जिन कर्मों ने अपना फल अभी तक नहीं दिया वह अप्रदत्तफल कहे जाते हैं।

(३) मरणकाल ही निखिल कर्मों की उपस्थिति में निमित्तकारण है, फिर इस की उपस्थिति होय इस की न होय यह कहना असम्भव है, सोई दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं "क्या यह" इत्यादि से।

(४) जो कर्म अधिक होने से अङ्कुरित हो अपने फल देने में सद्यः उन्मुख हैं वह प्रधान हैं औ जो कर्म कुछ विलम्ब से फल देने वाले हैं वह गौण हैं, इन दोनों में से प्रधान के अनुसार जन्म का लाभ होता है, यह तत्त्व है।

से ही यह कर्माशय एकभविक (१) कहा जाता है।

यद्यपि (२) यह एकभविक मत समीचीन नहीं है क्योंकि यह कबी भी संभव नहीं हो सकता है कि स्वर्गसाधन ज्योतिष्टोमआदि शुभ कर्म औ नरकसाधन ब्रह्मवधादि अशुभकर्म यह दोनों मिलकर एकही उत्तम वा मध्यम जन्म का आरम्भ करते हैं क्योंकि विरुद्ध फलद्वय का एककाल में होना युक्ति से असंबद्ध है।

किंच ऐसे मानने से वेद से भी विरोध होगा क्योंकि सामवेदीयछान्दोग्योपनिषद् में यह लिखा है कि जो पुरुष इष्टापूर्तयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वह धूमादिमार्गद्वारा चन्द्र लोक में गमन कर कर्मफलभोग के अनन्तर फिर संचित कर्म से मनुष्यलोक में आ कर जन्म धारण करते हैं, (३) तहां जिन पुरुषों के संचितपुण्य अवशिष्ट हैं वह रमणीय ब्राह्मणादिजन्म को प्राप्त होते हैं औ जिन के संचितपाप अवशिष्ट हैं वह कुत्सितशूद्रादियोनियों में उत्पन्न होते हैं (४)।

एवं च यदि मरणसमय में सब कर्म उपस्थित होकर एक ही जन्म देंगे तब तो चन्द्रलोकभोगोपयोगी जन्म से अनन्तर मनुष्यलोक में फिर जन्म बोधन करनेवाली श्रुति असंगत होगी क्योंकि आपके मत में तो कोई कर्म शेषरहा ही नहीं जिस से मनुष्य लोक में फिर जन्म होय (५)।

---

(१) भव नाम जन्म का है, एक ही जन्म होता है जिस कर्माशय से वह कर्माशय एकभविक कहा जाता है।

(२) इदानीं इस एकभविकमतपर भाष्य का श्रुतिआदिकों के संग विरोध परिहारार्थ श्री स्वामीजी संक्षिप्त समालोचना करते हैं (यद्यपि) इत्यादि से।

(३) "यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" यह छान्दोग्य श्रुति है।

(४) "तद् य इह रमणीयचरणा" इत्यादि श्रुति का यह अनुवाद है।

(५) एवं च सब कर्म मिलकर एकजन्म नहीं देते हैं किन्तु कई एक देते हैं औ कइ एक अवशिष्ट रहते हैं, यही मानना समीचीन हैं, नहीं तो फिर आगे जन्म नहीं होगा।

औ आपस्तंवमुनि ने तो " वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते " इस वचन से स्पष्ट ही शेषकर्म का सद्भाव कहा है।

(स्वकर्मनिष्ठ जो वर्णी वा आश्रमी हैं सो परलोक में अपने कर्मफलों को भोग कर फिर अवशिष्ट संचित कर्म से विशिष्ट देश में उत्तम जाति, कुल, रूप, आयु, अध्ययन, आचार, धन, सुख, बुद्धि वाले हुये जन्मधारन करते हैं) यह आपस्तंवमुनि के बचन का अर्थ है।

एवं च श्रुतिस्मृति के साथ विरोध होने से यह मत असंगत ही है, तथापि एकभविक वाद को क्वाचित्कत्व होने से दोषाभाव जानना।

अर्थात्-दृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकस्थल में ही एकभविकवाद का स्वीकार है सर्वत्र नहीं (१)।

जो कि विज्ञानभिक्षु ने " स्वर्ग वा नरक में अन्यधर्माऽधर्म की उत्पति के अभाव से औ प्राचीन संचितकर्मों की भोग से समाप्ति होने से स्वर्गी वा नारकी का फिर जन्म न होगा यदि एकभविकवाद माना जायगा " इस प्रकार आशंका कर फिर " स्वर्ग देनेवाला कर्म स्वर्गभोग से अनन्तर ब्राह्मणादि जन्मदेने में समर्थ है, औ नरक देनेवाला कर्म नरक से अनन्तर स्थावरादि जन्म देने में समर्थ हैं, एवं च उन्हीं का ही ब्राह्मण-स्थावरादि योनिपर्य्यन्त फल होने से यह दोष नहीं है) इस प्रकार समाधान किया है सो शारीरक के तृतीयाध्यायस्थ रंहतिपादके शांकरभाष्य के अनध्ययनप्रयुक्त है क्योंकि वहां पर " यदिस्वर्ग के हेतु कर्मशेष से ही ब्राह्मणादिजन्म का लाभ माना जाय गा तो फिर चन्द्रलोक से प्रत्यागत पुण्याचरण पुरुषों के लिये ब्राह्मणादि जन्म

(१) यह सब इसी सूत्र के अग्रिम भाष्य के अनुवाद में स्पष्ट होगा।

औ पापाचरणपुरुषों के लिये चाण्डालादिजन्म प्रतिपादक वेदवाक्य कदर्थित होजाय गा क्योंकि स्वर्गहेतुपुण्य के शेष से ही यदि फिर मनुष्यलोक में जन्मता है तो स्वर्ग से आगत पुरुषों की ब्राह्मणादि योनि ही होनी चाहिये चण्डालादि नहीं" (१) इस प्रकार से इस समाधान का समूलनाश किया है, तथा च पूर्वोक्त समाधान ही उत्तम है यह जानना।

यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि जो दृष्टजन्मवेदनीय धर्माऽधर्म है सो कहीं भोगमात्र का ही जनक होने से एक विपाक 'एकफल देनेवाला' होता है औ कहीं आयु, भोग, रूप दो फल देने से द्विविपाक होता है, तहां नन्दी नामक ब्राह्मण ने जो महादेवजी के आराधन से धर्म सम्पादन किया था वह धर्म आयु तथा दिव्यभोग देने से द्विविपाक है (२) औ नहुष राजा ने जो ऋषियों के अपकार से अधर्म सम्पादन किया था वह सर्परूप जन्म देने से एक विपाक है (३)

एवं च यह सिद्ध हुआ कि अदृष्टजन्मवेदनीय धर्माऽधर्म त्रिविपाक (४) है औ दृष्टजन्मवेदनीय धर्माऽधर्म कहीं द्विविपाक कहीं एकविपाक है। इतना विशेष यहां पर अन्य भी जान लेना कि जैसे धर्माऽधर्म को एकभविक कहा है तैसे वासना को एकभविक मत जानना क्योंकि यदि वासना को एकभविक माना जायगा

(१) वेदान्तदर्शन के तृतीय अध्याय गत प्रथमपाद के ८ सूत्र का भाष्य देखो।

(२) नन्दीनामक ब्राह्मण का आठ वर्ष मात्र ही जीवनकाल लिखा था इस से अमरत्व के लाभ से आयु का लाभ तथा दिव्यभोग का लाभ होने से यह धर्म दो फल देनेवाला है, यह भाव है।

(३) नहुष राजा का जन्म तथा आयु तो जिस कर्म द्वारा इन्द्र बना था उसी ने ही दिया था केवल दुःखभोग ही अत्युग्रपाप से हुआ था इस से यह अधर्म एक फल वाला है, यह तत्त्व है।

(४) जन्म, आयु, भोग इन तीनों फलों के देने वाला।

तो जो पुरुषजन्म से अनन्तर पशुजन्म को प्राप्त होगा वह पशु-जाति के भोगों को नहीं भोग सके गा क्योंकि पूर्वले मनुष्यजन्म में पशुभोग के अनुभव का अभाव होने से उस को पशुभोग की वासना का अभाव है औ विना वासना के भोग का होना असम्भव है, (१) एवं च पूर्वजन्म में जिस का अनुभव किया है उसी अनुभवजन्य वासना से ही उत्तर जन्म में भोग होगा यह नियम नहीं किन्तु अनन्त वासना से चित्त को चित्रित होने से जैसा आगे जन्म होगा तैसी ही पूर्वली किसी जन्म की वासना से उत्तर जन्म में भोग होता है यह जानना (२) इसी अभिप्रायसे ही भाष्यकारोंने—

"क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः" (३).

इस वाक्य से वासनों को अनेकजन्मपूर्वक कहा है।

यदि यह कहो कि यदि वासना से ही भोग होता है तो आदि जन्म में किसी वासना के अभाव से भोग न होना चाहिये, तो इस का उत्तर यही कहा जाय गा कि वासना अनादि हैं, भाष्यकारों ने भी इसी आशय से वासना को अनादि कहा है,

(१) वासना नाम संस्कार का है, प्रथम अनुभव फिर संस्कार फिर स्मरण फिर प्रवृत्ति यह क्रम है।

(२) अर्थात्—जब पुरुष को पशु जन्म होगा तो पहिले किसी पशुजन्म की वासना से ही उस की पशु भोग में प्रवृत्ति होगी, एवं च अनेक पूर्वजन्म के अनुभव से जन्य वासना ही भोग का हेतु है कुछ अव्यवहित पूर्वजन्म के अनुभवजन्य नहीं यह सिद्ध हुया।

(३) क्लेश, कर्म तथा फल के अनुभवरूप निमित्त से उत्पन्न हुयी वासनों से यह चित्त ऐसे संमूर्च्छित औ ग्रथित औ चित्रित है जैसा कि मत्स्यपकडनेका जाल चारो तरफ से अनेक ग्रन्थियों से ग्रथित होता है, अतः यह वासना अनेक जन्म की चित में स्थित हैं कुछ एकजन्म की नहीं यह भाष्य का परमार्थ है।

यथा—"ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीनाः" (१)।

एवं (२) सभी धर्माऽधर्म एकभविक हैं यह भी नहीं है किन्तु जो नियतविपाक धर्माऽधर्म हैं वही एकभविक हैं।

अर्थात्—धर्माऽधर्म दो प्रकार का है एक तो नियतविपाक अर्थात् अवश्य ही फल देनेवाला औ एक अनियतविपाक अर्थात् नियम से फल न देने वाला, तहां जो धर्माऽधर्मनियतविपाक हैं उसी में यह नियम है कि सभी मिल कर उत्तरकालिक एक जन्म देते हैं कुछ अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकस्थल में नहीं,

क्योंकि जो धर्माऽधर्म अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक हैं उन की तीन गति हैं एक तो यह कि "कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः" अर्थात् कृतकर्मों का विना फल देने से नाश हो जाना, औ द्वितीय यह कि—(प्रधानकर्मण्यावापगमनम्) अर्थात् किसी प्रधान कर्म के संग मिल कर ही फल देना स्वतन्त्र नहीं, तृतीय यह कि (नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्) अर्थात् अवश्य फल देनेवाले प्रधानकर्म से अभिभूत हो कर चिरकाल पर्य्यन्त अवस्थान होना।

इन तीनों गतियों में से किये हुये कर्म का विना फल देने से नाश हो जाना यह है कि शुक्लकर्म के (३) उदय से विना फल दिये कृष्णकर्म का नाश हो जाना, अर्थात्—जिस पुरुष

---

(१) जो स्मृति के हेतु संस्कार हैं वह वासनापद के वाच्य हैं औ अनादि हैं यह भाष्य का अर्थ है।

(२) जो पीछे कहा था कि एकभविकवाद काचित्क है यह आगे कहेंगे सोई कहने का अब प्रारम्भ करते हैं "एवं" इत्यादि से।

(३) क्रियायोग से वा मैत्री आदिभावना से जन्य जो धर्म वह शुक्ल है ब्रह्मवधादिजन्य जो पाप है वह कृष्ण है।

ने तप वेदाध्ययनादि शुक्लकर्म का अनुष्ठान किया है उस के पाप का नाश फल दिये बिना ही हो जाता है, एवं च यह पाप कर्म फलदिये विना ही नाश होने से अनियतविपाक है।

शुक्लकर्म से कृष्णकर्म का नाश होता है इस अपने कथन की पुष्टि के अर्थ भाष्यकारों ने—

"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ति" यह श्रुति प्रमाण दियी है,

इस का अर्थ यह है कि–(पापकस्य) पापीपुरुष के, (वेदितव्ये) भोगनेयोग्य, जो (द्वे द्वे) दो प्रकार के (१) कर्म, उन दोनों को (पुण्यकृत एकोराशिः) तपवेदाध्ययनादिपुण्यकर्म जन्य जो एक शुक्लधर्मसमूह है वह (अपहन्ति) नाश कर देता है, (तत्) तिस हेतु से "सुकृतानि कर्माणि कर्तुमिच्छस्व" धर्ममात्र का जनक जो वेदाध्ययनादिशुक्ल कर्म उन के अनुष्ठान की इच्छा कर क्योंकि (इहैवतेकर्मकवयो वेदयन्ति) इस मनुष्यलोक में ही तुमें कर्माऽनुष्ठान प्रतिपादन किया है अन्य लोक में नहीं, यह विद्वान् लोग उपदेश करते हैं।

इस श्रुति से यह ज्ञात हुआ कि शुक्लकर्म के उदय का एतादृश अपूर्वप्रभाव है कि जो उत्पन्नमात्र ही कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण का नाश कर देता है।

एवं (२) प्रधानकर्म में आवापगमन यह है कि—यज्ञगतपशुहिंसादि का स्वतन्त्र दुःखरूप फल न होकर यज्ञजन्य स्वर्ग-

(१) एक कृष्ण, दूसरा शुक्लकृष्ण।

(२) द्वितीय गति स्पष्ट करते हैं 'एवं' इत्यादि से।

फल के संग ही फल होना (१)।

ज्योतिष्टोमादिकर्म जन्य स्वर्ग में हिंसापाप जन्य दुःख का संसर्ग रहता है, यह भाष्यकारों ने पञ्चशिखाचार्य्य जी के वचन से स्पष्ट किया है, यथा—

"स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नाऽपकर्षायाऽलं कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति, यत्राऽयमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति" (२) इति।

एवं प्रधानकर्म से अभिभूत होकर चिरकालपर्य्यन्त अवस्थान होना यह है कि बली पुण्य कर्म का निरन्तर भोग होने से पापकर्म का पडा रहना वा बली पापकर्म का निरन्तर भोग होने से पुण्यकर्म का पड़ा रहना।

अर्थात्-पूर्व जो मरणकाल को निखिलकर्मों की उपस्थिति का हेतु कहा है सो जो कर्म अवश्य फल देने वाले हैं उन्ही सब

---

(१) भाव यह है कि—स्वर्गसाधन ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में जो हिंसा कियी जाती है वह एक तो यज्ञ का उपकार करती-है क्योंकि हिंसा रूप अङ्ग के बिना अङ्गीभूत यज्ञ की साङ्गता नहीं होती है, औ दूसरा फल हिंसा का दुःख देना है परन्तु यह हिंसा स्वतन्त्र पापरूप फल नहीं दे सकती किन्तु जिस यज्ञ का वह अङ्ग है उस प्रधानरूप यज्ञ के फल समय में ही संग संग दुःख देती है इसी से ही स्वर्गवासियों को सर्वदा कोई न कोई दुःख होता ही रहता है, इसी का नाम प्रधानकर्म में आवापगमन है।

(२) ज्योतिष्टोमादियज्ञ जन्य जो धर्म है वह हिंसाजन्य पाप से मिश्रित होने से स्वल्पसङ्कर है औ यदि कुछ प्रायश्चित किया जाय तो वह सङ्कर (पाप का मेल) निवृत्त भी हो जाता है अतः सपरिहार है, औ यदि प्रमाद से प्रायश्चित न किया जाय तो स्वर्ग में उस पाप का दुःख भी सह्य करना पड़ता है अतः सप्रत्यवमर्ष है, यह हिंसाजन्य पाप अल्प होने से महानभूत जो यज्ञफल स्वर्ग है उस का प्रक्षय नहीं करसकता है क्योंकि यज्ञ का फल अधिक है औ हिंसा का फल अल्प है, अतः प्रधानभूत स्वर्गभोगरूपफल में यह हिंसाजन्य पाप आवाप को प्राप्त हुआ स्वर्ग में कुछ २ दुःख देगा अधिक नहीं, यह पञ्चशिखाचार्य्य जी के वाक्य का भावार्थ है।

का ही कहा है कुछ अनियतविपाक वाले का नहीं क्योंकि जो अनियतविपाक वाला होता है वह तो कोई बली कर्म से नष्ट हो जाता है औ कोई आवाप को प्राप्त होजाता है औ कोई नियतफलवाले बली कर्म से दबा हुआ चिरकाल तक स्थित रहता है, सो यह कर्म चिरकालपर्य्यन्त भी तबी तक स्थित रहेगा कि यावत् काल विरोधी बली कर्मों का फल न भोगा जायगा वा इस कर्म के समान फल वाला दूसरा कोई बली कर्म इस का सहायक नहीं होगा, परन्तु किस काल में यह कर्म विरोधी के अभाव से वा किसी सहायक से फलोन्मुख होगा यह जानना कठिन है कौन कह सकता है कि इस कर्म का फल इस समय में होगा।

इस प्रकार कर्म के फल का निश्चय न होने से ही शास्त्र में कर्मगति को विचित्र औ दुर्विज्ञेय (१) कहा है।

परन्तु यह संशय मत करना कि (जब सर्वकर्म मिल कर एक जन्म नहीं देते हैं तो एकभविक कैसे माना) क्योंकि यथासंभव ही एकभविकवाद का स्वीकार है, कुछ सर्वत्र नहीं, अर्थात्-नियतविपाकस्थल में एकभविक का संभव होने से वहां पर एक भविक माना जाताहै औ अनियतविपाक में संभव न होने से वहां नहीं माना जाता है, तथा च एकभविक मत को क्वाचित्क होने से कोई भी दोष नहीं है (२) यह फलित हुआ ॥ १३ ॥

इस प्रकार कर्मों को क्लेशमूलक औ विपाकों को कर्ममूलक

---

(१) "गहना कर्मणो गतिः" इत्यादि शास्त्र में।

(२) एवं च यह सिद्ध हुवा कि एकभविकवाद उत्सर्ग है अर्थात् जहां कोई बाधक होय वहां एकभविक मत मानना, औ अन्य सर्वत्र मानना परन्तु सर्वथा एकभविकवाद नहीं है यह मत जानना, इसी आशय से भाष्यकारों ने कहा है (नचोत्सर्गस्याऽपवादान्निवृत्तिः) अर्थात्–कहीं असम्भव होने से उत्सर्ग की एकवार निवृत्ति ही नहीं होती है।

कहा, इदानीं (यह विपाक किस क्लेश का मूल है) इस आशं-
का का वारण करते हुये विपाकों का फल कहते हैं।

सू० ते ह्लादपरितापफलाः पुण्याऽपुण्यहेतुत्वाद् ॥१४॥

भाषा-(ते) यह पूर्वोक्त जन्म, आयु,भोग नामक तीनों विपाक (पुण्याऽपुण्यहेतुत्वाद्) पुण्य औ अपुण्यरूप कारणमूलक होने से (ह्लादपरितापफलाः) आल्हाद औ परिताप फल वाले हैं।

अर्थात्-शुभ कर्म से जो जन्मादि प्राप्त होते हैं वह आनन्द रूप फल के देने वाले हैं औ अशुभकर्म से जो जन्मादि प्राप्त होते हैं वह दुःख रूप फल के देनेवाले हैं।

यद्यपि पापहेतुक जन्मादि को दुःखफलक होने से पाप-कार्य्य ही जन्मादि योगी को त्यागने योग्य हैं कुछ पुण्यहेतुक नहीं, तथापि जैसे दुःख प्रतिकूलरूप सर्वानुऽभव सिद्ध है तैसे योगी को विषयसुख भी प्रतिकूल होने से दुःख है (१) क्योंकि विषय-सुखभोग काल में भी योगी को सूक्ष्म दुःख का अनुसन्धान बना ही रहता है, अतः सुखफलक भी जन्मादि हेय ही हैं यह जानना ॥ १४ ॥

'विषयसुखभोगकाल में भी योगीलोक दुःख का अनुसन्धान करते हैं यह किस युक्ति द्वारा जाना जाय' इस आकांचा का शमन करते हुये युक्तिपूर्वक विषयमुख को दुःखरूप कहते हैं—

सू० परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

भाषा-(विवेकिनः) विवेकशील योगी की दृष्टि में 'सर्वं-दुःखमेव' निखिल विषयसुख दुःखरूप ही है क्योंकि (परि-

---

(१) "यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः" इस भाष्य का यह अनुवाद है।

णामतापसंस्कार दुःखैः) परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख इन तीनों दुःखों से विषयसुख को मिश्रित होने से, (च) औ (गुणवृत्तिविरोधात्) गुणनिष्ठ स्वाभाविक चाञ्चल्य से निरन्तर सत्त्वगुण की सुखाकारवृत्ति को अन्य विरोधी वृत्तियों कर संवलित होने से।

अर्थात्–परिणामदुःखतादि धर्मों से मिश्रित होने से विवेकी को निखिल ही सुख दुःखरूप भान होता है।

परिणामदुःखता–निखिल (१) प्राणियों को जो पुत्र-कलत्र-मित्र-धन-गृह क्षेत्र रूप चेतन अचेतन पदार्थों द्वारा विषयसुख का अनुभव है वह सब रागरूप क्लेश से अनुविद्ध (युक्त) ही होता है क्योंकि यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है कि यह विषय इस को सुखप्रद तो है परन्तु पुरुष का इस में राग नहीं है किन्तु यही नियम है कि जहां सुख वहां राग अवश्य ही होता है, अत, सुखाऽनुभव रागानुविद्ध है यह सुतरां सिद्ध हुआ, औ वह राग रजोगुण का कार्य्य होने से सुखसाधन पुण्य अपुण्य में प्रवृत्ति अवश्य ही करावैगा, एवं च सुखानुभव समय में जो राग वह प्रवृत्तिद्वारा पुण्याऽपुण्य का हेतु हुआ, एवं (२) सुखाऽनुभव समय में दुःख के साधनों में द्वेष होना भी स्वभावसिद्ध है, एवं च द्वेष भी अनर्थ में प्रवृत्ति द्वारा पाप का जनक हुआ, एवं यदि दुःख साधनों के परिहार करने में वह पुरुष असमर्थ होगा तो मोह वश से कर्तव्याऽकर्तव्यविवेक को भी वह विस्मृत कर देगा, एवं च मोह भी अनर्थप्रवृत्ति द्वारा पाप का हेतु हुआ, एवं भूतहिंसा से विना भी भोग का असम्भव होने से कायिकहिंसा जनित

(१) प्रथम परिणाम दुःखताका विवरण करते हैं (निखिल) इत्यादि से।

(२) विषय सुख में राग से जन्य धर्माऽधर्म का निरूपण कर द्वेष जन्य अधर्म कहते हैं (एवं इत्यादि से।

भी एक पाप हुआ (१)

यह जो सुखाऽनुभवकाल में राग, द्वेष, मोह, हिंसादि की विद्यमानता से आगामी अवश्यभावी पापजन्य दुःख वही परिणामदुःख है, इस परिणामदुःख का जनक होने से ही विवेकी जन विषयसुख को दुःख जानते हैं, अतएव पूर्व (२) विषय सुख में सुख ज्ञान को अविद्या कहा है।

यद्यपि सर्वाऽनुभवसिद्ध विषयसुख का दुःख ज्ञान अपलाप करना योगी को उचित नहीं तथापि विवेकी का तात्कालिक औ अविचारितरमणीय विषयसुख में आदर न होने से वह उस को दुःख ही जानता है, अर्थात्—यथा मधु-विष मिलित भोजन में तात्कालिक सुखजनकता को सर्वाऽनुभव सिद्ध होने पर भी विवेकी लोक परिणाम में दुःखप्रद जान कर त्याग करते हैं तैसे योगी भी विषयसुखभोग को तात्कालिकरमणीय होने पर भी आगामी धर्माऽधर्मोऽत्पत्तिद्वारा दुःखप्रद होने से हेय समझते हैं।

अतएव भगवान् ने–“विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्, परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्” (३) इस वचन से विषयसुख को परिणाम में विषतुल्य कथनद्वारा हेय कहा है।

---

(१) विषयभोग में हिंसा होने से ही मनुजी ने “पंच सूना गृहस्थस्य” इत्यादि वचन से गृहस्थ को प्रतिदिन पंच हिंसा वाला कहा है। अर्थात्—चुल्ली, पेषणी (जाता चाक्की) उपस्कर (झाडू) कण्डनी (उखली) उदकुम्भ (जलघट) इन पांचों द्वारा अनेक प्राणियों की हिंसा गृहस्थ के गृह में होती है, यह तत्त्व है।

(२) १३४ पृष्ट में देखो।

(३) लोक में प्रसिद्ध स्रगूचन्दनवनितादि विषयों के संग इन्द्रियसंयोगद्वारा जन्य जो आरम्भ में पुरुषों को अमृतके तुल्य औ परिणाम में विष के तुल्य सुख वह राजस है, यह गीतावाक्य का अर्थ है, अ० १८ श्लोक ३८।

यदि कोई यह कहे कि (१) हम कुछ विषयभोग को सुख नहीं मानते हैं जिस से पूर्वोक्त दोष होय किन्तु भोगविषयक इन्द्रियों की तृप्ति होने से जो भोगतृष्णा की शान्ति वह सुख है औ जो तृप्ति के अभाव से शान्ति का अभाव वह दुःख है, एवं च भोगविषयक तृष्णा ही महान् दुःख है कुछ विषयभोग नहीं, औ विषयतृष्णा विषयभोग विना शान्त हो नहीं सकती, अतः तृष्णा की शान्ति करना ही विषयभोग का फल हुआ, औ सो शान्ति परिणाम में दुःख जनक है नहीं, तथा च विषयभोग में परिणाम दुःख कैसे ?

तो यह उस का वक्तव्य तब समञ्जस हो सकता है जब कि विषयभोग से तृष्णाशान्ति की संभावना होय परन्तु सो संभावना हो नहीं सकती क्योंकि "भोगाऽभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्" अर्थात्–भोगों के अभ्यास से तृष्णा का अभाव तो दूर रहा प्रत्युत भोगाभ्यास से तृष्णा की वृद्धि औ इन्द्रियों की भोग में कुशलता होती है, अतएव " न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते " (२) इस वाक्य से मनु जी ने विषयभोग को तृष्णावृद्धि का हेतु कहा है।

इत्थं च भोगाभ्यास सुख का उपाय नहीं यह निष्पन्न हुआ। तथा च जो पुरुष विषयवासना से युक्त हुआ भोगाऽभ्यास से तृष्णा की निवृत्ति का संपादन चाहता है वह पुरुष वैसे ही दुःख-

---

(१) "या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्" इस भाष्य का अनुवाद करते हुये आशंका उत्थापन करते हैं, "यदि कोई" इत्यादि से।

(२) (काम) विषयभोग की अभिलाषा (कामानामुपभोगेन) विषयों के भोगने से शान्त नहीं होती है किन्तु जैसे घृतादि डालने से अग्नि अधिक समृद्ध होता है तैसे भोग से अधिक से अधिक बढती ही जाती है, यह मनु अ २। ९४ श्लोक का अर्थ है।

पंक में निमग्न होगा जैसा कि वृश्चिक से भीत हुआ पुरुष सर्प के मुख में पड़ कर दुःख में निमग्न हो जाता है।

यह परिणामदुःखता ही योगी को विषयसुख के अनुभव काल में प्रतिकूल हुयी दुःखप्रद होती है क्योंकि भोगकाल में भी योगी मन में यह विचार करता ही रहता है कि इस विषयसुख से अनन्तर दुःख अवश्य ही होगा।

तापदुःखता = विषयाऽनुभवकाल (१) में सुखसाधन की पूरणता के अभाव से चित्त में परिताप होने का नाम तापदुःखता है, अर्थात्–सुखाऽनुभवकाल में सुख के विरोधी पदार्थों में द्वेष होने से जो चित्त में खेदविशेष वह तापदुःख है, एवं द्वेष से अशुभप्रवृत्ति द्वारा अधर्म भी अवश्य उदय होगा, एवं सुखसाधनों की प्रार्थना करता हुआ कायिकवाचिकमानसचेष्टा द्वारा किसी पर अनुग्रह औ किसी को पीडा भी अवश्य ही करेगा, एवं च अनुग्रह निग्रह द्वारा भी धर्माऽधर्म उत्पन्न हुआ; तथा च सुखभोगकाल में द्वेषजनित जो चित्त में खेद औ द्वेष-मोह-लोभादि (२) जन्य धर्माऽधर्मद्वारा जो आगामी दुःख की संभावना वह तापदुःखता जाननी (३)।

---

(१) परिणामदुःखता का निरूपण कर इदानीं तापदुःखता कहते हैं "विषयाऽनुभव" इत्यादि से।

(२) अनुकूल जनों पर सुख लोभ से अनुग्रह करने से औ विरोधि जनों पर मोह वश से पीड़ा देने से भी धर्माऽधर्म अवश्य उत्पन्न होगा, अतः द्वेषवत् लोभ मोह भी परिणामदुःख का हेतु जानना।

(३) परिणामदुःखता से ताप दुःखता में यह विशेषता है कि परिणामदुःखता केवल विवेकी को ही ज्ञात होती है औ तापदुःखता भोगी को भी भोगकाल में ज्ञात हो जाती है, तापद्वारा शुभाऽशुभ कर्मों में प्रवृत्ति द्वारा आगामी धर्माऽधर्म जन्य सुख दुःख होने से परिणामदुःखता भी तापदुःखता में अनुगत जाननी।

संस्कारदुःखता= सुखाऽनुभव (१) से सुख संस्कार, संस्कार से सुख स्मरण, औ स्मरण से सुख में राग, औ राग से सुख के लिये कायिकादिचेष्टा द्वारा शुभाऽशुभकर्मों में प्रवृत्ति, औ प्रवृत्ति से पुण्याऽपुण्य, पुण्याऽपुण्य से फिर जन्म द्वारा सुखादि का अनुभव, औ अनुभव से फिर वासना, औ वासना से फिर स्मरण, फिर राग, फिर प्रवृत्ति, इस प्रकार सुखानुभव से जन्य जो संस्कार तथा कर्माशयसमूह वह संस्कारदुःखता है (२)।

पूर्वोक्तप्रकार से अनादि प्रसृत (पसरा) हुआ जो यह दुःखप्रवाह वह योगी को ही प्रतिकूलरूप हुआ क्लेशप्रद है भोगी को नहीं, क्योंकि "अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्" यतः नेत्र की गोलक तुल्य योगी अतिसूक्ष्म है, अर्थात्—जैसे अतिस्निग्ध भी पट्टतन्तु (रेशम की तार) वा ऊर्णातन्तु नेत्र में ही पतित हुयी स्पर्श द्वारा दुःखप्रद होती है अन्य अंगों में नहीं तैसे नेत्रगोलकतुल्य सूक्ष्म योगी को ही यह तीन प्रकार के दुःख स्मृत हुये विषयभोगकाल में क्लेश देते हैं इतर भोगी को नहीं क्योंकि इतर भोगी पुरुष को तो प्राप्त हुये ही आध्यात्मिकादि स्थूल दुःख दुःख प्रतीत होते हैं कुछ विषयसुखभोगकाल में विद्यमान सूक्ष्मदुःख नहीं, अर्थात् इतर जो भोगी पुरुष है वह अनादिवासना से विचित्र रूप चित्तवृत्ति (३) अविद्या से अनुविद्ध औ अनात्मपदार्थों

(१) संस्कारदुःखता का निरूपण करते हैं (सुखाऽनुभव) इत्यादि से।

(२) संस्कारजन्य स्मरण द्वारा प्रवृत्ति से धर्माऽधर्म जन्य आगामी दुःख की संभावना होने से संस्कार द्वारा भी विषयसुख दुःख है।

(३) चित्त में रहनेवाली औ निखिल का कारण जो अविद्या उस अविद्या से (समन्ततः) सब कार्य्यों में अर्थात् शरीरादि में अहंकार (मैं हूं) औ पुत्रादि में ममकार अर्थात् यह मेरे हैं इस प्रकार हेय पदार्थों में आत्मबुद्धि वाले पुरुष को तो स्वकर्मोपार्जित्त नये से नये आध्यात्मिकादि स्थूल दुःख ही दुःख प्रतीत होते हैं कुछ परिणामादिदुःख नहीं, यह भाव है।

में अहंकार ममकार करता हुआ औ स्वकर्मोपार्जित प्राप्त प्राप्त दुःख को भोगद्वारा त्यागता हुआ औ त्यक्त त्यक्त दुख को फिर ग्रहण करता हुआ विषय सुख में सूक्ष्म दुःख को न जानकर स्थूलदुःख का ही अनुसन्धान करता है कुछ सूक्ष्म दुःख का नहीं।

इस प्रकार अपने को औ अन्यों को अनादि दुःखप्रवाह द्वारा इतस्ततः भ्रमणशील जान कर यह योगी सम्यग्ज्ञान से विना अन्य कोई दुःख की निवृत्ति का उपाय न समझ कर सम्यग्ज्ञान की शरण में ही प्राप्त होता है, कुछ विषयसुख के भोग में वह प्रवृत्त नहीं होता है।

जिस प्रकार (१) परिणामदुःखतादि से मिश्रित होने से विषय सुख दुःखरूप है तैसे गुणवृत्तियों को परस्पर विरुद्ध होने से भी विषयसुख दुःख ही है, अर्थात्–प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिस्वरूप सत्त्व-रज तम यह तीनों गुण जिस कार्य्य का (शान्त वा घोर वा मूढ का) आरम्भ करते हैं वह कार्य्य त्रिगुणात्मक ही होता है क्योंकि यह तीनों परस्पर अनुगृहीत हुये ही कार्य्य का आरम्भ करते हैं कुछ एकले ही नहीं, एवं च सुखोपभोगरूप शान्त चित्तवृत्ति को भी त्रिगुणात्मक होने से उस वृत्ति में भी दुःख औ विषाद की विद्यमानता अवश्य ही माननी पड़ेगी, तथा च सत्त्वगुणप्रधान-गुणत्रय की कार्य्यभूत शान्तस्वरूप सुखवृत्ति को भी राजसदुःख औ तामसविषाद कर अनुविद्ध होने से विषयसुख स्वभाव से ही दुःखरूप है यह सिद्ध हुया।

किञ्च (२) यह सुखोपभोगरूप शान्तवृत्ति यदि कुछ काल-

---

(१) इदानीं "गुणवृत्तिविरोधाच्च" इस पद का व्याख्यान करते हुये विषय-सुख में स्वाभाविकदुःख का संसर्ग निरूपण करते हैं (जिस प्रकार) इत्यादि से।

(२) "चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्" इत्यादि भाष्यका अनुवाद करते हुये सुखात्मकवृत्ति को क्षणिक कहते हैं (किञ्च) इत्यादि से।

पर्य्यन्त स्थित रहती तो भी कुछ विषयसुख को सुख कहा जाता परन्तु सो है नहीं क्योंकि गुणों को चञ्चल होने से क्षण२ में ही चित्त विलक्षण २ परिणामों को धारन करता रहता है, अतः क्षणिकसुख होने से भी विषयसुख दुःख ही है।

यदि कोई यह शंका करे कि "एक ही चित्त की वृत्ति का एक काल में परस्परविरुद्ध शान्त घोर मूढ़ रूप धर्मों से संबन्ध कैसे" तो इस का उत्तर भाष्यकारों ने यह दिया है कि—"रूपाऽतिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते" अर्थात्—धर्माऽधर्मादिरूप (१) का अतिशय वा वृत्तियों का अतिशय परस्पर विरुद्ध है सामान्य तो अतिशय के संग भी रह सकता है। अर्थात्-अतिशय औ सामान्य परस्पर विरुद्ध नहीं।

भाव यह है कि—जो उदारावस्थापन्न विशेष धर्म हैं वह सजातीय उदारावस्थापन्न विशेष के विरोधी होते हैं कुछ सूक्ष्मावस्थापन्न सामान्य के नहीं क्योंकि तुल्यबलशीलों का ही विरोध होता है अतुल्यबलों का नहीं, एवं च जो धर्म फलोन्मुख होने से अतिशय है वह उसी अधर्म का विरोधी होगा जो कि अपने फल देने को उन्मुख हुया चाहता है औ जो सामान्य रूप से अधर्म विद्यमान है उस का विरोधी नहीं होगा, एवं सुखोपभोग काल में सात्त्विक शान्तवृत्ति भी उदारावस्थापन्न दुःखवृत्ति की विरोधी है कुछ सूक्ष्म वा विच्छिन्नाऽवस्थापन्न दुःख वृत्ति की नहीं, तथा च यह सिद्ध हुया कि गौणमुख्य भाव को प्राप्त हुये सत्त्वादिगुण जिस कार्य्य का आरम्भ करते हैं वह

(१) भाष्य में रूप नाम बुद्धि के धर्मों का है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य्य, यह आठ बुद्धि के धर्म हैं, सोई कहते हैं (धर्माऽधर्मादि) इति।

सब त्रिगुणात्मक होने से सुखदुःखमोहस्वरूप अवश्य ही होंगे, परन्तु इतना विशेष है कि—सुखभोगसमय में दुःख औ विषाद गौण हैं औ सुख प्रधान है, एवं दुःख के प्राधान्यसमय में सुख विषाद को गौण जानना (१) अतः विवेकी को विषयसुख भी दुःख है यह सुतरां सिद्ध हुया, तथा च विषयसुख को औपाधिक (२) तथा स्वाभाविक दुःखाऽनुविद्ध होने से विषयसुख का योगी को त्याग ही करना उचित है, परंतु इस दुःखपरम्परामिश्रित विषयसुख का त्याग अविद्या की निवृत्ति विना होना असंभव है क्योंकि अविद्या ही इस महान्दुःखसमुदाय का मूल कारण है, औ अविद्या की निवृत्ति विना तत्त्वज्ञान से होनी असंभव है, क्योंकि तत्त्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान के समूलउन्मूलन का हेतु है, औ तत्त्वज्ञान का होना योग के अंगों के अनुष्ठानाधीन है, औ योगांगों का परिज्ञान विना इस योगशास्त्र के परिशीलन से प्राप्य नहीं, अतश्च कैवल्योपायभूत यह योगशास्त्र परमोपकारी होने से मुमुक्षु को उपादेय है यह फलित हुया, एतादृश परमोपकारी होने से ही यह शास्त्र सर्वोपकारक वैद्यकशास्त्र के समान चतुर्व्यूह वाला है।

अर्थात् (३) जैसे वैद्यकशास्त्र में रोग, रोग का हेतु, रोग की निवृत्ति, रोगनिवृत्ति का कारण भैषज्य, यह चार व्यूह

---

(१) सुखकाल में सत्त्वगुण प्रधान रहता है औ अन्य दोनों गुण साम्भाग्यरूप से रहते हैं, इत्यादि विशेष भी जानलेना।

(२) यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि परिणाम-ताप-संस्कार दुःखों कर मिश्रित होने से विषय सुख में औपाधिक दुःख कहा औ गुणवृत्तिविरोध से स्वाभाविक दुःख कहा सोई कहते हैं (औपाधिक)।

(३) "यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्" इत्यादि भाष्यके अर्थ को स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

(१) हैं तैसे इस योगशास्त्र में भी संसार, संसार का कारण, मोक्ष, मोक्ष का कारण, यह चार व्यूह (२) हैं, इन चारो में से जो दुःखबहुल संसार है वह हेय है, औ प्रकृतिपुरुष का संयोग इस हेय का कारण है, औ संयोग की अत्यन्त निवृत्ति हान है, औ सम्यग्दर्शन हान का उपाय है (३)।

यहां पर इतना विशेष यह भी ज्ञातव्य है कि संयोग की आत्यन्तिकनिवृत्तिरूप जो कैवल्यपदवाच्य हान है वह हान करने वाले पुरुष का स्वरूप ही है कुछ पुरुष से भिन्न नहीं (४) अतः वह कैवल्य न उपादेय ही है औ न हेय ही है क्योंकि जो वस्तु अपने से भिन्न होता है वही उपादेय वा हेय होता है कुछ निजरूप नहीं।

एवं च जो बौद्ध विज्ञान-सन्तानरूप आत्मा के अभाव को मोक्ष मानते हैं उन के मत में आत्मा के हान से उच्छेद-वाद (५) प्रसक्त होने से औ जो विशुद्धविज्ञानप्रवाह के उदय को मोक्ष मानते हैं उन के मत में नूतन कैवल्य के उदय

---

(१) व्यूहनाम संक्षिप्त अवयरचना वा विभाग का है।

(२) इन्हीं का ही यथाक्रम--हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय, यह नाम है।

(३) यहां रोग के स्थानापन्न हेय संसार, औ रोगकारण धातुवैषम्य के स्थानापन्न प्रकृतिपुरुष का संयोग, औ आरोग्य के स्थानापन्न हान पद वाच्य मोक्ष, औ औषध के स्थानापन्न सम्यग् ज्ञान, जानना।

(४) इस मत में अभाव को अधिकरण स्वरूप होने से औपाधिकसंयोग जन्य दुःख की निवृत्ति पुरुषस्वरूप है यह तत्त्व है।

(५) योगाचार मतवाले नीलपीतादि रूप से विलक्षण क्षणिक ज्ञानप्रवाह को बन्ध मानते हैं औ दीपनिर्वाण के तुल्य उस प्रवाह के नाश को मोक्षमानते हैं औ क्षणिक विज्ञान ही उन के मत में आत्मा है, एवं च आत्मोच्छेद ही उन्ह के मत में मोक्ष होने से यह उच्छेद वाद हुआ।

से हेतुवाद (१) प्रसक्त होने से यह दोनों अपुरुषार्थ (२) होने से अग्राह्य हैं, औ इन दोनों से भिन्न जो आत्मस्वरूपाऽव-स्थान कैवल्य है वह हेयोपादेयशून्य होने से ग्राह्य है, औ यही शास्वतवाद है, औ यही सम्यग्दर्शन है ॥ १५ ॥

इदानीं जिस प्रकार यह शास्त्र चतुर्व्यूह है उसी प्रकार को क्रमपूर्वक प्रतिपादन करते हुये सूत्रकार प्रथम हेय का निरूपण करते हैं—

सू० हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

भाषा—(अनागतम्) आगामी अर्थात् आगे होने वाला जो (दुःखम्) दुःख, वह (हेयम्) हेय अर्थात् त्यागने योग्य है।

अर्थात्—जो दुःख अतीत हो चुका है वह तो भोगद्वारा ही अतिवाहित=नष्ट हो चुका, अतः वह हेयपक्ष में नहीं हो सकता, औ जो दुःख वर्तमानक्षण में भोगारूढ है वह भी द्वितीय क्षण में नष्ट होने से हेयता को प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु जो भावी दुःख है वही नेत्रगोलकतुल्य योगी को क्लेशित करता है,

---

(१) माध्यमिक गत वाक्के नीलादि ज्ञान प्रवाह की अभ्यास से निवृत्ति पूर्वक विशुद्ध विज्ञान प्रवाह के उदय को मोक्ष मानते हैं, एवं च इस के मत में नूतन प्रवाह का उपादान होने से हेतुवाद हुआ अर्थात् उत्पन्न होने से मोक्ष अनित्य हुआ।

(२) प्रथम पक्ष में आत्मा का उच्छेद होने मे पुरुषार्थाऽभाव स्पष्ट ही है, औ द्वितीयपक्ष में कैवल्य को उत्पत्ति वाला होने से कार्य्यत्व प्रयुक्त अनित्यत्व होने से पुरु-षार्थाऽभाव जानना, अतएव यह दोनों अग्राह्य हैं।

यद्यपि तीव्ररोगाक्रान्तों की अपने मरन के लिये विषभक्षणादि में प्रवृत्ति होने से आत्मोच्छेद भी पुरुषार्थ हो सकता है तथापि विचारशील पुरुष आत्मोच्छेद को पुरुषार्थ नहीं मानते हैं क्योंकि विषादि से आत्मोच्छेद करना साहसिक औ अविचारशीलों का ही कर्तव्य है कुछ विवेकियों का नहीं।

अतः वही हेय हो सकता है (१)।

इस प्रकार हेय का निरूपण कर इदानीं इस हेय का कारण निर्दिष्ट करते हैं—

सू० द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

भाषा—(द्रष्टृदृश्ययोः) द्रष्टा औ दृश्य का जो (संयोगः) परस्पर अविवेककृत संबन्ध, वह (हेयहेतुः) हेयसंज्ञक संसार वा दुःख का कारण है।

अर्थात्—प्रधान-पुरुष का जो अनादि अविवेककृत परस्पर संयोग वह संसार का कारण है।

द्रष्टा नाम बुद्धिप्रतिसंवेदी (२) पुरुष का है औ दृश्य नाम बुद्धिसत्त्वोपारूढ (३) निखिल धर्मों का है, यह बुद्धिआदि दृश्य ही अयस्कान्तमणि की तुल्य सन्निधि मात्र से दृशिरूप स्वामी का उपकार करता हुया दृश्यरूप से स्व हो जाता है, औ यही भोक्ताभूत पुरुष का भोग्य हो जाता है, यद्यपि यह दृश्य

---

(१) यहां पर यह शङ्कागत करनी कि (भविष्यत् दुःख की सत्ता में प्रमाण के अभाव से तिस की निवृत्ति पुरुषार्थ कैसे) क्योंकि तृतीयपाद के १४ सूत्र में निखिल ही वस्तु में अनागतावस्था से कार्य्य रहता है यह अनुमान प्रमाण वक्ष्यमाण है, अर्थात्—यावत्कालपर्य्यन्त वस्तु की स्थिति रहती है तावत्कालपर्य्यन्त उस की शक्ति भी अवश्य ही रहती है, औ शक्ति कहिये वा कार्य्य की अनागतावस्था कहिये यह दोनों समान है, एवं च यावत्काल चित्तरूप द्रव्य रहे गा तावत्कालपर्य्यन्त अनागताऽवस्था से दुःख भी अवश्य उस में रहेगा, यह तत्त्व है।

(२) बुद्धि में प्रतिबिंबित हो तदाकार के धारन करने से पुरुष को बुद्धिप्रतिसंवेदी कहा जाता है, अथवा अपने प्रतिबिम्बद्वारा बुद्धि को चेतन तुल्य करने से बुद्धिप्रतिसंवेदी जानना।

(३) इन्द्रियों द्वारा जिनपदार्थों का बुद्धि ग्रहण करती है वा अहङ्कारादि द्वारा जितने तत्त्व बुद्धि से उत्पन्न होते हैं वह सब पदार्थ बुद्धिसत्त्वोपारूढ कहे जाते हैं, एवं च दृश्य पद से निखिल प्रकृतिकार्य्य का ग्रहण हुया, क्योंकि एसा कोई पदार्थ ही नहीं है जिस को बुद्धिविषय न करे औ जो बुद्धि का कार्य्य न होय, अतएव आग्रिमसूत्र में निखिल ही जड़वर्ग को दृश्य कहा है।

अपने जड़रूप से लब्धसत्ता वाला होने से स्वतन्त्र है तथापि पुरुष के अर्थ होने से परतन्त्र ही जानना, एवं च पुरुषार्थप्रयुक्त जो (१) स्वस्वामी भाव वा दृग्दृश्यभाव वा भोक्तृभोग्यभावरूप अनादि (*) प्रकृतिपुरुष का (२) परस्पर संयोग वह दुःख का कारण है यह निष्पन्न हुआ।

पञ्चशिखाचार्य्य ने भी "तत्संयोगविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः" (३) इस वाक्य से प्रकृति पुरुष के संयोग को दुःखका हेतु कहा है।

---

(१) पुरुषार्थप्रयुक्त कहने से पुरुष का भोग अपवर्गरूप अर्थ ही संयोग का कारण है यह बोधन किया, भोगादिरूप पुरुषार्थ प्रकृतिपुरुषसंयोग का स्थिति कारण है, क्योंकि इसी लिये संयोग स्थित है। औ विपर्य्ययज्ञानवासना संयोग का उपादान कारण है, यह तत्त्व है।

(*) अनादि कहने से जो—यह शङ्का उदय होती थी कि "जो यह प्रकृति पुरुष का संयोग है वह स्वाभाविक है वा नैमित्तिक है, यदिस्वाभाविक कहो तो प्रकृति पुरुष को नित्य होने से संबन्ध भी नित्यमानना पडेगा, एवं च नित्य संबन्ध की निवृत्ति के अभाव से कैवल्य कैसे, यदि यह कहो कि विपर्य्ययज्ञानवासनारूप निमित्त जन्य होने से नैमित्तिक है तो अन्तःकरणरूप आश्रय के अभाव से वासना की स्थिति कैसे क्योंकि अन्तःकरण भी वासनाकार्य्यसंयोग जन्य है, एवं च विपर्य्ययज्ञानवासना होय तो संयोग द्वारा अन्तःकरण की उत्पत्ति होय औ अन्तःकरण होय तो वासना को आश्रय मिले, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी हुआ" सो शङ्का भी उच्छिन्न हुयी क्योंकि विपर्य्ययज्ञानवासना को अनादि होने से संयोग भी अनादि ही है, एवं विपर्य्यय ज्ञानवासना का औ प्रकृतिपुरुषसंयोग का निमित्तनैमित्तिकभावसंबन्ध भी अनादि जानना, एवं च संयोग नैमित्तिक औ अनादि है यह फलित हुआ।

(२) यद्यपि दृश्य के सङ्ग पुरुष के संयोग को ही संसार का कारण कहा है तथापि प्रकृति द्वारा ही अन्य दृश्य का संयोग होने से यहां दृश्यपद से मुख्यभूत दृश्य प्रकृति ही लेनी, अतएव भाष्यकारों ने (प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः) इस वाक्य से प्रकृति पुरुष के संयोग को संसार का कारण कहा है, यह जानो।

(३) दुःखकारण बुद्धिसंयोग के वर्जन से दुःख का अत्यन्त प्रतीकार (नाश) होता है यह इस का अर्थ है।

लोक में जैसे परिहार करने योग्य दुःखहेतु पदार्थ का प्रतीकार (निवृत्ति का उपाय) दृष्ट है तैसे यहां भी दुःखहेतु संयोग का प्रतीकार जान लेना, अर्थात्—लोक में जैसे पाद का तल भेद्य है औ कण्टक उस का भेदक है, औ कण्टक पर पाद न रखना वा उपानत्परिधान (जूता पहिन) कर पादविन्यास करना यह इस दुःख का प्रतीकार है तैसे यहां कोमल पादतल के तुल्य मृदुल सत्त्वगुण (१) तप्य है औ रजोगुण उसका तापक है औ प्रधान पुरुष के संयोग की हानि वा विवेकख्याति उस ताप का प्रतीकार है, एवं च लोक में जैसे भेद्य, भेदक, परिहार, इन तीनों को जानने वाला भेदक कण्टकादि की निवृत्ति के उपाय का अनुष्ठान कर भेदजन्य दुःख को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि वह भेद्य, भेदक, परिहार, इन तीनों को जानता है तैसे यहां भी जो तप्य, तापक, परिहार, इन तीनों पदार्थों को जानता है वह भी विवेकख्यातिरूप परिहारका अनुष्ठान कर संयोगजन्य दुःखको प्राप्त नहीं होता है।

यद्यपि ताप रूप जो क्रिया है वह कर्मभूत (२) सत्त्व में ही है कुछ पुरुष में नहीं क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा निष्क्रिय है तथापि दर्शितविषयत्वरूप (३) उपाधि से वा अविवेक से बुद्धि के तदाऽऽकार होने से पुरुष भी तदाकारधारी अनुताप को प्राप्त हो जाता है, एवं च पुरुष में औपाधिक तापसंयोग है (४) यह जानना ॥ १७ ॥

---

(१) यहां सत्त्व पद से सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि का ग्रहण करना। जिस को दुःख होय वह तप्य औ जो दुःख करे वह तापक है।

(२) जो ताप को प्राप्त होता है वह ताप क्रिया का कर्म है, अर्थात्—बुद्धि ही तप्य है पुरुष तप्य नहीं।

(३) दर्शितविषयत्व का अर्थ १ पाद के चतुर्थ सूत्र के व्याख्यान में देखो।

(४) बुद्धिरूप उपाधि के संबन्ध से पुरुष तप्य है, औ प्रकृति पुरुष का संयोग तापक है, औ विवेकख्याति इस का परिहार है, यह तत्त्व है।

जिस दृश्य के संग संयोग होना ही निखिल दुःखों का कारण कहा है उस दृश्य का स्वरूप कथन करते हैं—

सू० प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

भाषा—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलं) प्रकाशशील, क्रियाशील, स्थितिशील जो यथाक्रम सत्त्व, रज, तम, यह गुणत्रय, वह (दृश्यम्) दृश्य कहा जाता है, यह गुणत्रय कीदृश है कि (भूतेन्द्रियात्मकम्) महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रिय, तथा भूत रूप से परिणत होने से भूतेन्द्रियस्वरूप है, किस के लिये गुणत्रय भूतादि रूप से परिणत होते हैं इस का उत्तर कहते हैं (भोगाऽपवर्गार्थम्) पुरुष के भोग औ अपवर्ग रूप प्रयोजन के अर्थ (१)।

अर्थात्—पुरुष के भोग अपवर्ग के अर्थ भूतेन्द्रियादिरूप से परिणत जो प्रकाशादि धर्म शील तीनों गुण वह दृश्य हैं।

यह प्रकाशादिस्वभाव वाले संयोगविभागधर्मशील * तीनों गुण ही साम्याऽवस्था को प्राप्त हुये प्रधान वा प्रकृति शब्द के वाच्य हो जाते हैं।

यद्यपि (२) यह तीनों गुण भिन्न२ धर्म वाले हैं तथापि इन का

---

(१) प्रकाशक्रियास्थितिशीलं—इस पद से गुणों का स्वरूप कहा, औ भूतेन्द्रियात्मकम्—इस पद से गुणों का कार्य्य कहा, औ भोगाऽपवर्गाऽर्थम्—इस पद से गुणों की प्रवृत्ति का प्रयोजन कहा, यह तत्त्व है।

(*) जिन को विवेकख्याति उदय नहीं हुयी उन के संग गुण संयुक्त रहते हैं औ जिन को विवेकख्याति उत्पन्न हो गयी है उन से गुण विभक्त हो जाते हैं, इस लिये यह संयोगविभागधर्मशील हैं।

(२) यहां पर भाष्यकारों ने "परस्परोपरक्तप्रविभागाः" इत्यादि ग्रन्थ से तीनों गुणों का विशेषणद्वारा स्वभाव वर्णन किया है, सोई कहते हैं (यद्यपि) इत्यादि से—

भाग (१) परस्पर उपरक्त ही रहता है, अतएव यह तीनों गुण परस्पर अंगांगी भाव (२) से मिलकर ही एक कार्य्य को उत्पन्न करते हैं कुछ प्रथक् २ नहीं, परस्पर (३) अंगांगिभाव होने पर भी इन गुणों की शक्ति भिन्न भिन्न ही रहती है, अतः निखिलकार्य्य विलक्षण हैं, मिल कर कार्य्य करने से ही यह तीनों गुण तुल्यजातीयअतुल्यजातीय (४) कार्य्यों के आरम्भक होते हैं।

परंतु इतना विशेष है कि–स्व स्व प्राधान्यकालमें यह गुण उद्भूतवृत्तिवाले होते हैं, औ गौणकाल में सहकारीरूप से प्रधान के अन्तर्गत हुये अनुद्भूतवृत्ति वाले होने से अनुमित होते हैं (५) यह तीनों गुण किसी अन्य निमित्त से बिना केवल पुरुषार्थकर्तव्यताप्रयुक्त समर्थ शील हुये एक प्रधान गुण का अनु-

(१) सत्त्वगुण का प्रकाशरूप जो भाग है वह राजस प्रवृत्ति तथा तामस दुःख से उपरक्त (युक्त) है, एवं रजोगुण का जो दुःखरूप भाग है वह सात्त्विक प्रकाश से तथा तामसविषादसे अनुगत है, एवं तामस विषाद भी इतर भागों कर उपरक्त है।

(२) जब प्रकाशरूप कार्य्य उत्पन्न होगा तब सत्त्वगुण अङ्गी कहा जायगा औ इतर गुण अङ्ग कहे जांयगे, एवं अन्यत्र भी जान लेना।

(३) यदि सब मिलकर ही कार्य्य का आरम्भ करते हैं तो सब को गुणत्रय का कार्य्य होने से वैलक्षण्य कैसे, इस का उत्तर कहते हैं (परस्पर) इत्यादि से।

(४) प्रकाशरूपसात्विक कार्य्य के आरम्भकाल में सत्त्वगुण तुल्यजातीय है औ अन्य दोनों गुण अतुल्यजातीय हैं, एवं सत्त्वगुण की अपेक्षा से प्रकाश तुल्यजातीय है औ अन्य गुणों की अपेक्षा से अतुल्यजातीय है, तहां जो तुल्यजातीय है वह उपादान कारण है, औ जो अतुल्यजातीय है वह सहकारी कारण है।

(५) जब दिव्यशरीर उत्पन्न करना होगा तब सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है औ रजतमगुण गौण रहते हैं, औ मनुष्य शरीर उत्पन्न करने समय में रजगुण का प्राधान्य औ सत्वतम की गौणता, एवं तिर्य्यक् कीटादि शरीर की उत्पत्ति करने में तमोगुण का प्राधान्य औ सत्वरज की अप्रधानता जाननी, जिस का कार्य्य आरब्ध होता है वह गुण प्रधान हुआ उदार होता है औ जो इतरगुण हैं वह सहकारि कारण होने से अनुमित हुये सूक्ष्मरूप से रहते हैं, क्योंकि कार्य्यमात्र को त्रिगुणात्मक होने से सहकारी कारणों की सत्ता भी माननी उचित है।

सरण कर अयस्कान्तमणि की तुल्य सन्निधिमात्र से पुरुष के उपकारी होते हैं, एतादृश धर्म शील गुणों का ही नाम प्रधान है, औ यही दृश्य कहा जाता है।

सो यह दृश्य (१) भूतेन्द्रियात्मक है अर्थात्–सूक्ष्म–स्थूल भूतरूप से तथा सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप से (२) परिणत होने से भूतेन्द्रियस्वरूप है, सो यह जो भूतादिरूप से प्रकृति का परिणाम है वह निष्प्रयोजन नहीं किन्तु सप्रयोजन है अतएव (भोगाऽपवर्गार्थम्) यह कहा है, अर्थात्–पुरुष के भोगाऽपवर्गाऽर्थ ही यह प्रकृति भूतादिरूप से परिणत होती है कुछ निष्प्रयोजन नहीं।

तहां अविभागापन्न गुणों के (३) इष्टाऽनिष्टस्वरूप का अवधारण करना भोग है, औ गुणों से विभक्त भोक्ता पुरुष के स्वरूप का अवधारण करना अपवर्ग है, इन दोनों प्रयोजनों से अन्य तीसरा कोई प्रधानप्रवृत्ति का प्रयोजन नहीं है।

पञ्चशिखाचार्य्य ने भी "अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्याऽतुल्यजातीये (४) चतुर्थे तत्क्रियासा-

---

(१) इस प्रकार गुणों का धर्म कथन कर इदानीं गुणों का कार्य्य कहते हैं "सो यह" इत्यादि।

(२) सूक्ष्मभूत से पञ्चतन्मात्र, औ स्थूलभूत से पृथिवी आदि पञ्चस्थूलभूत का ग्रहण करना, एवं सूक्ष्म इन्द्रिय से महत्तत्त्व, अहङ्कार, औ स्थूल इन्द्रिय से अन्य एकादश इन्द्रिय का ग्रहन करना।

(३) अविभागापन्न,=गुणों से अपने को भिन्न न जान कर गुणात्मक बुद्धिनिष्ठ सुख दुखादि इष्टाऽनिष्ट धर्मों का अपने में अवधारण=निश्चय करने का नाम भोग है।

(४) तुल्याऽतुल्यजातीये=जैसे प्रकृति अजन्य है तैसे पुरुष भी अजन्य है, अतः पुरुष प्रकृति के तुल्यजातिवाला कहा जाता है, एवं गुण परिणामी औ पुरुष अपरिणामी निष्क्रिय है, अतः प्रकृति की अपेक्षा से पुरुष विजातीय है।

यह अविवेकी पुरुष त्रिगुणात्मक बुद्धि को कर्ता होने पर भी त्रिगुणातीत तुल्याऽतुल्यजातीय बुद्धिसाक्षी तुरीय अकर्ता पुरुष में बुद्धिनिष्ठ सुखादिधर्मों का आरोप करता हुआ गुणों से भिन्न अन्य शुद्ध चेतन को नहीं जानता है, यह पञ्चशिखाचार्य्यजी के वाक्य का अर्थ है।

क्षिएयुपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छ-ङ्कते" इस वाक्य से अविभागापन्नगुणों की स्वरूप निश्चय को ही भोग कहा है।

यद्यपि यह भोग अपवर्ग रूप दोनों पुरुषार्थ बुद्धिकृत होने से औ बुद्धि में वर्तने से बुद्धि के ही धर्म हैं तथापि जैसे जय वा पराजय योद्धा में वर्तमान होने पर भी स्वामी भूत राजा में व्यवहृत होता है क्योंकि वह उस के फल का भोक्ता है, एवंबन्ध वा मोक्ष बुद्धि में वर्त्तमान हुया ही पुरुष में व्यवहृत होता है क्योंकि पुरुष बुद्धि का स्वामी औ उस के फल का भोक्ता है।

तहां भोग अपवर्गरूप पुरुषार्थ का समाप्त न होना ही बुद्धिनिष्ठ बन्ध है औ विवेकख्याति की उत्पत्ति से उस पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो जानी मोक्ष है।

जिस प्रकार बन्धमोक्षरूप बुद्धिधर्मों का पुरुष में आरोप किया जाता है, इस प्रकार ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, तत्त्वज्ञान, अभिनिवेश (१) आदि धर्म भी बुद्धि में वर्तमान हुये पुरुष में आरोपित किये जाते हैं, क्योंकि यही उन के फल का भोक्ता है ॥१८॥

इदानीं पूर्वोक्त दृश्य गुणों के स्वरूप औ अवान्तरभेद की निरूपणार्थ उत्तर सूत्र का आरम्भ करते हैं-

सू० विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

---

(१) (ग्रहण) स्वरूपमात्र से पदार्थ का ज्ञान, (धारण) ज्ञात हुये पदार्थ की स्मृति, (ऊह) पदार्थगत विशेषधर्मों का वितर्क से जानना, (अपोह) युक्ति से आरोपित धर्मों का दूर करना, (तत्त्वज्ञान) ऊह अपोह से पदार्थ का अवधारण, (अभिनिवेश) तत्त्वाऽवधारणपूर्वक ग्रहण त्याग करना।

भाषा—विशेष, अविशेष, लिंगमात्र, अलिंग, यह चार तीनों गुणों के पर्व (१) हैं।

विशेष=अविशेषसंज्ञक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, नामकपञ्च-तन्मात्रों के कार्य्य जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, यह पाञ्च भूत, औ अहंकार के कार्य्यभूत जो श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, नामक पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, औ वाक्-हस्त, पाद, गुद, उपस्थ, नामक पञ्च कर्म इन्द्रिय, औ एकादश सर्वार्थ (ज्ञानकर्मेन्द्रियस्वरूप) मन, यह षोडश गुणपरिणाम विशेष कहे जाते हैं क्योंकि यह सब शान्त-घोर-मूढ-रूप विशेष धर्मों से युक्त हैं।

अविशेष = एकलक्षण†शब्दतन्मात्र, द्विलक्षण स्पर्शतन्मात्र, त्रिलक्षण रूपतन्मात्र, चतुर्लक्षण रसतन्मात्र, पञ्चलक्षण गन्ध-

---

(१) वांश के दण्ड में बीच बीच जो ग्रन्थि (गांठ) होती है वह पर्व कहा जाता है, अर्थात्—इन चारों विभागों में गुण विभक्त हैं, अर्थात्—यह चार गुणों की अवस्था हैं।

यहां इतना विशेष यह जानलेना कि—सांख्य योग मत में सब तत्त्व चार विभाग में विभक्त हैं, यथा-प्रकृति, प्रकृतिविकृति, विकृति, अप्रकृतिविकृति, प्रकृति नाम तत्त्व के कारण का औ विकृति नाम कार्य्य का है, तहां गुणत्रय की साम्याऽवस्थारूप जो प्रधान वह प्रकृति है, औ महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, यह सत प्रकृतिविकृति हैं क्योंकि यह सत कार्य्य कारणस्वरूप हैं, अर्थात् महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य्य औ अहङ्कार का कारण है, एवं अहङ्कार महत्तत्त्व का कार्य्य है औ पंचतन्मात्र का कारण है एवं पंच तन्मात्र अहंकार का कार्य्य है औ स्थूलभूतों का कारण है, पंचभूत एकादश इन्द्रिय यह षोड़श पदार्थ विकृति हैं, औ चेतन पुरुष अप्रकृतिविकृति है, तहां जो विकृतिरूप १६ षोडश पदार्थ हैं, उन की विशेष संज्ञा है, औ जो प्रकृतिविकृतिरूप हैं उन की अविशेष संज्ञा है, औ प्रथम विकृति महत्तत्त्व की लिंगमात्र संज्ञा है, औ प्रकृति की अलिंगसंज्ञा है।

(†) इन पंचतन्मात्रों में से पूर्व पूर्व तन्मात्र उत्तर उत्तर तन्मात्र में अनुगत है अतः यथाक्रम एक लक्षण द्विलक्षणआदि जानना।

तन्मात्र, यह पाञ्च, औ इन का कारण भूत अहंकार, यह षट् अविशेष हैं (१)।

यह अविशेषसंज्ञक षट् सत्तामात्र महान् आत्मा (महत्तत्व) के परिणाम हैं, क्योंकि इन षट् से पर औ इन छवों का कारण भूत जो सत्तामात्र महत्तत्त्व है तिस सत्तामात्र (२) महत्तत्त्व में सूक्ष्मरूप से स्थित हुये ही यह षट् पञ्चभूतादि कार्य्योत्पादन द्वारा स्थूल रूप से वृद्धिकाष्ठा को प्राप्त होते हैं औ फिर लयोन्मुख हुये भी यह षट् तिससत्तामात्र महत्तत्त्व में सूक्ष्मरूप से अवस्थित हुये जो निसत्ताऽसत्त (३) निसदसद् निरसद् अव्यक्त अलिंग प्रधान है तिस में लीन हो जाते हैं, (४) अतः यह षट् महतत्त्व के परिणाम हैं

---

(१) इन सब में शान्त घोर मूढ़रूप विशेषधर्म नहीं रहते हैं अतः यह अविशेष हैं।

(२) पुरुष के भोगाऽपवर्गरूप अर्थ क्रिया करने की क्षमतावाला होने से महत्त्व सत्तामात्र कहा जाता है।

(३) (निसत्ताऽसत्तम्) पुरुषार्थ संपादन का नाम सत्ता है औ तुच्छता का नाम असत्ता है, इन दोनों से रहित का नाम निसत्ताऽसत्त है, अर्थात्—गुणत्रय की साम्यावस्थारूप जो प्रधान है वह पुरुष के भोगाऽपवर्ग संपादन में असमर्थ है क्योंकि जब सत्त्वगुणरजगुण के प्राधान्य से महत्तत्वादि की उत्पत्ति होती है तबी महतत्वादि पुरुषार्थ के संपादक होते हैं, कुछ साम्याऽवस्था नहीं, अतः यह प्रधान सत्ता से रहित है, औ शशशृङ्ग के तुल्य एकवार मिथ्या भी नहीं है अतः असत्ता से रहित है।

(निसदसद्) असत् नाम सूक्ष्मकारण का औ सत्नाम स्थूल कार्य्य का है, अर्थात् कार्य्यकारणभाव से रहित, गुणों की वैषम्याऽवस्था को ही कारण होने से साम्याऽवस्था कारण नहीं है, अतः यह किसी का कारण नहीं, औ गुणत्रयस्वरूप होने से किसी का कार्य्य भी नहीं, (निरसद्) आकाश पुष्प की तरह तुच्छ न होने से असत् से भिन्न है।

स्थूल न होने से यह प्रधान अव्यक्त है।

(४) यह सब षट् अविशेष महतत्तत्त्व से उत्पन्न होते हैं औ उसी में लीन होते हैं अतः यह छे महतत्तत्त्व का परिणाम हैं। प्रथम अपने कारण में लीन होकर फिर कारणसहित प्रकृति में लीन होते हैं, यह क्रम है।

लिङ्गमात्र = इन षट् का कारणभूत जो प्रधान का प्रथम परिणाम महत्तत्त्व वह लिंगमात्र है।

अलिङ्ग = महत्तत्त्व का कारणभूत जो निसत्ताऽसत्त पदवाच्य गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधानाख्य परिणाम वह अलिंग (१) है।

इन गुणों की चारो अवस्थाओं में से विशेष, अविशेष, लिंगमात्र, यह तीनों अवस्था पुरुषार्थकृत होने से अनित्य हैं, औ अलिंगाऽवस्था नित्य है क्योंकि अलिंगावस्था में पुरुषार्थता रूप कारण के अभाव से वह पुरुषार्थकृत न होने से अजन्य है।

अर्थात्—जब शब्दादि स्थूल विषय उत्पन्न होंगे तबी पुरुषको भोग हो सकता है ऐसे नहीं औ स्थूलविषय महत्तत्त्व आदि द्वारा उत्पन्न होते हैं, अतः विशेष, अविशेष, लिंगमात्र, यह तीनों गुणपरिणाम पुरुषार्थप्रयुक्त होने से अनित्य हैं, औ अलिंगसंज्ञक प्रधानाऽवस्था किसी पुरुषार्थप्रयुक्त न होने से नित्य है।

यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि—इन सब परिणामों में अनुगत जो गुणत्रय हैं वह वस्तुतः न तो उत्पन्न ही होते हैं औ न कहीं लय ही होते हैं किन्तु अतीत-अनागत-वर्तमान-उत्पत्ति-विनाशधर्मशील महत्तत्त्वादिद्वारा उत्पत्तिविनाशशील प्रतीत होते हैं, जैसे कि लोक में देवदत्त दरिद्र हो गया क्योंकि इस का धन हरण हो गया औ गाय आदि पशु सब मर गये हैं, यह दरिद्रव्यवहार गायआदि के मरने से ही देवदत्त में आरोप किया जाता है तैसे महत्तत्त्वादि की उत्पत्ति नाश से गुणों की उत्पत्ति वा

---

(१) गुणों की साम्याऽवस्था को गुणों से कथं चित्भिन्न होने से प्रधान को गुणों का परिणाम कहा है, कुछ इस को गुणों का कार्य्य नहीं जानना, अत एव भाष्यकारों ने इस अवस्था को नित्य कहा है, कपिलमुनि ने भी "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" अ० १ सूत्र ६७ से प्रकृति को अजन्य कहा है, निखिल कार्य्य के मूलभूत प्रधान में अन्य मूल कारण के अभाव [illegible] यह मूल प्रकृति (अमूल) अजन्य है यह इस का अर्थ है।

नाश व्यवहृत होता है कुछ वस्तुगत्या गुणजन्य वा नाशशील नहीं,

यहां पर सत्कार्य्यवाद होने से प्रथमकार्य्य जो लिंगमात्र महत्तत्त्व है वह उत्पत्ति से पूर्व प्रधानमें सूक्ष्मरूपसे स्थित हुया ही फिर सृष्टिकाल में प्रधान से विभक्त हो जाता है, कुछ पहिले असत् नहीं था, यह जानना, एवं षट् जो अविशेष हैं वह भी लिंगमात्र में पहिले सूक्ष्मरूप से स्थित हुये ही फिर अभिव्यक्त होते हैं, एवं विशेष भी अविशेषों में प्रथम स्थित हुये ही फिर विभक्त होते हैं।

औ षोडश विशेषसंज्ञक पदार्थों से आगे कोई तत्त्व है नहीं अतः विशेषों का कोई अन्य तत्त्व कार्य्य नहीं हैं अतः उन में न कोई सूक्ष्मरूप से स्थित ही है औ न कोई तत्त्वाऽन्तर उत्पन्न हो विभक्त होता है, अतएव इन सोलह पदार्थों का नाम विकृति कहा जाता है (१)।

यद्यपि इन स्थूलपदार्थों का तत्त्वान्तररूप परिणाम नहीं है तथापि धर्म-लक्षण-अवस्था संज्ञक तीन परिणाम वाले होने से यह परिणामी जानने, यह तृतीयपाद में स्पष्टरूप से (२) कहा जायगा, यह जानना ॥ १९ ॥

इस प्रकार दृश्य को निरूपण कर इदानीं द्रष्टा के स्वरूप निश्चयार्थ यह अग्रिम सूत्र आरब्ध किया जाता है—

सू० द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः ॥२०॥

भाषा—(दृशिमात्रः) निखिलधर्मों से रहित जो चेतनमात्र

---

(१) यद्यपि आकाशादि भी शब्दादि के कारण हैं तथापि शब्दादि कुछ तत्त्वाऽन्तर नहीं हैं, अतः आकाशादि प्रकृति नहीं हैं, क्योंकि जो पूर्वतत्त्व की अपेक्षा से कुछ विलक्षण अन्य तत्त्व की उत्पत्ति करता है वही प्रकृति कहा जाता है कुछ सामान्य से कारण का नाम प्रकृति नहीं है यह भाव है।

(२) ३ पाद के १३ सूत्र में देखो।

अर्थात्-ज्ञानस्वरूप पुरुष, वह (द्रष्टा) द्रष्टा कहा जाता है, यदि ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान का आश्रय कैसे (†) इस का उत्तर कहते हैं "शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः" अर्थात्-यद्यपि वह स्वभाव से ज्ञान का आधार न होने से शुद्ध ही है तथापि प्रत्ययसंज्ञक बुद्धिधर्म ज्ञान को अनुसरण कर ज्ञान का आधार कहा जाता है।

अर्थात्-यद्यपि पुरुष ज्ञान स्वरूप ही है तथापि बुद्धि दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ तिस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का आधार प्रतीत होजाता है, अतएव बुद्धिवृत्ति का अनुकारी होने से (१) यह पुरुष प्रत्ययाऽनुपश्य कहा जाता है।

सो (२) यह दृशिमात्र चेतनभूत पुरुष नतो बुद्धि के समान रूपवाला है औ न अत्यन्त विभिन्नरूप वाला है, अर्थात्-यह पुरुष बुद्धि से विलक्षण है क्योंकि ज्ञातअज्ञातविषय होने से बुद्धि परिणामिनी है, औ सदा ज्ञातविषय होने से पुरुष अपरिणामी है, अर्थात्-बुद्धि का विषयभूत जो गो घट पट आदि पदार्थ हैं वह कभी ज्ञात होते हैं औ कभी अज्ञात होते हैं। औ पुरुष का विषयभूत जो बुद्धि तत्त्व है वह सदा पुरुष को ज्ञात ही रहता है, अतः बुद्धि सदा एकरस न (३) रहने से परिणामिनी है, औ पुरुष

(†) ज्ञान के आधार का नाम द्रष्टा है, जिस को लोक में जानने वाला कहते हैं, एवं च ज्ञानरूप धर्म का आधार होने से दृशिमात्र कैसे, यह शंकक का आशय है।

(१) अनुकारी=तदाकारधारी, चैतन्यप्रतिबिम्बग्राहिणी बुद्धि वृत्ति को विषयाकार औ ज्ञानाधार होने से तदविभागापन्न पुरुष भी ज्ञान का आधार प्रतीत हो जाता है कुछ वस्तुगत्या वह पुरुष किसी धर्म का आश्रय नहीं है क्योंकि वह साक्षी रूप है यह तत्त्व है

(२) "स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूपः" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं 'सो यह' इत्यादि से।

(३) जिस काल में विषय सन्निधि से बुद्धि विषयाकार होती है तिस काल में बुद्धि ज्ञातविषय होती है औ अन्य काल में अज्ञातविषय होती है—अतः कभी विषयाकार औ कभी अविषयाकार होने से सदा एकरस नहीं है।

सदा एकरस होने से अपरिणामी है क्योंकि पुरुष का विषयभूत बुद्धि तत्त्व सदाज्ञात ही रहता है अतः यह दोनों परस्पर विलक्षण हैं एवं संहत्यकारकत्व (१) होने से बुद्धि परार्थ है औ पुरुष स्वार्थ है, अतोऽपि (इस से भी) दोनों विलक्षण हैं, एवं शान्त घोर मूढाकार से परिणत हुयी बुद्धि शान्त घोरमूढ पदार्थों विषयक अध्यवसाय शील होने से त्रिगुण तथा अचेतन है औ पुरुष गुणों का उपद्रष्टा (२) मात्र होने से गुणातीत औ चेतन है अतः यह दोनों विलक्षण होने से असरूप हैं।

एतावता यह दोनों अत्यन्तविरूप हैं यह भी नहीं जानना क्योंकि यतः यह पुरुष प्रत्यानुपश्य है, अर्थात्—बुद्धिवृत्तिरूपज्ञान को प्रकाशता हुया बुद्धिवृत्ति स्वरूप न होने पर भी बुद्धिवृत्ति स्वरूप से भान होता है।

पञ्चशिखाचार्य्य ने भी "अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते" (३)

(१) क्लेश, कर्म, वासना तथा विषयेन्द्रियादि से संहत=मिलकर पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ का सम्पादन करने से बुद्धि संहत्यकारी है, अर्थात् जो जड पदार्थ मिलित होकर किसी एक कार्य्य को सम्पादन करते हैं वह अन्य के लिये होते हैं। जैसा कि शयन आसन गृहादि प्रभृति जड पदार्थ मिलित हुये पुरुष के भोग साधन होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं तैसे बुद्धि भी मिलित हुयी कार्य्य करने से परार्थ है, औ पुरुष असंहत (केवल) होने से किसी अन्य के अर्थ नहीं है अतः स्वार्थ है।

(२) बुद्धि में प्रतिबिम्बित मात्र हुया ही प्रकाशता है कुछ तदाकार से परिणत नहीं होता है अतः उपद्रष्टा है।

(३) अपरिणामी जो भोक्तृशक्ति संज्ञक पुरुष है वह यद्यपि अप्रतिसंक्रम है अर्थात् किसी विषय से संबद्ध न होने से निर्लेप है तथापि परिणामी बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुया तदाकार होने से तिस बुद्धि की वृत्ति का अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है औ तिस चैतन्यप्रतिबिम्बग्राहिणी बुद्धिवृत्ति के अनुकारमात्र होने से बुद्धिवृत्ति से अभिन्न हुया वह चेतन ही ज्ञानवृत्ति कहा जाता है, यह .शिखाचार्य्य जी के वाक्य का अर्थ है।

इस वाक्य से बुद्धिवृत्ति के अनुकार से पुरुष को द्रष्टा कहा है ॥२०॥

इस प्रकार दृश्य औ द्रष्टा का स्वरूप वर्णन कर इदानीं स्वस्वामीभावरूप संवन्ध का उपयोगी जो दृश्यनिष्ठ पुरुषार्थत्व उस का निरूपण करते हैं—

सू० तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

भाषा—(दृश्यस्य) पूर्वोक्तदृश्य का, जो (आत्मा) स्वरूप है, वह (तदर्थ एव) तिस द्रष्टाभूत पुरुष के ही अर्थ है।

अर्थात्—ज्ञानस्वरूप पुरुष की विषयता को प्राप्त हुआ जो बुद्धि आदि दृश्य है उस का स्वरूप स्वार्थ नहीं हे किन्तु पुरुष के भोगअपवर्गरूप पुरुषार्थ का संपादक होने से परार्थ है।

जिस हेतु से यह दृश्य का जडरूप पुरुष के भोगापवर्गाऽर्थ है, इस हेतु से हो पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ के संपादन से अनन्तर यह दृश्य विवेकी पुरुष के प्रति अदृश्य हो जाता है। भाव यह है कि—सुखाद्यनुभवरूप भोग तथा विवेकख्यातिरूप अपवर्ग ही दृश्य का प्रयोजन हैं, औ जब पुरुषको निज रूप का ज्ञान हो जाताऽ है तब प्रयोजन के अभाव से दृश्य का विलय हो जाता है क्योंकि विवेकख्यातिरूप अन्तिमप्रयोजन के सम्पादन से अनन्तर अन्य प्रयोजन के अभाव से दृश्य की प्रवृत्ति का संभव नहीं है। यहां पर यह शंका मत करनी कि "यदि (१) विवेकख्याति के उदय से दृश्य का स्वरूप हान होने से नाश हो जाता है तो अन्य पुरुषों के भोगाऽपवर्ग का सम्पादन कैसे होगा" क्योंकि विवेकी की द्रष्टि से ही दृश्य नष्ट हुया है कुछ सर्व की दृष्टि से नहीं, अतः जिन को विवेकज्ञान नहीं हुया उन की दृष्टि से दृश्य को विद्यमान होने से अन्यों का भोगापवर्ग होना सम्भव है ॥ २१ ॥

---

(१) "स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः" इस शंकापर भाष्य का अनुवाद करते हैं (यदि) इत्यादि से।

यही सूत्रकार कहते हैं—

सू० कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वा द् ॥ २२ ॥

भाषा—(कृतार्थं प्रति) विवेकख्याति की उत्पत्ति द्वारा संपादन कर दिया है अर्थ जिस पुरुष का, उस पुरुष के प्रति (तत्नष्टमपि) यह दृश्य नाश को प्राप्त हुया भी है, तो भी (अनष्टम्) अन्य अविवेकी की अपेक्षा से अनष्ट अर्थात् विद्यमान ही है, क्योंकि-(अन्यसाधारणत्वात्) वह दृश्य अन्य सब पुरुषों का साधारण है।

अर्थात्—दृश्य का जो भोगाऽपवर्ग संपादन रूप प्रयोजन है वह कुछ एक पुरुष के लिये नहीं है जिस से एक पुरुष को विवेक उदय होने से दृश्य के अभाव से अन्य पुरुषों का भोगाऽपवर्ग संपादन न होय, किन्तु निखिल पुरुषों के अर्थ दृश्य की प्रवृत्ति है, अतः निखिल पुरुषों के लिये दृश्य की साधारण प्रवृत्ति होने से विवेकी पुरुष की दृष्टि में कृतकार्य्य दृश्य नष्ट भी है परन्तु अविवेकी की दृष्टि से कृतकार्य्य न होने से वह अनष्ट (विद्यमान) ही है, (१) अतः तिन पुरुषों की विषयता को प्राप्त हुया यह दृश्य चेतनरूप आत्मा के द्वारा निज रूप से लब्धसत्ता वाला

---

(१) अर्थात्—जैसे अन्ध पुरुष को रूपदृश्य नहीं होता है एतावता कुछ रूप का अभाव नहीं माना जाता है क्योंकि नेत्र वाले जनों की दृष्टि से रूप की उपलब्धि प्रत्यक्ष सिद्ध है, एवं विवेकी की दृष्टि से दृश्य की अनुपलब्धि होने पर भी अन्य की दृष्टि से प्रत्यक्ष सिद्ध होने से दृश्य विद्यमान ही है, इसी प्रकार श्रुति में कहा है-(अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः) एक जो बद्ध पुरुष है वह जुषमाण अर्थात्—प्रकृति वा विषयों का सेवन करता हुआ मैं सुखी वा दुःखी हूं इस प्रकार अनुताप युक्त होता है औ अन्य जो विवेकी पुरुष है यह भुक्तभोग प्रकृति को त्याग देता है यह श्रुति का अर्थ है।

ही होता है कुछ अभावप्राप्त नहीं, अतएव प्रकृति पुरुष को नित्य विद्यमान होने से इन दोनों के संयोग को अनादि कहा जाता है, ऐसे ही पञ्चशिखाचार्य्य जी ने कहा है—यथा—"धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः" (१) इति॥२२

इस प्रकार अनादि स्वस्वामीभाव संबन्ध का निरूपण कर इदानीं तत्प्रयुक्त संयोग के स्वरूप कथनार्थ यह अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है--

सू० स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

भाषा—(स्वस्वामिशक्त्योः) स्वशक्ति-स्वामीशक्ति-संज्ञक बुद्धि-पुरुष के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की उपलब्धि का हेतुभूत जो संबन्ध, वह (संयोगः) संयोग कहा जाता है।

अर्थात्—(२) दृश्य को पुरुष के अर्थ होने से वह स्वशक्ति है, औ दृश्यकृत भोगादिरूप उपकार का भाजन होने से पुरुष स्वामीशक्ति है, इन दोनों के स्वस्वामीभाव प्रयुक्त अनादि संयोग से जो अविवेकद्वारा दृश्य की उपलब्धि अर्थात्-सुखादि विषयों का अनुभव वह भोग है औ विवेकद्वारा जो दृश्य से भिन्न अपने रूप का यथार्थ ज्ञान वह अपवर्ग है, यही स्वरूपोपलब्धि है, तथा च भोगाऽपवर्ग का हेतु जो प्रकृति पुरुष का स्वस्वामीभाव संबन्ध वह संयोग है यह निष्पन्न हुआ।

---

(१) (धर्मि) गुणों के संयोग का अनादि होने से धर्मभूत महत्तत्त्वादि का संयोग भी अनादि है, यह पंचशिखाचार्य्य जी के वाक्य का अर्थ है।

(२) यहां (स्वरूपोपलब्धि) इस पद में स्व शब्द दृश्य औ द्रष्टा इन दोनों का वाचक है, तथा च दृश्य की स्वरूपोपलब्धि से भोग का ग्रहण हुआ औ द्रष्टा की स्वरूपोपलब्धि कहने से अपवर्ग का लाभ हुआ, तथा च भोगाऽपवर्गरूप पुरुषार्थ का सम्पादक जो प्रकृतिपुरुष का स्वस्वामीभाव संबन्ध वह संयोग है, यह तत्त्व है, सोई स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से।

सो यह प्रकृतिपुरुष का संयोग जैसे अनादि है तैसे अनन्त नहीं जानना क्योंकि विवेकख्याति पर्य्यन्त ही संयोग रहता है फिर नहीं, अतएव दर्शन को वियोग का कारण कहा जाता है, दर्शन † अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है, अतः जैसे दर्शन वियोग का कारण है तैसे अदर्शन संयोग का कारण है।

यहां पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि—ज्ञान (१) को अज्ञान का विरोधी होने से यह ज्ञान अज्ञान का ही नाशक है कुछ सुखादिभोग रूप बन्ध का नहीं, अतः ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु अज्ञाननिवृत्तिप्रयुक्त बन्धनिवृत्ति द्वारा परम्परा से मोक्ष का कारण है, अर्थात्—अज्ञान के अभाव से जो बन्ध का अभाव हो जाना सोई यहां मोक्ष है औ ज्ञान के होने से ही बन्धकारण अज्ञान का अभाव होता है, अतः इस अभिप्राय से ही दर्शन को कैवल्य का कारण कहा जाता है कुछ साक्षात् कैवल्य ज्ञानजन्य नहीं है (२)।

अब यहां पर प्रसंग से यह विचार किया जाता है कि--जिस अज्ञान का ज्ञान से अभाव होता है वह अज्ञान किंस्वरूप है अर्थात् अविद्या किस का नाम है, क्या गुणों के कार्य्यारम्भणसा-

---

(†) दर्शन नाम विवेकख्याति वा ज्ञान का है औ अदर्शन नाम अज्ञान औ अविवेक का है।

(१) (ज्ञान अपने विरोधीभूत अज्ञान की निवृत्ति करे परन्तु बन्ध की निवृत्ति कैसे होगी) इस आशङ्का का अनुमोदनपूर्वक उत्तर कहते हैं (ज्ञान) इत्यादि से।

(२) बुद्धि आदि से भिन्न अपने शुद्धरूप में अवस्थान का नाम मोक्ष है, इस स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष का ज्ञान कुछ कारण नहीं है किन्तु अज्ञानरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति ही कारण है, अतः अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा जाता है कुछ वस्तुतः वह ज्ञान से जन्य नहीं है, बन्धनिवृत्ति को पुरुषस्वरूप होने से औ पुरुष को नित्य सिद्ध होने से मोक्ष ज्ञानजन्य नहीं है किन्तु नित्य है यह तत्त्व है।

मर्थ्य का नाम अविद्या है (ᐩ)। वा दृशिरूपस्वामी के भोगाऽपवर्गरूप अर्थ के संपादक चित्त का अनुत्पाद, (१) अर्थात्-पुरुषार्थ को समाप्ति न होने से ज्ञान का अभाव अविद्या है। वा गुणों की अर्थवत्ता (२)। अथवा चित्त की उत्पत्ति का वीजभूत औ प्रलयकाल में चित्त के सहित ही प्रकृति में लीन जो विपर्य्ययज्ञानवासना वह अविद्या है। अथवा प्रधान संवंधी स्थिति-संस्कार के चय होने पर गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति अविद्या है अर्थात्-प्रधान में दो प्रकार का संस्कार रहता है एक स्थिति-संस्कार जो कि प्रलयकालीन साम्यावस्था का कारण है, औ एक गतिसंस्कार जो कि महत्तत्त्वादि विकारों का आरम्भक है, ऐसे

(ᐩ) बन्ध का हेतुभूत जो प्रकृति पुरुष का संयोग है उस संयोग का हेतु कौन है, इस का उत्तर अग्रिमसूत्र मे यह दिया है कि 'अविद्या संयोग का हेतु है, तहां अविद्या किस को कहते हैं इस के निर्णयार्थ भाष्यकारों ने "किंचेदमदर्शनं नाम" इत्यादि ग्रन्थ से पट् विकल्प किये हैं, तहां विपर्य्ययज्ञानवासना का नाम अविद्या है यह सिद्धान्त पक्ष है, जो कि चतुर्थ विकल्प है, वह अग्रिमसूत्र के व्याख्यान में कहा जायगा, इदानीं जो जो सृष्टिका कारण होगा सोई संयोग का कारण होगा इस संभावनामात्र से कहते हैं (क्या गुणों की) इत्यादि से, गुणों का जब कार्य्यारम्भ में सामर्थ्य होता है तभी सृष्टि होती है अतः सृष्टिहेतु संयोग का कारण होने से क्या गुणों के अधिकार का ही नाम अविद्या है यह भाव है।

(१) तावत्कालपर्यन्त ही प्रधान वा चित्त चेष्टा करता है कि यावत्काल भोग औ विवेकख्यातिरूप दोनों विषयों को पुरुष के प्रति दर्शित=समर्पण नहीं करता है, औ जब इन दोनों विषयों का निष्पादन कर देता है तब वह चित्त निवृत्ताधिकार हो जाता है, एवंभूत समाप्तकर्तव्य चित्त का जो अनुत्पाद=उत्पत्ति का अभाव क्या इसी को अविद्या कहते हैं। अर्थात् चित्त के अधिकार की समाप्ति न होना ही विद्या का फल है, अधिकार समाप्त न हुआ तो फलतः एतादृश चित्त का न होना ही अविद्या हुयी यह इस का भाव है।

(२) चित्त में भोगाऽपवर्गरूप अर्थ की सूक्ष्माऽवस्था से विद्यमानता रहनी।

श्री पञ्चशिखाचार्य्य जी ने कहा है-यथा-"प्रधानं(१) स्थित्यैव वर्तमानं विकाराऽकरणादप्रधानं स्यात् तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चाऽस्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नाऽन्यथा, कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः" एवं च गतिसंस्कार के होने से जो महदादिकार्य्य का आरम्भ क्या इसी का नाम अविद्या है। औ कोई यह कहते हैं कि-"प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः" (२)

(१) प्रलयकाल में होने वाली जो कार्य्यारम्भ से रहित गुणों की साम्यावस्था उस का नाम स्थिति है, औ सृष्टिकाल में होनेवाली जो गुणों की कार्य्यारम्भरूपाऽवस्था उस का नाम गति है, तहां (यदि प्रकृति स्थितिअवस्था वाली है तो कभी भी उस से उत्पत्ति न होनी चाहिये औ यदि गतिअवस्था वाली है तो सर्वदा ही उत्पत्ति होनी से प्रलय का अभाव होना चाहिये' इस प्रकार वादी की आशंका के वारणार्थ पंचशिखाचार्य्यजी ने यह उत्तर दिया है कि "प्रधानम्" इत्यादि, प्रधान स्थितिसे वर्तमान माना जायगा तो किसी कार्य्यके न करनेसे अप्रधान हो जायगा क्योंकि जिसमें सूक्ष्म रूपसे स्थित हुआ फिर उत्पन्न होता है उसका नाम प्रधान है, औ यदि गतिसे वर्तमानहोगा, तो भी विकार को नित्य होने से अप्रधान हो जायगा क्योंकि किसी पदार्थ के लयाधार को ही प्रधान कहा जाता है, अतः उत्पत्ति काल में गति वाला औ प्रलयकाल में स्थितिवाला मानकर दोनों प्रकार से प्रधान की प्रवृत्ति द्वारा प्रधान व्यवहार मानना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने से प्रधानत्व के लाभ से किसी दोष की प्राप्ति नहीं है, कुछ प्रकृति में ही यह विचार नहीं है किन्तु अन्यवादियों कर कल्पित जो ब्रह्म परमाणुआदि हैं उन विषयक भी यह विचार समान है क्योंकि ब्रह्मआदि भी यदि स्थिति शीलमाने जायगें तो किसी कार्य्य के न करने से अकारण कहे जायगे औ यदि गतिशील मानें जायगे तो कार्य्य को नित्य होने से अकारण कहे जायगे, यह पंचशिखाचार्य्य जी के वाक्य का अर्थ है।

(२) प्रधान की प्रवृत्ति अपने स्वरूपख्यापन (बोधन) के अर्थ है क्योंकि जब तक प्रधान की प्रवृत्ति नहीं होगी तब तक प्रधान के स्वरूप का परिचय नहीं होगा, यही स्पष्ट करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से। यहां पर सर्वत्र ही ज्ञान के होने से जिसका नाश होता है औ जो सृष्टि का कारणभूत प्रकृति का अवस्थाविशेष है यह दोनों ही अविद्यापद के वाच्यमाने गये हैं यह जानना।

इस श्रुति से दर्शनशक्ति ही अविद्यापद का वाच्य है।

अर्थात्—यद्यपि निखिलपदार्थ के ज्ञान में पुरुष समर्थ है तथापि प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष उस को देख नहीं सकता औ सर्व कार्य्य करने में समर्थ दृश्य भी उसे दिखायी नहीं देता है, अतः प्रधान की प्रवृत्ति से जो पुरुष का दर्शनसामर्थ्य क्या उस का नाम अविद्या है।

कोई यह कहते हैं कि-प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों में जो परस्पर दर्शनशक्ति वह अविद्या है, यद्यपि दृश्य जड है औ पुरुष असंग निर्धर्मक है अतः दोनों का ही धर्म दर्शन नहीं हो सकता तथापि चेतन के प्रतिबिम्ब से दृश्य को चेतनतुल्य होने से तिस चेतनछाया की अपेक्षा से दृश्य का धर्म दर्शन औ बुद्धि रूप दृश्य की अपेक्षा से पुरुष का धर्म दर्शन जानना, अर्थात्-बुद्धि औ चेतन का परस्पर अविवेक होने से दोनों का ही दर्शन धर्म है। औ कोई यह कहते हैं कि-शब्दादिविषयों का जो ज्ञान वही अविद्या है।

इस प्रकार अविद्या के स्वरूप निरूपण में अनेक प्रकार के शास्त्र में विकल्प किये हैं, परन्तु यह सब विकल्प सर्व पुरुषों के संग प्रकृतिसंयोग में कारण होने से साधारण हैं अर्थात्-यह सब पूर्वोक्त अविद्या का लक्षण उसी अविद्या में रह सकता है जो कि प्रकृतिपुरुष के संयोग द्वारा निखिल प्रपञ्च का हेतु है, औ जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के संग बुद्धि संयोग द्वारा सुख दुःख भोग के वैचित्र्य में हेतु है उस का यह लक्षण नहीं, (१) अतः

(१) अर्थात्—संयोग दो प्रकार का है एक निखिल संसार का कारण औ एक प्रत्येक २ पुरुष को सुखदुःख बन्ध मोक्ष का कारण, तहां प्रथम संयोग का हेतु जो अविद्या है उसी के यह सब पूर्वोक्त लक्षण हैं कुछ द्वितीय संयोग के हेतुभूत अविद्या के नहीं।

यह लक्षण साधारण है ॥ २३ ॥

(यदि प्रत्येक पुरुष के संग बुद्धिसंयोग का हेतु यह पूर्वोक्त अविद्या नहीं हो सकती तो फिर सुखदुःखादिभोग के हेतुभूत संयोग का कारण कोन अविद्या है) इस का उत्तर कहते हैं—

सू० तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

भाषा—(तस्य) तिस पूर्वोक्त दुखहेतु प्रकृतिपुरुषसंयोग का, (हेतुः) कारण (अविद्या) विपर्य्ययज्ञानवासना है।

अर्थात्—अनादि (१) जो विपर्य्ययज्ञानजन्य वासना वही अविद्यापद का वाच्य है औ यही असाधारण संयोग का हेतु है।

भाव यह है कि—जिस काल में विपर्य्ययज्ञानवासना से बुद्धि वासित = ओतप्रोत (संवलित) होती है तिस काल में विवेकख्यातिरूप अन्तिम कर्तव्य की निष्ठा को न प्राप्त होकर साधिकार होने से प्रकृति में लीन हुयी भी बुद्धि फिर उत्थित हो पुनरावृत्तिशील हो जाती है औ जब विवेक के उदय से विपर्य्ययज्ञानवासना के अभाव से पुरुषख्यातिपर्य्यवसान हुयी बुद्धि अपनी अन्तिम कर्तव्यनिष्ठा को प्राप्त होने से समाप्तअधिकार हो जाती है तब अज्ञान से रहित हुयी संसारकारण अज्ञानकेअभाव से पुनरावृत्तिरहित हो जाती है, एवं च अन्वयव्यतिरेक द्वारा विपर्य्ययज्ञानवासना ही संसारहेतु संयोग का कारण है अन्य नहीं। इस विपर्य्ययज्ञानवासना के निवर्त्तक विवेकज्ञान के उदय के

(१) अनादि कहने से (बुद्धि पुरुष का संयोग होय तो विपर्य्ययज्ञान द्वारा विपर्य्ययवासना होय औ विपर्य्ययज्ञानवासना होय तो बुद्धिसंयोग होय) यह परस्पराश्रय दोष भी उच्छिन्न हुया, अर्थात्—पूर्वसर्ग में यद्यपि विपर्य्ययज्ञानवासना स्वकारण बुद्धि के सहित ही प्रकृति में लीन हो जाती है तथापि उस की वासना से प्रधान वासित रहता है अतः फिर वह वासना ही पूर्वसदृश बुद्धि के संयोग को उत्पन्न करदेती है, इस प्रकार यह प्रवाह अनादि है।

अनन्तर जब ज्ञानप्रसादमात्र पर वैराग्य उदय हो जाता है तब विवेकख्याति के निरोध द्वारा चित्तनिवृत्तिरूप मोक्ष भी पुरुष के हस्तगत हो जाता है, अत एव विपर्य्ययज्ञान नाश के अनन्तर बुद्धि अपुनरावृत्ति शील हो जाती है।

यहां पर कोईक नास्तिक षण्डक (१) के उपाख्यान से इस पूर्वोक्त कैवल्य का आक्षेप करता है, अर्थात्—किसी मुग्धा (१') भार्य्या ने अपने नपुंसक पति के प्रति यह कहा कि-हे आर्य्यपुत्र! जैसे मेरी भगिनी पुत्रवती है तैसे मैं पुत्रवती क्यों नहीं, तब वह नपुंसक बोला कि मर कर मैं भी तेरी संतान को उत्पन्नकर तुझे पुत्रवती कर दूंगा, जैसे यहां पर नपुंसक का वचन असंगत है तैसे आप का मोक्षप्रतिपादन भी असंगत है, अर्थात्-जिस ने जीवते हुये पुत्र उत्पन्न नहीं किया वह मरकर पुत्र उत्पन्न करेगा जैसे यह प्रत्याशा असम्भव है तैसे विद्यमान विवेकख्याति ने जब चित निवृत्तिरूप मोक्ष नहीं किया तो परवैराग्य से विनष्ट हुयी विवेकख्याति मोक्ष उत्पन्न करेगी यह भी असम्भव है?

इस आक्षेप का वारण कोईएक आचार्य्यदेशीय (२) इस

---

(१) पण्डकनाम नपुंसक का है, अर्थात् नपुंसक के दृष्टान्तद्वारा कैवल्य का खण्डन करता है।

(१') मुग्ध नाम सूधी साधी भोली भाली स्त्री का है।

(२) " आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि, स्वयमाचरति यस्मादाचार्य्यस्तेन चोच्यते " इस वायु पुराण के वचन से जो पुरुष शास्त्रप्रतिपादित अर्थ का सम्यक्परिशीलन कर आप सदाचार का सेवन करे औ अन्यों को भी सदा चार में दृढ़ निष्ठा वाला करे वह आचार्य्य कहा जाता है, इस आचार्य्य से जो कुछ न्यून-धर्म वाला होय वह आचार्य्यदेशीय कहा जाता है, अर्थात्-कुछ हम ज्ञान से चित्त की निवृत्तिनहीं मानते हैं किन्तु ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति द्वारा चित्त अपने ही परिणाम से रहित हो जाता है, यह मानते हैं, तथा च इस मत में कोई भी आक्षेप न होने से व्यर्थ शंका का उत्तर देना निरर्थक है इस अभिप्राय से उपेक्षा प्रदर्शनार्थ आचार्य्यदेशीय कहा है, अर्थात्-न्यून आचार्य्य भी इस आशंका का परिहार कर सकते हैं तो इस के उत्तर देने से क्या प्रयोजन है।

प्रकार से करते हैं कि-बुद्धि के भोग विवेकख्याति रूप परिणाम ही की निवृत्ति का नाम मोक्ष है कुछ बुद्धि की निवृत्ति का नहीं, अर्थात्-बन्धकारण अज्ञान के अभाव से जो बुद्धि के परिणाम की निवृत्ति उसका नाम मोक्ष है औ बन्धकारण अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, एवं च ज्ञान कुछ साक्षात् चित्त की निवृत्ति का कारण नहीं है कि जिस से निरुद्ध हुये ज्ञान को चित्त निवृत्ति का कारण मान कर कोई दोष होय, (१) तथा च व्यर्थ ही नास्तिकों का यह मतिविभ्रम है ॥ २४ ॥

चारव्यूहों में से हेय दुःख तथा हेयकारण संयोग का निमित्त पूर्वक निरूपण कर इदानीं हानसंज्ञक तृतीय व्यूह का निरूपण करते हैं—

सू० तदभावात् संयोगाऽभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

भाषा—(तदभावात्) तिस पूर्वोक्त अज्ञान के अभाव से, जो (संयोगाभावः) बुद्धि पुरुष के संयोग का अभाव, वह (हानम्) हान कहा जाता है, (तद्) यह हान ही (दृशेः) ज्ञानस्वरूप-पुरुष का (कैवल्यम्) केवलतारूप मोक्ष है।

अर्थात्-अज्ञानके अभावद्वारा जो बुद्धि पुरुषसंयोगाभावरूप आत्यन्तिक बन्धन का (२) अभाव वह हान है, औ यही पुरुष का कैवल्य अर्थात्-अमिश्रीभाव रूप फिर गुणों से पुरुष का संयोगाभाव है।

---

(१) कोई यह कहते हैं कि स्वरूपतः बुद्धि के विद्यमान होने पर केवल शब्दाद्याकार परिणाम की निवृत्ति का नाम मोक्ष है यह आचार्य्यदेशीय का मत है, स्वरूप से ही बुद्धि के विलय का नाम मोक्ष है यह आचार्य्य का मत है।

(२) यद्यपि महाप्रलय में भी संयोगाभाव होता है परन्तु वह सृष्टिकाल में फिर उद्भूत होने से अपुरुषार्थ है, इस के बोधनार्थ कहा है (आत्यन्तिकबन्धाभाव) इति, निवृत्त होने से अनन्तर कदापि फिर उज्जीवन न होने का नाम आत्यन्तिक है।

जिस काल में दुःखकारण संयोग की निवृत्ति से दुःख का उपरम (अभाव) हो जाता है उस काल में यह पुरुष केवल हुआ स्वरूपप्रतिष्ठित कहा जाता है ॥ २५ ॥

इदानीं (हानकारण अविद्याऽभाव का लाभोपाय कौन है) इस आकांक्षा का वारण करते हुये चतुर्थ व्यूह का निरूपण करते हैं—

सू० विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

भाषा—(अविप्लवा) मिथ्याज्ञानरूप उपद्रव से शून्य, जो (विवेकख्यातिः) प्रकृति से भिन्नरूपता कर पुरुष का साक्षात्कार, वह (हानोपायः) हानकारण अविद्यानिवृत्ति का उपाय है।

अर्थात्—जो विवेकख्याति मिथ्याज्ञान से संवलित होती है वह विप्लव वाली होती है, औ जब मिथ्याज्ञान दग्धबीजभाव हुआ वन्ध्यप्रसव † हो जाता है तब रजतम-क्लेश से रहित परवैशारद्य (१) पूर्वक परवशीकारसंज्ञा में वर्तमान हुये चित्त का विवेकज्ञानप्रवाह अविप्लव निर्मल हो जाता है, यह जो निर्मल विवेकज्ञानप्रवाह रूप अविप्लवा (२) विवेकख्याति वह हान का उपाय है।

इस विवेकख्याति से ही मिथ्याज्ञान दग्धबीजभाव हुआ अप्रसव हो जाता है, अतः यह विवेकख्याति मोक्षमार्ग हान का

(†) जो अपने कार्य्य को उत्पन्न न करे वह वन्ध्यप्रसव है।

(१) वैशारद्य औ परवशीकार पूर्व ११३, १०१ इस पृष्ट में देखो।

(२) यद्यपि आगम तथा अनुमान से भी विवेकज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु वह मिथ्याज्ञान जनित व्युत्थान औ तत्संस्कारों का बाधक नहीं होता है क्योंकि आगम अनुमानजन्यज्ञानशील के चित्त में भी मिथ्याज्ञानमूलक व्युत्थानजन्य संस्कार विद्यमान ही रहते हैं, अतः वह ज्ञान विप्लवसहित है, औ आगम अनुमानजन्यज्ञान की निरन्तर-दीर्घकाल सत्कारपूर्वक भावना से जो प्रकर्षपर्य्यन्त समाधि में होने वाली साक्षात्कार वती ऋतम्भराप्रज्ञा वह मिथ्याज्ञान शून्य होने से अविप्लवा है, यह तत्त्व है।

उपाय (१) है यह निष्पन्न हुआ ॥ २ ॥

इदानीं विवेकख्यातिरूप निष्ठा के स्वरूप निरूपणाऽर्थं विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को जिस प्रज्ञा का लाभ होता है उस का कथन करते हैं—

सू० तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

भाषा—(तस्य) उत्पन्नविवेकख्याति योगी को जो (प्रज्ञा) बुद्धि लब्ध होती है वह (सप्तधा) विषयभेद से सात प्रकार की है, वह प्रज्ञा कीदृश है कि—(प्रान्तभूमिः) सर्वाऽपेक्षया उत्कृष्ट अवस्था वाली है।

अर्थात्--रजतम के आधिक्यप्रयुक्त जो अशुद्धिसंज्ञक आवरणरूप मल तिस मल के अपगम (अभाव) से जो राजसतामसप्रयुक्त व्युत्थानप्रत्यय का अभाव तिस से विवेकख्यातिनिष्ठ योगी के चित्त को सप्तप्रकार की प्रज्ञा प्राप्त होती है, यथा—"परिज्ञातं हेयं नाऽस्य पुनः परिज्ञेयमस्ति" अर्थात् निखिल हेयसंज्ञक संसार परिणामदुःखतादि से अनुविद्ध है यह मैंने सम्यक् प्रकार जान लिया अब फिर अन्य कुछ हेयविषयक ज्ञातव्य नहीं, द्वितीय यह कि-"क्षीणाः हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्य मस्ति" अर्थात् हेय के कारणभूत अविद्यादि क्लेश सब मेरे क्षीण हो गये हैं अब फिर इन का कुछ क्षय कर्तव्य नहीं है, तृतीय यह कि-"साक्षात्कृतो निरोधसमाधिना हानम्" अर्थात्—असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा मैंने हानसञ्ज्ञक कैवल्य भी साक्षात् (प्रत्यक्ष) कर लिया है अब कुछ इस विषयक अन्य निश्चय कर्तव्य नहीं है, चतुर्थ यह कि-"भावितो विवेकख्यातिरूपःहानोपायः" हान का उपायभूत

(१) यद्यपि पूर्वसूत्र में अविद्या के अभाव से हान का लाभ कथन से अविद्या की निवृत्ति ही हानलाभ का उपाय है तथापि हानहेतुभूत अविद्या की निवृत्ति का उपाय होने से विवेकख्याति को हान का उपाय कहा गया है, अर्थात् अविद्या की निवृत्तिद्वारा विवेकख्याति हान का उपाय है कुछ साक्षात् नहीं।

विवेकख्याति भी मैंने निष्पादन कर लियी है, अब कुछ अन्य निष्पादन करणीय नहीं है।

यह चार प्रकार वाली प्रज्ञा की विमुक्ति कार्य्या है, (१) इन चारों प्रज्ञा के लाभ से जो स्वतः ही अन्य तीन प्रज्ञा लब्ध हो जाती हैं वह चित्तविमुक्ति है (२), तहां एक तो-भोगाऽपवर्ग रूप पुरुषार्थ के निष्पादन से मेरी बुद्धि समाप्तअधिकारवाली हो गयी है, औ द्वितीय-जैसे गिरि के शिखर से च्युत=अधः पतित हुये पाषाण विदीर्ण हो जाते हैं तैसे यह तीनों गुण भी चित्तरूप आश्रय के अभाव से निराधार औ स्वकारण प्रकृति में लयाऽभिमुख हुये चित्त के सहित अस्त हो गये हैं, लयभाव को प्राप्त हुये इन गुणों की फिर प्रयोजन के अभाव से उत्पत्ति नहीं होगी, औ तृतीय—इस अवस्था में गुणसंवन्ध से रहित औ स्वरूपमात्र ज्योतिस्वरूप अमल हुया पुरुष केवल तथा जीवन्मुक्त कहा जाता है।

इस सात प्रकार की प्रज्ञा को जानने वाला औ इस का आश्रयभूत जो योगी वह कुशल कहा जाता है, एवं प्रधान में चित्त के लय होने पर भी पुरुष कुशल औ मुक्त कहा जाता है (३) क्योंकि यह दोनों गुणातीत हैं॥ २७॥

सो यह पूर्वोक्त विवेकख्याति प्राप्त हुयी ही हान का उपाय

(१) विमुक्ति नाम चित्त के अधिकार की समाप्ति का है, अर्थात्—यह चार प्रकार की प्रज्ञासंवन्धी विमुक्ति कार्य्या अर्थात्-प्रयत्नसाध्य है। कहीं (कार्य्यविमुक्ति) यह पाठ है, प्रज्ञा की निखिलकार्य्यों के कर्तव्य से समाप्ति, यह इस पाठ में अर्थ है।

(२) अर्थात्—एक वार ही चित्त के अधिकार की समाप्ति।

(३) अर्थात् जैसे असम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा चित्त के लय प्रयुक्त गुणातीत होने से पुरुष मुक्त कहा जाता है तैसे इस प्रज्ञावाला भी मुक्त ही है, परन्तु चित्तलय वाला विदेहमुक्त औ इस प्रज्ञावाला जीवन्मुक्त है, यह विशेष है।

हो सकती है ऐसे ही नहीं, औ विवेकख्याति की प्राप्ति साधनों के अनुष्ठान से विना होनी असम्भव है, अतः जिन साधनों के अनुष्ठान से विवेकख्याति सिद्ध हो जाय उन साधनों के प्रतिपादन करने के लिये विवेकख्याति के लाभ का उपाय कहते हैं–

सू० योगाऽङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

भाषा—(योगाऽङ्गाऽनुष्ठानाद्) वक्ष्यमाण योग के यमादि आठ अंगों के अनुष्ठान से (अशुद्धिक्षये) रजतमप्रयुक्त पञ्चप्रकार विपर्य्ययज्ञानरूप अशुद्धि के क्षय होने पर (आविवेकख्यातेः) विवेकख्याति पर्य्यन्त (ज्ञानदीप्तिः) सम्यक्ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थात्—जैसे२ योग के अंगों का पुरुष अनुष्ठान करता है तैसे२ अशुद्धि तनुभाव=क्षय को प्राप्त होती जाती है, औ जैसे जैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है तैसे २ क्रमअनुरोध से ज्ञान की दीप्ति वृद्धि को प्राप्त होती जाती है, सो यह ज्ञानदीप्ति वृद्धिप्रकर्षता को अनुभव करती हुयी प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान पर्य्यन्त उन्नति को प्राप्त हो जाती है।

यहां पर जैसे कुठार छेद्यकाष्टादि के वियोग का कारण है एवं योगाऽङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है, औ जैसे धर्माऽनुष्ठान सुख की प्राप्ति का कारण है तैसे योगांगोंका अनुष्ठान विवेकख्याति का प्राप्ति कारण है, कुछ अन्य प्रकार से कारण नहीं यह जानना।

भाव यह है कि-—कारण नव प्रकार का होता है–(१)

(१) यहां पर भाष्यकारों ने "कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति" इस वाक्य से शास्त्र में कितने कारण माने हैं यह प्रश्नकर 'नवैवेत्याह' इस वचन से नव ही कारण हैं इस प्रकार सामान्य से कह कर फिर "उत्पत्ति-स्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्य-

एक उत्पत्तिकारण, जैसा कि मन विज्ञान का है (१)। औ एक स्थितिकारण, जैसा कि पुरुषार्थता मन की स्थिति का (२) औ अन्नजल का आहार शरीर की स्थिति का कारण है। औ एक अभिव्यक्तिकारण, जैसा कि आलोक (प्रकाश) रूप की अभिव्यक्ति का, औ वुद्धिवृत्तिरूप रूपज्ञान पौरुषेयवोधका कारण(३)है। औ एकविकारकारण, जैसा कि स्त्री आदि विषय मनके विकार का(४)औ अग्नि पाक्यतण्डुलादि† का कारण है। औ एक प्रत्ययकारण * जैसा कि

यांऽऽस्रयः, वियोगाऽन्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्" इस कारिका से नवों का परिगणन कर (तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य " इत्यादि भाष्यसे इन नवों का स्वरूपनिर्देश किया है, सोई कहते हैं (एक उत्पत्तिकारण) इत्यादि से।

(१) सत्कार्य्यवाद में वर्तमानाऽवस्थापादन करना ही उत्पत्तिशब्द का अर्थ है, औ मन ही ज्ञान की अतीताऽवस्था को नाश कर वर्तमानाऽवस्था वाला करता है, अतः मन ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। यहां पर सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुष जानना।

(२) तावत्काल ही मन स्थित रहता है कि यावत्काल भोगाऽपवर्गरूप पुरुषार्थ सम्पादित नहीं करता औ जब यह पुरुषार्थ समाप्त हुआ तब लय हो जाता है, एवं च पुरुषार्थ ताही मन की स्थिति का कारण है। यहां पर सर्वत्र स्पष्टाऽर्थ अन्वयानुसरण नहीं किया।

(३) प्रत्यक्षज्ञान का निमित्तभूत जो विषयनिष्ठ प्राकट्यविशेष वह अभिव्यक्ति है, तहां सूर्य्यादि का प्रकाश बुद्धिवृत्तिरूप रूपज्ञान का अभिव्यञ्जक है औ बुद्धि वृत्तिरूप रूपज्ञान पौरुषेयबोध का अभिव्यञ्जक है, अतः यह अभिव्यक्ति के कारण हैं, अर्थात्--सूर्य्यादि के प्रकाश से कुछ घट की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु विद्यमान घट की अभिव्यक्ति होती है।

(४) विषयान्तर की आसक्ति मन के विकार का कारण है, जैसा कि समाधिनिष्ठ-मृकण्डु मुनि का चित्त उम्लोचा नामक अप्सरा कर वादित वीणा से निःसृत सप्तस्वराऽन्तर्गत कोकिलरव तुल्य पंचमस्वर श्रवण से अनन्तर व्युत्थित हो उस स्त्री में आसक्त हो विकारी हो गया था।

(†) कठिन अवयव वाले तण्डुलादि का शिथिलअवयववत्त्व रूप जो विकार तिस का कारण अग्नि है।

(*) प्रत्ययकारण = ज्ञान का कारण।

प्ति साधनों
धूम ज्ञान अग्नि के ज्ञान का। औ एक प्राप्तिकार साधनों के
योगाऽङ्गोंका अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्तिका, (१, के प्रति
गकारण जैसा कि योगांऽगाऽनुष्ठान अशुद्धि का। औ एक हैं-
त्वका रण–जैसा कि सुवर्णकार कुण्डलादिनिर्माण द्वारा सुवर्ण (२
के अन्यत्वका कारण है। एवं (३)एक ही स्त्रीज्ञाननिष्ठ मूढत्वरूप अन्यत्व का अविद्या कारण, औ तन्निष्ठ दुःखत्वरूप अन्यत्व का द्वेष कारण, औ तन्निष्ठ सुखत्वरूप अन्यत्व का राग कारण, औ तन्निष्ठ माध्यस्थरूप अन्यत्वका तत्त्वज्ञान कारण जान लेना।

अर्थात्—कामुक पुरुष को जो अन्य अप्राप्य स्त्री विषयक ज्ञान वह कमनीया स्त्री इस प्रकार की पूर्वोक्त अविद्या से मोह (विषाद) से युक्त होता है, (४) एवंच इस ज्ञाननिष्ठ जो मोहयुक्तत्व वह अविद्याप्रयुक्त होने से अविद्याही इस ज्ञान के मूढ़त्वरूप अन्यत्व का कारण है, एवं सपत्नी को जो उस स्त्री में द्वेष वह उस स्त्री

---

(१) वस्तुनिष्ठ स्वाभाविक सामर्थ्य का नाम प्राप्ति है औ उस स्वाभाविकसामर्थ्य का किसी प्रतिबन्धक वश से अभाव हो जाना अप्राप्ति है, जैसा कि निम्नस्थलवहनशीलता जल का स्वाभाविक सामर्थ्य प्राप्ति औ सेतुद्वारा तिस का निरोध अप्राप्ति है, एवंच बुद्धि की स्वाभाविकप्रकाशतारूप जो विवेकख्याति वह प्राप्ति, औ अधर्म वात मोगुणरूप प्रतिबन्धक से जो उस का अभाव वह अप्राप्ति हुयी, अर्थात् जब योगाङ्गानुष्ठान से अधर्म औ तमरूप प्रतिबन्धक का अपगम हो जाता है तब फिर विवेकख्याति आप ही आप प्राप्त हो जाती है, इस प्रकार योगाऽङ्गो का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है कुछ उत्पत्ति का नहीं।

(२) यद्यपि सत्कार्य्यवाद में कुण्डल सुवर्ण से अन्य नहीं तथापि कार्य्य को भिन्नाऽभिन्नस्वरूप होने से भेदविवक्षा से कुण्डल को सुवर्ण से अन्य कहा गया है।

(३) बाह्य अन्यत्वकारण का उदाहरण प्रदर्शन कर आध्यात्मिक अन्यत्वकारण का उदाहरण कहते हैं (एवं) इत्यादि से।

(४) पुण्यशील इस पुरुष को ही यह स्त्रीरत्न लब्ध हुआ, मुझ मन्दभाग्य को नहीं, इस प्रकार विषादयुक्त होजाता है।

ज्ञान के दुःखत्वरूप अन्यत्व में कारण है, एवं उस के पति को जो उस स्त्री में राग वह उस स्त्रीज्ञान के सुखत्वरूप अन्यत्व में कारण है, एवं विवेकीपुरुष को जो उस स्त्रीविषयक मलमूत्र पूरितत्त्वरूप तत्त्वज्ञान वह उस स्त्रीज्ञान के हेयत्वरूप अन्यत्व में कारण है (१)।

औ एक धृतिकारण—जैसा कि इन्द्रिय (२) शरीर के धारण का कारण हैं, औ शरीर इन्द्रियों के धारण का कारण हैं, औ पंचमहाभूत शरीर के धारण का कारण हैं, एवं पंचमहाभूतों का भी परस्पर विधार्य्यविधारकभाव जान लेना, एवं तिर्य्यग् तथा मनुष्य औ देव शरीरों का भी परस्पर विधार्य्यविधारक भाव जान लेना।

यह नव प्रकार के कारण हैं, इन नव कारणों में से जहां जिस का संभव होय वहां समन्वय कर अन्यपदार्थों में भी उहाऽपोह द्वारा कारणत्व का निश्चय कर लेना, प्रसंग में योगअङ्गों का

(१) एक ही स्त्री को देखकर अज्ञानी पुरुष प्राप्तिके अभाव से मोहित हो जाता है, औ सपत्नी द्वेष से दुःखित हो जाती है औ भर्ता राग से सुखी हो जाता है औ विवेकी मलमूत्रपूरित जानकर ग्लानियुक्त हो जाता है, इस प्रकार एक ही स्त्रीविषयक ज्ञान के मूढत्वादिरूप अन्यत्व में अविद्यादि को कारण होने से यह सब अविद्यादि अन्यत्वकारण हैं यह तत्त्व है।

(२) इन्द्रिय नाम प्राण का है, प्राणों से बिना शरीर नहीं रहता है औ शरीर से बिना प्राण भी निराधार नहीं रह सकते, अतः यह दोनों परस्पर के धारन करने वाले हैं, इस प्रकार शरीर के प्रत्येक अङ्गों का भी परस्पर विधार्य्यविधारकभाव जानलेना, एवं पंच महाभूतों को शरीर का कारण औ आधार होने से पंच महाभूत भी शरीर के धृतिकारण हैं, एवं आकाशादि भूतों में से पूर्व पूर्व को उत्तर उत्तर में अनुगत होने से पृथिवी में पंचभूतोंको, औ जल में चार भूतों को औ अग्नि में तीन भूतों को औ वायु में दो भूतों को अनुगत होनेसे इन का भी परस्पर विधार्य्यविधारक भाव जानलेना, एवं मनुष्य शरीर पशु पक्षि आदि का उपयोगी है औ पशुपक्षिआदि मनुष्य शरीर के उपयोगी हैं, औ मनुष्य कर्तृक यज्ञबलिदान देवताओं का उपयोगी है औ वृष्ट्यादि द्वारा देव शरीर मनुष्यों का उपयोगी है, इस प्रकार यह सब ही परस्पर के धृति कारण हैं यह भाव है।

अनुष्ठान तो दो ही प्रकार से कारण भाव को प्राप्त है, अर्थात् विवेकख्याति की अपेक्षा से प्राप्तिकारण है, और अशुद्धिकी अपेक्षा से वियोगकारण है ॥ २८ ॥

इदानीं न्यून अधिक संख्या के वारणार्थ योग के अंगों का अवधारण करते हैं।

सू०यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

भाषा–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह (अष्टौ) आठ,(अंगानि) योग के अंग हैं, (१) अर्थात्–विवेकख्याति की इच्छा वाला यथाक्रम इन का अनुष्ठान करे॥ २८ ॥

इदानीं यथाक्रम इन के स्वरूप निर्देशार्थ प्रथम यमों का स्वरूप कहते हैं।

सूत्र–अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ३०

भाषा–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह, यह पंच यम हैं।

अहिंसा–मन-वाणी-काय से अनिष्टचिन्तन-परुषभाषण-पीड़ा द्वारा प्राणियों का द्रोहकरणा (सताना) हिंसा है, सर्व प्रकार से (२) सर्व काल में किसी का द्रोह न करना अहिंसा है।

(१) यद्यपि पूर्वपादोक्त अभ्यास-वैराग्य-श्रद्धा-वीर्य्य भी योग के अङ्ग हैं अतः आठ ही हैं यह नियम होना असम्भव है, तथाऽपि इन आठों में हीं सब का अन्तर्भाव जानकर दोषाभाव जानना, तहां अभ्यास का समाधि में, औ वैराग्य का सन्तोष में, औ वीर्य्य का धारणा में अन्तर्भाव जान लेना, श्रद्धा से विना यमादि में प्रवृत्ति होनी असम्भव है अतः श्रद्धा का अर्थतः लाभ हुआ।

(२) सर्व प्रकार कथन से श्रौतपश्वालम्भन (वैदिकीहिंसा) का भी परित्याग जानना, शौचादिक्रिया में क्षुद्रजन्तुओं की हिंसा को दुर्निवार्य्य होने से तिस हिंसाजनित पाप की निवृत्ति के लिये अधिक प्राणायाम का अभ्यास करे, यह भी जानो।

इन सब अंगों में से अहिंसा ही सब का मूल है क्योंकि उत्तर (आगे के) जो यम नियमादि हैं वह सब अहिंसा की ही सिद्धि के लिये प्रतिपादन किये हैं, अर्थात्-इस अहिंसा के ही निर्मल औ पुष्ट करने के लिये अन्य अंगों का उपादान है (१)।

ऐसे ही पञ्चशिखाचार्य्य जी ने कहा है-यथा-"स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवाऽवदातरूपामहिंसां करोति" इति।

सो यह मोक्षेच्छु ब्राह्मण जैसे जैसे यमनियमादि व्रतों का सम्पादन करता है तैसे तैसे प्रमाद कृत हिंसाकारण मिथ्याभाषणादि से निवृत्त हुया हिंसा को ही अवदात (निर्मलरूप) करता है, यह इस का संक्षिप्त अर्थ है।

सत्यम्=वाणी तथा मन का यथार्थत्व, अर्थात् यथादृष्ट यथाऽनुमित-यथाश्रुत तथा ही (२) मानसज्ञान के समान अन्य के प्रति वाणी द्वारा कथन करना सत्य है।

भाव यह है कि-अन्य पुरुष के चित्त में स्वचित्तनिष्ठ ज्ञानसदृश ज्ञान के उत्पादनार्थ जो वाणी उच्चरित किथी जाय वह यदि अवञ्चिका (वञ्चन शील)(३)न होय औ निरर्थक न होय तो वह वाणी

---

(१) मिथ्यासंभाषण-चोरी-स्त्रीभोग आदि से भी किसी न किसी का द्रोह अवश्य ही होता है, अतः इन तीनों के अभावस्वरूप जो सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य्यादि यम यह हिंसा के ही निवर्तक हुये, एवं च अहिंसा की ही पुष्टि के लिये यमनियमादि का उपादान है यह फलित हुया, एवं अन्यत्र भी जान लेना।

(२) जैसा इन्द्रियादि से देखा औ जैसा ऊहाऽपोह से जाना औ जैसा किसी से सुना वैसे कथन का नाम सत्य है।

(३) यादृश अपने चित्त में इन्द्रियादि जन्य ज्ञान है तादृश ज्ञान की ही दूसरे के चित्त में उत्पत्ति करने के लिये मानसज्ञानाऽनुसारी जो वाणी उच्चरित होगी वह अव-

सत्य जाननी, एतादृश वाणी भी(१) यदि सर्वभूतोपकारार्थ उच्चरित हुयी किसी भूत का अपकार नहीं करेगी तबी सत्य होगी (२) औ यदि वह उच्चरित हुयी वाणी किसी प्राणी का अपकारक होगी तो असत्य मानी जायगी क्योंकि जिस उच्चरित हुयी वाणी से किसी प्राणी का अनिष्ट होय वह वाणी पापजनक होने से मिथ्या के तुल्य है, अर्थात् जो प्राणियों के अपकार करनेवाली सत्य वाणी है वह पुण्याभास है, अतः तिस पुण्याभास से जैसे अपकृतपुरुष को कष्टप्राप्त होता है तैसे उच्चारण करनेवाला भी अवश्य कष्ट को प्राप्त होगा, अतः विचार कर एतादृश ही सत्यसंभाषण करे कि जो सर्वभूतों को हित होय, अतएव मनुभगवान् ने "सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" इस वाक्य से अनिष्टकर सत्यसम्भाषण का निषेध किया है।

इसी अभिप्राय से ही धर्मशास्त्रकारों ने "प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च" इत्यादि वचनों से अपने वा अन्य के प्राणरक्षणार्थ मिथ्याभाषण में पापजनकत्त्व का अभाव कहा है।

अस्तेय = शास्त्रोक्तविधि से बिना अन्य से द्रव्य का ग्रहण

ञ्चिका होती है, एवंच द्रोणाचार्य्य के प्रति जो युधिष्ठिर ने यह कहा था कि अस्वत्थामा मर गये, वह वाणी वञ्चिका होने से मिथ्या जाननी क्योंकि जैसा इन्द्रिय जन्य अश्वत्थामानामक हस्ती हननविषयकबोध युधिष्ठिर के चित्त में वर्तमान था तैसा द्रोणाचार्य्य के चित्त में नहीं उदय हुआ किन्तु अपने पुत्र वध का ही बोध उसे हुआ।

(१) इदानीं (एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय) इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हुये जो सत्य दूसरे का अनिष्ट करता है वह मिथ्या के तुल्य अनिष्टकर होने से हेय जानना यह कहते हैं - (एतादृश) इत्यादि से।

(२) जैसे किसी मार्ग में धनिक पुरुष चले जाते थे औ तस्कर उन का अन्वेषण करते थे तब उनों ने किसी सत्यवक्ता से पूछा कि वह धनिक इस तरफ गये हैं वा इस तरफ तब वह अपने को सत्यसंभाषणशील जानकर बोला कि इस तरफ गये हैं, यह सत्य संभाषण एक का उपकारक औ अन्य का अपकारक होने से मिथ्या है यह तत्त्व है।

करना स्तेय है, उस के अभाव का नाम अस्तेय है, अर्थात्-शास्त्र में जो "पादुके चापि गृह्णीयात् कन्थां शीतनिवारिणीम् इत्यादि वाक्यों से पादुका तथा कन्था (गुदडी) कौपीन (१) प्रभृति अत्युपयुक्त पदार्थोंका भिक्षु को ग्रहण लिखा है उस से विना अन्य पदार्थों के ग्रहण न करने का नाम अस्तेय है, इतना विशेष यहां पर यह भी जान लेना कि ग्रहण का जो प्रतिषेध किया है सो ऐसा नहीं है कि अपने हाथ से द्रव्य का ग्रहण न करना किन्तु चित्त में एक वार स्पृहा का अभाव रहना ही अस्तेय है, अतएव भाष्यकारों ने "अस्पृहारूपमस्तेयम्" इस वाक्य से इच्छा के अभाव को अस्तेय कहा है।

ब्रह्मचर्य्य = अन्य सब इन्द्रियों के निरोधपूर्वक उपस्थइन्द्रिय" के संयम का नाम ब्रह्मचर्य्य है।

अर्थात्—"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं, संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च, एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः, विपरीतं ब्रह्मचर्य्यमेतदेवाष्टलक्षणम्" (२) इस दक्षमुनि के वचनानुसार आठ प्रकार के मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य्य है।

---

(१) कूप में पतन के योग्य होने से कौपीन नाम पाप का है, उस पाप का साधन होने से शिश्न इन्द्रिय भी कौपीन कहा जाता है, औ उस इन्द्रिय का आच्छादक जो लिङ्गोटसंज्ञक वस्त्र वह भी उपचार से कौपीन जानना।

(२) स्त्री का स्मरण, कीर्तन, तथा स्त्री से हास्यादि क्रीडा, तथा स्त्री की तरफ़ दृष्टिपात करना, तथा एकान्त में स्त्री से वार्ता करनी, तथा स्त्रीभोग का सङ्कल्प, तथा स्त्रीभोग के लिये निश्चयपूर्वक एक स्थिर सलाह, तथा क्रियानिर्वृत्ति अर्थात् अनर्थमूलक पशुधर्मनामक परस्पर चर्मसंघर्ष, यह आठ प्रकार का मैथुन है, इन से विपरीत जो इन का त्याग वह आठ प्रकार का ब्रह्मचर्य्य है।

अपरिग्रह=विषयभोग में अर्जन, (१) रक्षण, क्षय, संग, हिंसा-रूप दोष को जान कर अपने आप से प्राप्त विषयों का भी स्वीकार न करना अपरिग्रह है।

यद्यपि अस्तेयकथन से ही विषयों का अस्वीकार प्राप्त है अतः अपरिग्रह का भिन्न कथन निरर्थक है, तथापि अस्तेय से शास्त्रोक्त विधि से स्वीकार का दोषाभाव कथन किया है, औ यहां पर शास्त्रीयविधि से प्राप्त हुये पदार्थ में भी दोष जान कर त्याग करना उपदेश किया है इतना भेद जान लेना, यद्वा अस्तेय से चोरी का अभाव औ दान का ग्रहण करना, औ अपरिग्रहपद से उपयुक्त कौपीनादि प्रभृति अन्यपदार्थों के ग्रहण का भी यथा सम्भव अभाव ग्रहण करणा।

यह पांचो ही हिंसा, मिथ्या, स्तेय, मैथुन, परिग्रह का अभावरूप होने से यम हैं क्योंकि यम नाम उपरम (अभाव) का है ॥३०॥

इस प्रकार सामान्य से यमों का निरूपण कर इदानीं या दृश यम योगी कर ग्रहण करने योग्य हैं तादृश यमों का निर्देश करते हैं—

ते तु—

सू०—जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

भाषा—(ते तु) यह पूर्वोक्त पंच यम (जाति-देश-काल-सम-

---

(१) अर्जन नाम संपादन का है, विषयभोग के संपादनादि में दुःख तो स्पष्ट ही है, औ सङ्गदोष यही है कि आसक्ति से राग की वृद्धि होती है, औ बिना भूतहिंसा से भोग भी नहीं होता है यह हिंसा दोष है, यह इस पाद के १५ सूत्र में स्पष्ट है। प्रतिग्रह से भी पुण्य का क्षय होता है अतः उस का भी जहां तक हो त्याग करे यह तत्त्व है।

याऽनवच्छिन्ना:) जाति-देश-काल-समय रूप अवच्छेद (विभाग) से रहित होने से (सार्वभौमा:) सर्व अवस्था में व्यभिचार से रहित हुये (महाव्रतम्) महाव्रतनाम से व्यवहृत होते हैं।

अर्थात्-एक अहिंसा जातिअवच्छिन्न होती है जैसा कि मत्स्य की ही मैं हिंसा करूंगा अन्य की नहीं इस प्रकार मत्स्यवन्धक (१) की मत्स्यविषयक, इस जातिअवच्छिन्न अहिंसा में ही यदि इतना विशेष अन्य संमेलन कियाजाय कि-अन्य देश में ही हिंसा करूंगा तीर्थ में नहीं तब यही देशाऽवच्छिन्न हो जाती है, औ इसी उभयावच्छिन्नां अहिंसा में यदि इतना विशेष अन्य मेलन कियाजाय कि-चतुर्दशी-संक्रांति प्रभृति पुण्यकाल में मैं हिंसा नहीं करूंगा, तब यही कालाऽवच्छिन्न हो जाती है, * इस तीनप्रकार की हिंसा से रहित पुरुष कर्तृक जो देवता वा ब्राह्मणों के अर्थ ही मैं हिंसा करूंगा ऐसे नहीं इस प्रकार संकेत कृत अहिंसा यह समयावच्छिन्न है, एवं क्षत्रिय होने से मैं युद्ध में ही हिंसा करूंगा अन्यत्र नहीं यह भी समयाऽवच्छिन्न जाननी।

इस प्रकार जाति-देश-काल-समय रूप विभाग को त्याग कर जो सर्वथा हो सर्वजाति-सर्वकाल-सर्वदेश सर्वप्रयोजन रूप विशेष परित्यागपूर्वक अहिंसा का परिपालन वह जातिदेशकालसमयाऽवच्छिन्न अहिंसा है।

एवं प्राण-त्राण आदि से अन्यत्र मैं मिथ्या संभाषण नहीं करूंगा इस प्रकार सत्य को समयावच्छिन्न जानना, एवं दुर्भिक्ष से बिना चोरी नहीं करूंगा, इस प्रकार अस्तेय को समयावच्छिन्न जानना, एवं ऋतुकाल से अन्य काल में स्त्रीगमन नहीं करूंगा इस प्रकार ब्रह्मचर्य्य को समयावच्छिन्न जानना, एवं वृद्धमाता पिता के परिपालन के लिये ही मैं प्रतिग्रह ग्रहण करूंगा ऐसे

(१) मत्स्यबन्धक नाम मत्स्य पकड़ने वाले का है।

* इस प्रकार प्रत्येक २ भी जान लेना।

नहीं इस प्रकार अपरिग्रह को समयाऽवच्छिन्न जानना।

इस सर्व जाति आदि विभाग को त्यागकर जो सर्वथा ही हिंसा-मिथ्या-चौर्य्य-स्त्रीगमन-प्रतिग्रह का त्याग वह जाति-देश-काल समय से अनवच्छिन्न अहिंसादि हैं।

इस प्रकार अनवच्छिन्न होने से जो सार्वभौम अर्थात् सर्व जाति-देश-काल-समय-आदि अवस्था से अव्यभिचरित अहिंसादि, तिन के अनुष्ठान का नाम महाव्रत है।

एवं च विवेकज्ञान की इच्छा वाला योगी महाव्रतका अनुष्ठान करे कुछ जात्यादिअवच्छिन्न अहिंसादि का नहीं यह फलित हुआ॥ ३१॥

इदानीं क्रमप्राप्त नियमों का स्वरूप कहते हैं-

सू० शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३२॥

भाषा-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, यह पांच नियम हैं।

शौच=मृतिका-जल-गोमय आदि से शरीर का प्रक्षालन, औ हित-मित-मेध्य-भोजन से उदर का प्रक्षालन, † औ मैत्री आदि भावना से चित्तमलों का प्रक्षालन करना शौच है,।

सन्तोष = विद्यमान भोगसाधन वस्तुजात से अधिक अन्य अनुपयुक्त वस्तुविषयक इच्छात्मक चित्त की वृत्ति का अभाव।

तप = द्वन्द्वका सहना, अर्थात् क्षुधापिपासा, शीतउष्ण, स्थानआसन * इत्यादि द्वन्द्वों को सह्य करना, एवं काष्ठ

† हितमितमेध्यभोजन का विवरण पूर्व १२२ इस पृष्ट के टिप्पण में, औ मैत्री आदि भावना का निरूपण ८८ इस पृष्ठ में देखो।

* स्थान खडे ही रहना, औ आसन बैठेही रहना।

मौन, आकारमौन (१), औ यथा योग कृच्छ्र-चान्द्रायण-सान्तपनादि व्रतों का (२) अनुष्ठान करना तप शब्द का अर्थ है।

स्वाध्याय = मोक्षप्रतिपादक अध्यात्मशास्त्र औ वेद का अध्ययन तथा प्रणव का जप करना।

ईश्वरप्रणिधान = परमगुरु परमेश्वर में सर्व क्रिया का अर्पण करना, इस प्रणिधान से जो फल प्राप्त होता है वह वेदव्यास जी ने "शय्याऽऽसनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः, संसारबीजक्षयमीक्षमाणः, स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी" (३) इस श्लोक से कहा है, एवं सूत्रकार ने भी

(१) इङ्गित=हस्तादिचेष्टा इसारा द्वारा भी अपने अभिप्राय का प्रकाश न करना काष्ठमौन, केवल वाणी मात्र के निरोध का नाम आकारमौन है।

(२) तीन दिन प्रातःकाल ही कुक्कुटअण्ड सदृश षड्विंशति २६ ग्रास, औ फिर तीन दिन सायंकाल ही तादृश बत्तीस ३२ ग्रास, फिर तीन दिन बिना याचना से प्राप्त हुये ही तादृश २४ ग्रास का आहार करना, फिर तीन दिन उपवास करना, इस का नाम कृच्छ्र है। शुक्लपक्ष की प्रतिपद् से ले कर जैसे २ चन्द्रमा की कला वृद्धि को प्राप्त होती जाय तैसे २ मयूरअण्ड परिमित एक एक ग्रास को बढ़ा कर पौर्णमासी तक पन्द्रह ग्रास का भक्षण कर फिर कृष्णपक्ष की प्रतिपद को १४ फिर द्वितीया को १३ इस प्रकार घटाते घटाते अमावस्या को उपवास करे, यह चान्द्रायण है। प्रथम दिन आद्यन्तर के परित्यागपूर्वक आठमाषा ताम्रवर्णा गाय का मूत्र औ १६ माषा श्वेतवर्णा गाय का गोबर, औ १२ माषा कांचनवर्णा गाय का दुग्ध, औ दशमाषा नीलवर्णा गाय का घृत औ इन सब से अर्द्ध परिमाणवाला कुश तथा जल मिला कर पान करे औ द्वितीय दिन उपवास करे यह सान्तपन है, यह सब मनुसंहिताके ११ अध्याय में ११२ इत्यादि श्लोकों में औ याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय के ३१९ इत्यादि श्लोकों की मिताक्षरा में स्पष्ट है।

(३) जो योगी शय्या तथा आसन पर स्थित हुआ वा मार्ग में चलता हुआ वा एकान्त में स्थित हुआ हिंसादि वितर्कों से रहित हुआ ईश्वरप्रणिधान करता है, वह दिनों दिन संसारबीज रागादि के क्षय का अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्ति के सुख के भोगने से नित्यमुक्त है, यह भाव है।

"ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च" (१) इस सूत्र से इस प्रणिधान का आत्म साक्षात्काररूप फल कहा है, एवं च ईश्वरप्रणिधान अवश्य करणीय है यह फलित हुआ ॥ ३२ ॥

इदानीं श्रेष्ठकार्यों में विघ्न की संभावना होने से यदि अहिंसादि यम किसी विघ्न से प्रतिहत होने लगें तो प्रतिपक्षभावनाद्वारा उन की निवृत्ति करे, यह कहते हैं-

एतेषां यमनियमानां-

सू० वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

भाषा-(एतेषां यमनियमानाम्) इन पूर्वोक्त यमनियमों का (वितर्कबाधने) अहिंसादि के विरोधी तर्करूप (२) हिंसा मिथ्याभाषणादि से बाध प्राप्त होने पर (प्रतिपक्षभावनम्) हिंसादि में दोषदृष्टिरूप हिंसादिविरोधी विचार का सेवन करे।

अर्थात्—जब इस ब्रह्मज्ञानेच्छु योगी के चित्त में अहिंसादि के विरोधीभूत यह व्यवसाय उदय होवैं कि—(मैं अवश्य ही इस वैरी का हनन करूंगा, औ इस के दुःखप्रदानार्थ मिथ्या संभाषण भी करूंगा, औ इस के द्रव्य का अपहरण भी करूंगा, औ इस की स्त्री के संग पशुधर्म भी अवश्य करूंगा, औ इस के धन का स्वामी भी हूंगा,) तब इस अतिवृद्ध उन्मार्गप्रवण (३) वितर्कनामक ज्वर से बाध्यमान हुआ हिंसादि में प्रवृत्त न होवै किन्तु (इस घोर संसाररूपअंगार में निरन्तर दह्यमान पच्यमान हुये मैं ने सर्व भूतों के प्रति अभयदान के अर्थ कथंचित् अहिंसादि रूप योगधर्म के शरण का लाभ किया है सो यदि मैं इस गृहीत अहिंसादि को त्याग कर फिर इन के विरोधीभूत हिंसादि को ग्रहण

(१) पूर्वपाद के ७८ पृष्ठ मे देखो।

(२) अहिंसादि-के विरोधी भूत जो तर्क अर्थात् मैं अवश्य हिंसा करूंगा इत्यादि निश्चय इन का नाम वितर्क है।

(३) कुमार्ग की तरफ प्रवाहवाला।

करूंगा तो मैं भी कुक्कुर के आऽचरण के तुल्य आचरण वाला हो जाऊंगा क्योंकि जैसे कुक्कुर वान्तस्वादी है तैसे त्यक्त के ग्रहण करने से मैं भी वान्तभक्षी हूंगा,) इस प्रकार प्रतिपक्ष-भावना करे।

इसी प्रकार नियमादि में भी वितर्कों की प्रतिपक्षभावना जान लेनी ॥ ३३ ॥

इदानीं वितर्कों के स्वरूप-प्रकार-कारण धर्म-फल भेद का निरूपण करते हुये प्रतिपक्षभावना का स्वरूप कहते हैं—

सू० वितर्का * हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याऽधिमात्रा दुःखाऽज्ञाना-ऽनन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

भाषा--(हिंसादयः) हिंसा मिथ्याभाषण आदि जो (वितर्काः) अहिंसादि के विरोधी हैं, वह (दुःखाऽज्ञानाऽनन्तफलाः) दुःख औ अज्ञान रूप अनन्त फलकेही देनेवाले हैं कुछ सुख तथा ज्ञानरूप फलके नहीं, (इति प्रतिपक्षभावनम्) इस विचार का नाम प्रतिपक्षभावना है, सो यह हिंसादि कियेहुये ही दुःख फल देते हैं सो नहीं किन्तु (कृतकारिताऽनुमोदिताः) कृत = अपने से निष्पादन किये हुये, औ कारित = आज्ञाद्वारा अन्य से निष्पादन कराये हुये औ अनुमोदित=हां साधु साधु इस प्रकार अनुमतिद्वारा अनुमोदन किये हुये भी दुःखफलक हैं, सो यह हिंसादि कहीं मांस चर्मादिके लोभ से जन्य होते हैं औ कहीं मेरा इसने अपकार किया है तो मैं भी इस का अवश्य अपकार करूंगा इस प्रकार क्रोध

(*) हिंसादयः-इस पद से वितर्कों का स्वरूप कथन, कृतकारित-इत्यादि पद से प्रकार कथन, लोभ-इत्यादि से कारणकथन, मृदु इत्यादि से धर्म कथन, दुख-इत्यादि से फल कथन जान लेना।

से उत्पन्न होती हैं, औ कहीं बलिदान देने से कुछ धर्म होगा इस प्रकार मोह (अविद्या) से उत्पन्न होते हैं, सोई कहा है (लोभ-मोहक्रोधपूर्वका) यह लोभादि भी (मृदुमध्याऽधिमात्राः) मृदु मध्य तीव्र भेदसे तीन प्रकार के हैं, एवंच मिलकर एकाशीति ८१ प्रकार के (१) जो हिंसादि वह दुःखफलक होने से हेय हैं इस विचार से हिंसादि से निवृत्त होय यह निष्पन्न हुवा।

भाव यह है कि-हिंसकपुरुष पहिले वध्य पशुके वीर्य्य का(*)नाश करता है, औ फिर शस्त्रादिनिपात द्वारा पशुको दुःखप्रदान करता है औ फिर उसको जीवन से भी विमोचित कर देता है, तहां पशु के वीर्य्य का नाश करने से हनन करनेवाले प्राणी के पुत्र कलत्र धनादिक उपकरण क्षीण हो जाते हैं अर्थात् उसके भोगने योग्य नहीं रहते हैं। औ शस्त्र निपातद्वारा पशुको दुःख देनेसे अपनेभी नरक तिर्य्यक् प्रेतादियोनियों में दुःख का अनुभव करता है, औ पशु का जीवन मोचन करने से दुःसाध्य रोगकर पीड़ित होने से प्राणान्त सन्निहित अवस्था को प्राप्त हुया मरण की चाह वाला होने पर भी दुःखफल को अवश्य भोगनीय होने से किसी प्रकार से ऊर्द्ध्वश्वास द्वारा जीवनधारण करता है, यदि अंगीभूत किसी

(१) पहिले कृतकारितअनुमोदित भेद से तीन प्रकार की, फिर लोभ-मोह-क्रोध जन्य भेद से एक एक तीन२ प्रकार की होने से नव प्रकार की हिंसा हुयी, औ फिर लोभादि को मृदु मध्य अधिमात्र भेद से तीन २ प्रकार के होने से सत्ताईस प्रकार की हुयी, फिर मृदु आदि तीनों को भी मृदुमृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु, इत्यादि भेद से तीन२ प्रकार का होने से ८१ प्रकार की हुयी। वस्तुतः जो मत्स्य की ही मैं हिंसा करूंगा अन्य की नहीं, इस नियम के भेद से, वा एक दिन में एक ही किसी की हिंसा करूंगा दो की नहीं इस विकल्प के भेद से वा सब की हिंसा करूंगा इस प्रकार समुच्चय के भेद से यह हिंसा असंख्यात है, औ प्राणियों को अनन्त होने से भी हिंसा असङ्ख्यात है।

(*) यूप (यज्ञस्तम्भ) बन्धनद्वारा सामर्थ्य का।

पुण्य के अनुष्ठान से हिंसाजन्य पाप कुछ निवृत्त हो जायगा तो उस पुण्य के फलभूत स्वर्ग की प्राप्ति होने पर अल्पायु औ दुःखी होगा, यही हिंसा में दुख फलकत्त्व है।

इस प्रकार मिथ्या संभाषणादि को भी दुःखफलकत्त्व जान लेना।

हिंसादिवितर्कों के इस पूर्वोक्त अनिष्ट फल की भावना करता हुया पुरुष फिर वितर्कों में मन न दे किन्तु प्रतिपक्षभावना से इन का परित्याग ही करे यह परमार्थ है॥ ३४॥

इस प्रकार प्रतिपक्षभावना से जब यह हिंसादि दग्धबीज-तुल्य हो जाते हैं तब योगी को जो यमादि कृत ऐश्वर्य्य प्राप्त हुये यमों की सिद्धि के सूचक होते हैं उन का निरूपण करते हैं—

सू० अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥३५॥

भाषा-(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्) अहिंसा विषयक योगी की प्रकृष्ट स्थिति होने से (तत्सन्निधौ वैरत्यागः) तिस योगी के समीप आने पर विरोधियों का भी परस्पर वैर निवृत्त हो जाता है।

अर्थात्—जो योगी जात्यादिअनच्छिन्न अहिंसा में निष्ठा-वाला होता है उस के समीप स्थित हुये स्वाभाविकविरोधशील अश्व-महिष, मूषक-मार्जार, सर्प-नकुल, भी मित्रभाव को प्राप्त हो (१) जाते हैं॥ ३५॥

सू० सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम्॥३६॥

भाषा--सत्यविषयकप्रतिष्ठा होने से क्रियासंज्ञक धर्माऽधर्म का औ तत्फल स्वर्ग नरकादि का आश्रय पुरुष हो जाता है।

(१) एवंच जब स्वसन्निधि को प्राप्त हुये स्वाभाविक विरोधी प्राणी भी परस्पर वैर का त्याग करें तब योगी यह जाने कि अब मैं अहिंसानिष्ठ हुया हूं, इस प्रकार आगे भी जान लेना।

अर्थात्--सत्यसंभाषणनिष्ठ पुरुष यदि किसी पापी को कहे कि तुम्हारा पाप नष्ट हुआ औ धर्म वृद्ध हुआ तो अवश्य ही वह धार्मिक हो जायगा, एवं (१) तुम स्वर्ग को प्राप्त हो जावोगे ऐसे जिस को कहेगा वह स्वर्ग को भी अवश्य ही प्राप्त हो जाय गा, अर्थात्—सत्यनिष्ठ की वाणी अमोघा हो + जाती है ॥ ३६ ॥

सू० अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

भाषा--अस्तेयविषयकप्रतिष्ठा होने से सर्व रत्नों की उपस्थिति हो जाती है।

अर्थात्—अस्तेयनिष्ठ पुरुष के समीप सर्व दिशा देशान्तर में होने वाले अमूल्य रत्न हीरक मुक्ताफल आदि उत्तमद्रव्य उपस्थित हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

सू० ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायांवीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्य्यविषयक प्रतिष्ठा होने से (वीर्य्य) सामर्थ्यविशेष का लाभ होता है, अर्थात्–जो पूर्णतया ब्रह्मचर्य्य का परिपालन करता है वह एतादृश सामर्थ्य का लाभ करलेता है कि जिस सामर्थ्य के होने से वह वक्ष्यमाण अणिमादि सिद्धियों का सम्पादन कर सिद्ध हुया अपने शिष्यों को भी ज्ञानी औ योगी तथा समाधिनिष्ठ कर सकता है ॥ ३८ ॥

सू० अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

भाषा—अपरिग्रह में परिपूर्णरूप से स्थिरता के होने से योगी को (जन्मकथन्ता) भूत-वर्तमान-भाविजन्मसंबन्धी किम्प्र-

(१) क्रिया का आश्रय कह कर फल का आश्रय कहते हैं (एवं) इति।

+ अमोघ नाम सफल का है, एवंच जिस योगी का आशीर्वाद वा शाप दिया हुआ सफल हो जाय वह योगी पूर्णतया सत्यनिष्ठ है यह जानना।

कारता का (संबोध) ज्ञान होता है,

अर्थात्–हम पूर्वजन्म में कौन थे कहां थे किस प्रकारसे स्थित थे, औ वर्तमानकालिकशरीर भूतोंका कार्य्य है वा भूतों का समूह है वा भूतों से अन्यत् है औ आगे हम क्या होंगें वा कौन होंगे वा किस प्रकार होंगे, इस प्रकार भूत-वर्तमान-भाविजन्म विषयक यथार्थ ज्ञान उदय हो जाता है।

यह पूर्वोक्त पांचों सिद्धियां पांच प्रकार के यमों विषयक स्थिरता होने से लब्ध होती हैं ॥ ३९ ॥

इदानीं नियमविषयक निष्ठाशील को जिन सिद्धियों का लाभ होता है उन का यथाक्रम प्रतिपादन करते हैं—

सू० शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

भाषा–पूर्णतया शौच के अनुष्ठान से (स्वाङ्गजुगुप्सा) अपने शरीर के अंगों में ग्लानि होती है औ (परैरसंसर्गः) अन्य मलिन वा शुद्ध पुरुषों के संग संसर्ग का अभाव हो जाता है।

अर्थात्–जब योगी अपने अंगों में अशुद्धि प्रयुक्त ग्लानि के होने पर शौच का अनुष्ठान करता है तब (स्थानाद्बीजात्) इत्यादि पूर्वोक्त युक्ति से शौच करने पर भी शरीर को शुद्ध न जानता हुआ शरीरविषयक अध्यास से रहित हो जाता है, औ काय के स्वभाव को जानता हुआ अन्य किसी के संग संसर्ग न कर एकान्तसेवी हो जाता है, अर्थात् जो पुरुष मृत्तिका जलादि से प्रक्षालन करने पर भी अपने शरीर को शुद्ध न जान कर शरीर के त्याग की इच्छा करता है वह पुरुष भला अन्य मृतकतुल्य मलिन शरीरों से कैसे (१) संसर्ग करेगा। ॥ ४० ॥

---

(१) एवंच शरीराध्यास की निवृत्ति औ एकान्त सेवन करना ही शौच का फल है, औ इन दोनों के होने से ही योगी शौचनिष्ठ प्रतीत होता है, यह जानना ।

बाह्य शौच प्रयुक्त सिद्धि का निरूपण कर इदानीं आन्तर शौच की सिद्धि का सूचक फल कहते हैं—

सू० सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शन-योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

भषा—मैत्री आदि भावना से रागादि निवृत्ति द्वारा (सत्त्वशुद्धि) चित्त सत्त्व की अमलता आविर्भूत होती है औ अमलता से (सौमनस्य) स्फटिक की तुल्य स्वच्छता, औ स्वच्छता से एकाग्रता औ एकग्रता से तदधीन इन्द्रियों की वश्यता, औ वश्यता से आत्मसाक्षात्कार की योग्यता लब्ध होती है, यह शौच की स्थिरता का फल है ॥ ४१ ॥

सू० सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

भाषा—सन्तोषविषयक निष्ठा होने से (अनुत्तम) जिस से अन्य कोई उत्तम नहीं है एतादृश सुख का लाभ होता है।

ऐसे ही व्यासदेव जी ने भी कहा है यथा—"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखं, तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्(†)" इति, अपने पुत्र पुरु के प्रति यौवन अर्पण काल में ययाति राजा ने भी "या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्य्यति जीर्य्यतः; तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाऽभिपूर्य्यते" *

† जो लोक में कामसुख अर्थात् ऐहिक माला चंदन वनितादि से जन्य सुख है, औ जो दिव्य स्वर्ग में होने वाला अप्सराभोग अमृतपानादि प्रयुक्त सुख है, यह दोनों ही सुख तृष्णाक्षयप्रयुक्तसंतोष सुख की षोडश कला के योग्य नहीं अर्थात् सन्तोष सुख से सोलहवां हिस्सा भी सुख इन दोनों में नहीं।

* दुर्मति पुरुषों कर जो त्यागनी कठिन है औ शरीर के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होती है अर्थात् शरीर पर बुढ़ापा आने से भी जिस पर बुढ़ापा नहीं होता है एतादृश तृष्णा को त्याग करने वाला पुरुष अनुत्तम सुख से परिपूरित हो जाता है, यह इस का अर्थ है।

इस वाक्य से तृष्णात्याग रूप सन्तोष को अनुत्तम सुख का जनक कहा है ॥४२॥

सू० कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥४३॥

भाषा—(तपसः) तप के अनुष्ठान से (अशुद्धिक्षयात्) रज तम प्रयुक्त अशुद्धि संज्ञक आवरणरूप मल की क्षय होने से (कायेन्द्रियसिद्धिः) शरीर तथा इन्द्रिय निष्ठ सिद्धि लब्ध हो जाती है, अर्थात्—शरीर संबंधी अणिमादिक सिद्धियां औ इन्द्रिय संबन्धी दूर से श्रवण करना तथा दूर से देखना प्रभृति सिद्धियां योगी को प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४३ ॥

सू० स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

भाषा—(स्वाध्यायात्) स्वाध्यायशील होने से (इष्टदेवता) अभिमत देवताओं का (संप्रयोगः) साक्षात्कार हो जाता है।

अर्थात्—जिन देवताओं को वा ऋषियों को वा सिद्धों को वह दर्शन के अर्थ चाहेगा वह देवतादि स्वाध्यायशील को दर्शन दें गे औ उस के कहे हुये कार्य्य का सम्पादन भी करेंगे ॥४४ ॥

सू०समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानाद् ॥ ४५ ॥

भाषा-(ईश्वर प्रणिधानात्) ईश्वर प्रणिधान से (समाधि सिद्धिः) सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि होती है।

अर्थात्-जिस ने सर्व कर्मों का ईश्वर में अर्पण किया है वह एतादृश समाधिप्रज्ञा का लाभ करता है कि जिस प्रज्ञा द्वारा वह योगी देशान्तर देहान्तर कालान्तर में होने वाले अभिमत पदार्थों को भी यथावत् जान सकता है ।

यहां पर यह शङ्का मत करनी कि-" जब कि ईश्वरप्रणि-धान से ही समाधि का लाभ हो जाता है तो इतर सात अंगों

के अनुष्ठान से क्या प्रयोजन है" क्योंकि उन सातों के विना ईश्वर प्रणिधान का लाभ न होने से वह सात (१) ईश्वर प्रणिधान के उपयोगी हैं ॥ ४५ ॥

इस प्रकार सिद्धियों के सहित यम नियमों का निरूपण कर इदानीं क्रमप्राप्त आसन का लक्षण कथन करते हैं-

सू० स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

भाष।—(स्थिरसुखम्) जिस द्वारा निश्चल हुये को सुख लाभ होय वह (आसनम्) आसन कहा जाता है।

अर्थात् पद्मासनादि आसनों में से जिस आसनद्वारा स्थिरता सिद्ध होय उसी आसन का योगी सेवन करे,

पद्मासन = वाम (बांई) (२) उरु के ऊपर दक्षिण चरण को संस्थापन कर, औ बाम चरण को दक्षिण उरु के ऊपर स्थापन कर, दक्षिण हस्त को पृष्ट की तरफ़ कर बाम उरु पर स्थित दक्षिण चरण के अंगुष्ट का ग्रहण कर, वाम हस्त को पृष्ट की तरफ़ कर दक्षिण उरु पर स्थित बाम चरण के अंगुष्ठ का ग्रहण कर, फिर उर (छाती) के चार अंगुल के मध्य में चिबुक (ठोढी) को स्थापन कर औ नासा के अग्रभाग का आलोकन किया जाता है जिस स्थिति में वह पद्मासन है।

वीरासन = एक पाद का भूमि में स्थापन करे द्वितीय पाद को जानु आकुंचित कर उस के ऊपर स्थापन करे, यह वीरासन है।

---

(१) तहां यमादि अशुद्धि के क्षय द्वारा ईश्वरप्रणिधान के उपयोगी हैं औ आसनादि दृष्टफल द्वन्द्वादि निवृत्ति द्वारा उपयोगी हैं।

(२) यद्यपि आसन अनेक हैं तथापि जिन आसनों का भाष्यकारों ने परिगणन किया है उन का लक्षण निरूपण करते हैं (वाम) इत्यादि से।

इदानीं प्राणायाम के विशेष तीन लक्षण कहते हैं—

स तु—

सू० वाह्याऽभ्यंतरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

भाषा—(स तु) सो यह प्राणायाम (वाह्याऽऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) वाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति भेद से तीन प्रकार का है।

अर्थात्-प्रश्वास द्वारा स्वाभाविक प्राण की गति का जो अभाव वह वाह्यवृत्ति (रेचक) है, औ श्वासद्वारा जो स्वाभाविकगति का अभाव वह आभ्यान्तरवृत्ति (पूरक) है, औ प्रयत्न से एक बार ही इन दोनों का अभाव स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) है, अर्थात्—जैसे तप्तपाषाण वा तप्तलोह के ऊपर न्यस्त (फेंकाहुया) जल संकोच को प्राप्त हो जाता है तैसे दृढ़ प्रयत्न से जो श्वास प्रश्वास का एकवार ही अभाव वह कुम्भक प्राणायाम है।

सो यह तीन प्रकार वाला प्राणायाम (देश-काल-संख्याभिः परिदृष्टः) आभ्यन्तर बाह्य देश, तथा क्षणों की इयत्तानिश्चयरूप काल, तथा श्वासप्रश्वास की संख्या, इन तीनों द्वारा (परिदृष्ट) अभ्यासद्वारा परीक्षित औ परिवर्द्धित हुया (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है।

अर्थात्—जब योगी प्राणायाम करता है तब प्रथम उस की देश द्वारा परीक्षा करता है कि इतना देश इस का विषय है, (१)

(१) अर्थात्—वातरहित देश में नासिका के अग्रभाग से प्रादेशमात्र परिमाण पर तूल(रुई) को स्थापन कर बाह्यवायु विषयक रेचक प्राणायाम की परीक्षा करे कि इस तूल पर्य्यन्त वायु पहुंचता है कि नहीं जब तूल के डोलने से निश्चित हो जाय कि यहां तक बाह्यवायु का विषय स्थिर हो गया है तब एक वित्ता भर दूर पर तूल रख कर परीक्षा करे, इस प्रकार जब द्वादश अङ्गुल पर्य्यन्त रेचक स्थिर हो जाय तब जानें कि यह दीर्घ सूक्ष्म हुया, एवं पिपीलिका सदृश स्पर्श से आन्तर विषयक पूरक की परीक्षा करे, नाभिचक्र पर्य्यन्त जाने से यह पूरक भी दीर्घ सूक्ष्म कहा जाता है।

औ फिर काल द्वारा परीक्षा करता है कि इतनी मात्रा (१) पर्य्यन्त यह स्थिर रहता है, औ फिर संख्या द्वारा उस की परीक्षा करता है कि इतने श्वास प्रश्वास से यह प्रथम उद्घात (२) हुआ औ इतने श्वास प्रश्वास से यह द्वितीय उद्घात हुआ औ इतने श्वास प्रश्वास से यह तृतीय उद्घात हुआ, एवं यह मन्द प्राणायाम है औ यह मध्य है औ यह तीव्र है, इस प्रकार देशकाल संख्या * द्वारा परीक्षित हुआ औ अभ्यास द्वारा परिवर्द्धित हुआ जो यह प्राणायाम वह दीर्घ-सूक्ष्म कहा जाता है (३)।

भाव यह है कि जैसे धुना हुआ तूलपुञ्ज पसर कर दीर्घ औ सूक्ष्म हो जाता है तैसे देश कालादि वृद्धि से परिवर्द्धित हुआ प्राणायाम भी दीर्घ औ सूक्ष्म हो जाता है ॥५०॥

---

(१) हाथ को जानु के ऊपर से चारो ओर फिरा कर एक चुटकी बजा देने में जितना काल लगता है उस का नाम मात्रा है, तहां दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त हुआ जब ३६ मात्रापर्य्यन्त स्थिर हो जाता है तब यह जानना कि यह दीर्घसूक्ष्म हुआ।

(२) ऊर्द्धगमन को करता हुआ प्राण जब अपान पीडन करता हुआ स्थिर हो जाता है, वह उद्घात है, तहां द्वादशमात्रापर्य्यन्त प्राण का स्थिर रहना प्रथम उद्घात है, औ २४ मात्रापर्य्यन्त स्थिर रहना द्वितीय उद्घात है, औ ३६ मात्रापर्य्यन्त स्थिर रहना तृतीय उद्घात है।

एवं १२ मात्रा परिमित मृदु, औ २४ मात्रा परिमित मध्य, औ ३६ मात्रा परिमित तीव्र प्राणायाम जानना।

(*) मात्रा के परिमाण से वृद्धि को प्राप्त हुआ कालदृष्ट है और श्वास प्रश्वास परिमाण से वृद्धि को प्राप्त हुआ सङ्ख्यापरिदृष्ट है इतना भेद है।

(३) नासिका के अग्र भाग से बाहिर १२ अङ्गुलपर्य्यन्त गमनशील, औ आन्तर नाभि चक्र वा पादतलपर्य्यन्त गमनशील जो ३६ मात्रापर्य्यन्त स्थिर प्राणायाम वह दीर्घ सूक्ष्म है, यह तत्त्व है।

प्राणायाम के तीन भेद कथन कर इदानीं चतुर्थ भेद का लक्षण करते हैं—

सू० बाह्याऽऽभ्यन्तरविषयाऽऽक्षेपी चतुर्थः ॥५१॥

भाषा-(बाह्यविषय) रेचक प्राणायाम, (आभ्यन्तरविषय) पूरक प्राणायाम, इन दोनों का (आक्षेपी) आक्षेप करनेवाला अर्थात्-इन दोनों की अपेक्षा से रहित जो केवल कुम्भक, वह (चतुर्थः) चौथा प्राणायाम है।

अर्थात्-कुम्भक दो प्रकार का है एक सहित औ एक केवल, तहां (१) पूरक प्राणायाम से वा रेचक प्राणायाम से अनन्तर जो प्राणनिरोध होता है वह सहितकुम्भक है, औ रेचन पूरण से विना प्रथम एकवार ही निरोध करना यह केवलकुम्भक है (२)।

इन दोनों में से प्रथम कुम्भक बाह्याऽऽभ्यन्तरविषय रेचक पूरक की अपेक्षावाला है औ द्वितीय कुम्भक बाह्यविषय रेचक औ आन्तरविषय पूरक की अपेक्षा न करने से इन दोनों का आक्षेपी (अनपेक्षी) है, यही चतुर्थ प्राणायाम है।

यद्वा आक्षेपी नाम विचारपूर्वक वर्तनेवाले का है, एवं च पूरक का जो नासा के अग्रभाग से लेकर द्वादश अंगुल पर्य्यन्त बाह्यविषय औ रेचक का जो नाभिचक्र पर्य्यन्त आभ्यन्तरविषय, इन दोनों के विचार पूर्वक जो कुम्भक वह चतुर्थ प्राणायाम है, अर्थात्-जो कुम्भक, पूरक रेचक संबंधी देश काल संख्या की परीक्षा न कर एकवार ही आरब्ध किया जाता है वह तृतीय कुम्भक है,

---

(१) "आरेच्याऽऽपूर्य्य वा कुर्य्यात् स हि सहितकुम्भकः" इस स्मृति को अनुसरण कर सहित कुम्भक का लक्षण करते हैं। "तहां" इत्यादि से।

(२) "रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणं, प्राणायामोऽयमित्युक्तः स हि केवलकुम्भकः" यह वाशिष्ठवचन इस में प्रमाण है।

औ जो पूरक रेचक की औ अपनी भी परीक्षा द्वारा आरब्ध किया जाता है वह चतुर्थ कुम्भक है, सो यह कुम्भक होना कुछ सहज नहीं है किन्तु अभ्यास द्वारा पूर्व पूर्व अवस्था को संपादन कर क्रम २ से लब्ध होता है क्योंकि जब तक पूर्व भूमि का विजय नहीं करेगा तब तक उत्तर भूमि की प्राप्ति होनी असम्भव है, यह अर्थ जानना ॥ ५१ ॥

इस प्राणायाम का अवान्तर † प्रयोजन कहते हैं—

सू० ततः क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम् ॥५२॥

भाषा—(ततः) प्राणायाम के अनुष्ठान से, (प्रकाशावरणम्) प्रकाशस्वरूप विवेकज्ञान का आवरण करने वाला (आच्छादक) जो अज्ञान वह (क्षीयते) क्षय हो जाता है।

बुद्धिनिष्ठ विवेकज्ञानरूप प्रकाश का आच्छादक जो अविद्या आदि क्लेश तथा अज्ञानजन्य पाप वह प्रकाशावरण है, ऐसे ही पञ्चशिखाचार्य्य जी ने कहा है यथा-"महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाऽकार्य्ये नियुङ्क्ते" (१) इति। यह जो प्रकाशाऽऽवरणरूप संसार का कारणभूत अज्ञानजन्य पापरूप कर्म वह प्राणायाम के अभ्यास से प्रतिक्षण दुर्बल हो जाता है, ऐसे ही आगमज्ञाता पञ्चशिखाचार्य्य जी ने कहा है- यथा-" तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च

---

† प्राणायाम का मुख्य फल तो आग्रमसूत्र से चित्त की स्थिरता है, परन्तु स्थिरता का उपयोगी जो मलांनवृत्ति रूप अवान्तर फल सो पहिले कहते हैं।

(१) इन्द्रजाल के तुल्य जो महामोह संज्ञक राग तिस द्वारा प्रकाशशील चित्त सत्त्व को आवृत्त(आच्छादित)कर यह अविद्याजन्य अधर्म ही पुरुष को अकार्य्य हिंसादि में प्रवृत्त कराता है यह इस का अर्थ है।

ज्ञानस्य" (१), मनुभगवान्ने भी "प्राणायामैर्दहेद् दोषान्" (२) इत्यादि से प्राणायाम की प्रशंसा कियी है ॥ ५२ ॥

इदानीं प्राणायाम का मुख्य फल कहते हैं-

सू० धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

भाषा—प्राणायाम के अभ्यास से (मनसः धारणासु योग्यता) मन की वक्ष्यमाणधारणाविषयक योग्यता हो जाती है।

अर्थात्- यह प्राणायाम मन को स्थिर कर धारणाविषयक सामर्थ्य वाला कर देता है। प्राणायाम को मन की स्थिरता का हेतुत्व पूर्व "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" (†) इस सूत्र में स्पष्ट है।

इदानीं क्रमप्राप्त प्रत्याहार का लक्षण कथन करते हैं---

सू० स्वविषयाऽसम्प्रयोगे चितस्य स्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भाषा---(इन्द्रियाणां) इन्द्रियों का (स्वविषयाऽसम्प्रयोगे) अपने २ विषयों के संग सन्निकर्ष के अभाव होने से जो (चित्तस्य स्वरूपाऽनुकार इव) चित्त के रूपसदृश इन्द्रियों की अवस्थिति हो जानी, वह प्रत्याहार है।

---

(१) प्राणायाम से श्रेष्ठ अन्य कोई तप नहीं है क्योंकि इस प्राणायाम से ही रागादि मलों की विशुद्धि (निवृत्ति) हो जाती है औ ज्ञान की दीप्ति (अभिव्यक्ति) होती है, यह इस का अर्थ है।

(२) "प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्, प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्" यह समग्र मानव वचन है, प्राणायामद्वारा रागादि दोषों का दाह करे औ धारणाद्वारा किल्बिष (पाप) का नाश करे, प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग निवृत्त करे औ ध्यानद्वारा काम क्रोधादि अनीश्वर गुणों का नाश करे, यह इस ६ अध्यायगत ७२ श्लोक का अर्थ है।

† ९८ पृ० को देखो।

अर्थात्-प्राणायामद्वारा स्थिर हुये चित्त का जो विषयों के संग असम्प्रयोग (सन्निकर्षाऽभाव) तिस से जो तदधीन इन्द्रियों का भी विषयों के संग संयोगाभाव, वह इन्द्रियों का चित्तस्वरूपानुकार * है, औ यही प्रत्याहार है।

एवं च चित्त के निरुद्ध होने से अपने से ही इन्द्रियों को स्थिर होने से कुछ उपायान्तर की इन्द्रियनिरोध के लिये अपेक्षा नहीं है यह वोधन किया।

भाव यह है कि-जैसे उत्पतनशील (उड़ते हुये) मधुकरराज को देख कर अन्यसब मधुमक्षिका उस के अनुसारी हुयीं उस के पीछे ही उड़ पड़ती हैं औ मधुकरराज के वैठने पर वह सब बैठ जाती हैं, तैसे इन्द्रियों को भी चित्त के अधीन होने से वह भी चित्त के विषयोन्मुख होने से विषयासक्त, औ निरुद्ध होने से निरुद्ध हो जाती हैं, यह जो चित्त के निरोध से अन्य इन्द्रियों का स्वतः निरोध यही प्रत्याहार है॥ ५४॥

इदानीं इस प्रत्याहार का फल कहते हैं—

सू० ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

भाषा--(ततः) तिस प्रत्याहार से (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों की (परमा) उत्कृष्ट (वश्यता) वशीकारता हो जाती है वश्यता नाम इन्द्रियजय का है, तहां (१) शब्दादिविषयों विषयक आसक्ति के अभाव का नाम इन्द्रियजय है, औ कोई यह कहते हैं कि शास्त्राऽविरुद्धविषयों का सेवन औ निषिद्धविषयों का

---

(१) परमावश्यता के निरूपणार्थ पहिले अन्य उक्त अपरवश्यता कहते हैं (तहां) इत्यादि से।

(*) इन्द्रियों का स्वभाव चित्त के अनुसारी होता है कुछ उन का स्वरूप नाश नहीं, होता है इस के बोधनार्थ कहा है (अनुकार इव) इति।

ओम्

नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

पातञ्जलदर्शनप्रकाशे विभूतिपादस्तृतीयः ॥ ३ ॥

दो०–जिज्ञासु विश्वास हित(१), योग विभूती पाद ।
करत प्रकाश सुयोगिवर, उर धर हरिहर पाद ॥१॥

प्रथम औ द्वितीय पाद से यथाक्रम समाधि औ समाधि के साधनों का निरूपण किया, इदानीं समाधि के साधनों के अनुष्ठान में पुरुषों की विश्वासपूर्वक दृढ प्रवृत्ति के लिये तृतीय विभूतिपाद का आरम्भ किया जाता है ।

तहां वक्ष्यमाण विभूतियों को संयम कर साध्य होने से

सो०–उदासीन कविभूप, शिक्षा–विद्या–प्रद गुरू ।
वन्दत आतमरूप, पाद तृतीय विवर्ण हित ॥ १ ॥

(१) विभूति नाम ऐश्वर्य्य का है अर्थात् योगबल से जो दूसरे के अभिप्राय को जान लेना। औ पशु पक्षी आदि निखिल भूतों की वाणी को समझ लेना, औ बैठे २ चन्द्रमा आदि को अंगुलि से स्पर्श कर लेना औ जल की तरह पृथ्वी में गोता मार जाना औ पृथ्वी की तरह जल पर चले जाना इत्यादि सामर्थ्य का नाम विभूति है सो इस पाद में इन ऐश्वर्य्यों का साधनसहित स्वरूप प्रतिपादन किया है इस से इस का नाम विभूतिपाद है ।

यद्यपि इस कैवल्यप्रतिपादक शास्त्र में इन विभूतियों के निरूपण का कुछ उपयोग नहीं है तथापि जब जिज्ञासु को यह निश्चय हो जायगा कि (जब स्थूल पदार्थ विषयक समाधि करने से सो सो ऐश्वर्य्य अवश्य प्राप्त हो जाता है तो पुरुष विषयक समाधि करने से पुरुष का साक्षात्कार होना भी कुछ दुर्घट नहीं) तब दृढ़विश्वास-पूर्वक साधनों के अनुष्ठान में जिज्ञासु की अनायास से ही प्रवृत्ति हो जायगी, इस तात्पर्य्य से ही यह विभूतिपाद आरम्भ किया है कुछ मुक्ति का सहायक जान कर नहीं, सोई कहते हैं कि (जिज्ञासु विश्वास हित) इति ।

औ संयम को धारणा-ध्यान-समाधि-इन तीनों का समुदाय-रूप होने से प्रथम विभूति के साधन भूत धारणादि त्रय का निरूपण करते हैं।

यद्यपि धारणादि त्रय को योग का साधन होने से साधनपाद में हीं इन तीनों का निरूपण करना उचित था तथापि (यम आदि पंच वहिरङ्ग साधनों से धारणादि तीन अंतरङ्ग साधन हैं) इस विशेष के बोधनार्थ साधनपाद में निरूपण न कर भिन्न प्रकरण में निरूपण किया है यह जानना।

अतएव भाष्यकारों ने "उक्तानि पंच वहिरङ्गाणि साधनानि धारणा वक्तव्या" इस वाक्य से यम आदि को वहिरंग औ धारणादिं को अन्तरङ्ग कहा है।

तहां धारणा आदि तीनों में से भी पूर्व २ को उत्तर २ का कारण होने से प्रथम धारणा का लक्षण कहते हैं—

सू० देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

भाषा—(चित्तस्य) चित्त का जो (देशबन्धः) किसी देशविशेष के संग संबन्ध, वह (धारणा) धारणानामक योग का अङ्ग है।

अर्थात्-नाभिचक्र, हृदयकमल, मस्तक में विद्यमान ज्योति, नासिका का अग्रभाग, जिह्वा का अग्र भाग, तालु, इत्यादिक आध्यात्मिक देशरूप विषयों में तथा हिरण्यगर्भ, इन्द्र आदिक बाह्यविषयों में जो चित्त का वृत्तिद्वारा सबन्ध है वह धारणा कही जाती है। (१)

---

(१) यद्यपि सूत्र औ भाष्य में हृदयादिदेशों विषयक चित्त की स्थिति को ही धारणा कहा है तथापि इन देशरूपआधारों में ब्रह्म की भावना कर तिस ब्रह्मविषयक

भाव यह है कि—स्थूल वा सूक्ष्म वाह्य वा आभ्यन्तर किसी न किसी विषय में चित्त को बांध देना अर्थात् लगाये रहना यह धारणा है ।

विष्णुपुराण में भी "प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियं, वशीकृत्य ततः कुर्य्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये" इस श्लोक से प्राणायाम औ प्रत्याहार से अनन्तर शुभ आश्रय (१) में चित्त की स्थिति का विधान कर फिर चतुर्भुज आदि विष्णुजी की मूर्तिविषयक चित्त की स्थिति को धारणा कहा है ॥१॥

इस प्रकार धारणा का लक्षण कथन कर अब धारणा कर साध्य ध्यान का लक्षण कहते हैं—

सू० तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

भाषा—(तत्र) तिस पूर्वउक्त देश (विषय) में, जो (प्रत्ययैकतानता) ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता, वह (ध्यानम्) ध्यान कहा जाता है ।

अर्थात्—जिस विषय में धारणा से चित्तवृत्ति को लगाया है उसी विषय में जो विजातीयवृत्तिप्रवाह से रहित सजातीयवृत्ति का निरन्तरप्रवाह करदेना (२) वह ध्यान है ॥२॥

चित्त की स्थिति को धारणा जानना, अतएव "प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्, स तावत्कालपर्य्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेद्" इत्यादिगरुडपुराण के वाक्यों में ब्रह्मविषयक-चित्त की स्थिति को धारणा कहा है, (बारह १२ प्राणायाम करने में जितना काल लगता है उतने काल पर्य्यन्त ब्रह्म में चित्त को धारण करे, यह इस का अर्थ है ।

(१) शुभआश्रय नाम शास्त्रोक्त श्रेष्ठ आश्रय का है अर्थात् जिस देव या परमात्मा के रूप में चित्त की अधिक रुचि हो उसी में चित्त को स्थिर करे ।

(२) जो ध्यान का विषय है अर्थात् जिस का ध्यान किया जाता है उस विषयक ही चित्त की वृत्ति का प्रवाह रहना अन्यविषयक नहीं यह विजातीय प्रत्यय से रहित सजातीयप्रत्ययप्रवाह है ।

इदानीं क्रम प्राप्त ध्यान साध्य समाधि का लक्षण कहते हैं-

सू० तदेवाऽर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥३॥

(तद् एव) सो पूर्व उक्त ध्यान ही (समाधिः) समाधि कहा जाता है। कैसा ध्यान समाधि कहा जाता है, इस पर कहते हैं (अर्थमात्रनिर्भासम्) अर्थ मात्र अर्थात् ध्येयस्वरूप मात्र का ही निर्भासं=निरन्तर भान होय जिस में, फिर कैसा है कि (स्वरूपशून्यम्) अपने ध्यानाकार रूप से शून्य=रहित होय।

अर्थात्--पूर्वोक्त ध्यान ही जब अभ्यास के बल से अपने ध्यानाकारपन को त्याग कर केवल ध्येयस्वरूपमात्र से अवस्थित हो प्रकाशित होय तब उसे समाधि जानना (१)।

ध्यान औ समाधि में इतना भेद है कि ध्यान में ध्येय औ ध्यान का भेद भान होता है औ समाधि में ध्येय के स्वरूप में अनुगत हुआ ध्यान ध्येय से अभिन्न भान होता है, अर्थात् ध्यान में त्रिपुटी (२) का भान होता है समाधि में केवल ध्येय का (३)।

---

(१) अर्थात् जैसे जल में गेरा हुआ लवण जलाकार हो जाता है तैसे जब ध्येय विषयक ध्यान भी ध्येय स्वरूप हो जाय तब उसे समाधि जानना।

(२) ध्यान करनेवाला चित्त, औ जिस चित्तवृत्ति से ध्येय का भान होता है, औ जो ध्यान का विषय है, यह तीनों ध्यातृ ध्यान ध्येय रूप पुट (आकार) हैं इन के समाहार=इकठे होने का नाम त्रिपुटी है।

(३) इतना विशेष यहां पर यह भी जान लेना कि पांच घडी पर्य्यन्त ध्येय-विषयक चित्त की वृत्ति को लगाये रखने का नाम धारणा है औ ६० घडी एक तान से ध्येय का चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है, औ १२ दिन निरन्तर ध्यान को ध्येयाकार कर देना समाधि है, ऐसे ही स्कंदपुराण में लिखा है यथा—"धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकं दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते" इति।

यद्यपि ध्यान में भी ध्येय का भान होता है तथापि ध्येय मात्र का नहीं इस के बोधन अर्थ सूत्र में (अर्थमात्र निर्भासं) यह 'मात्र' पद दिया है, यदि समाधि में ध्यान स्वरूप से रहित ही है तो फिर ध्येय का प्रकाश कैसे होगा क्योंकि ध्यान के अधीन ही ध्येय का भान होता है स्वाभाविक नहीं इस शंका के निवारण अर्थ (स्वरूप शून्यम् इव) यह इव पद दिया है।

अर्थात् सर्वथा ध्यान का अभाव नहीं है किंतु ध्येय से भिन्न रूपता करके न भान होने से स्वरूपशून्य की तरह है न कि स्वरूपशून्य ॥३॥

इदानीं लाघव के लिये धारणा ध्यान समाधि इन तीनों की तांत्रिकी (१) परिभाषा कहते हैं।

सू० त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

भाषा—(एकत्र) एक विषयविषयक जो (त्रयम्) धारणा ध्यान समाधि यह तीन, सो (संयमः) संयम कहा जाता है।

अर्थात्—धारणा ध्यान समाधि इन तीनों के समुदाय को योगशास्त्र की परिभाषा से संयम कहा जाता है, जिस

---

(१) तंत्र नाम योगशास्त्र का है इस में होनेवाली का नाम तांत्रिकी है, संक्षेप से पदार्थ ज्ञान के लिये जो शास्त्रकारों का संकेत वह परिभाषा कही जाती है।

अर्थात्—इस पाद में आगे यह कथन करना है कि तीनों परिणामों में धारणा ध्यान समाधि करने से अतीत अनागत का ज्ञान होता है औ शब्द अर्थ ज्ञान विषयक धारणादि से सर्वभूतों की वाणी का ज्ञान होता है इत्यादि, सो यदि इन सूत्रों में सर्वत्र ही धारणा ध्यान समाधि यह लिखते तो गौरव होता इस से लाघव के लिये इन तीनों में संयम पद का संकेत कर दिया, एवंच जहां जहां अब संयम पद आवेगा तहां २ इन तीनों का ज्ञान हो जायगा।

विषय में प्रथम धारणा किथी है उसी विषय में जो फिर ध्यान औ समाधि होय तब संयम जानना औ जब अन्य विषयक धारणा होय औ अन्यविषयक ध्यान वा समाधि होय उस को संयम नहीं जानना इस के बोधन अर्थ सूत्रकार ने (एकत्र) यह पद दिया है ॥ ४ ॥

अब इस संयम के अभ्यास का फल कहते हैं।

सू० तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

भाषा—(तद्जयात्) तिस संयम के जय से (प्रज्ञाऽऽलोकः) समाधि प्रज्ञा का आलोक होता है।

अभ्यास के बल से संयम का दृढ परिपाक हो जाना संयमजय है, औ अन्य विजातीय प्रत्ययों के अभाव पूर्वक केवल ध्येय विषयक शुद्ध सात्विक प्रवाह रूप से बुद्धि का स्थिर होना प्रज्ञालोक है।

अर्थात्—जैसे जैसे अभ्यास से संयम स्थिरपद=दृढ होता जायगा तैसे२ समाधि में होनेवाली बुद्धि भी निर्मल होती जायगी, एवंच समाधिप्रज्ञा के विमल करने के लिये जिज्ञासु संयम का अभ्यास करे यह फलित हुआ ॥५॥

इदानीं जिस विषय में संयम का विनियोग करने से पूर्वउक्त प्रज्ञालोक फल होता है सो विषय कहते हैं—

सू० तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

भाषा-(तस्य) तिस संयम का (भूमिषु) सवितर्क आदि योग की अवस्थाओं में विनियोग। (१) करे

अर्थात्-प्रथमपाद में उक्त जो स्थूलविषयविषयक सवि-

(१) विनियोग नाम संबंध का है।

तर्क-निर्वितर्क समापत्ति औ सूक्ष्मविषयविषयक सविचार-निर्विचारसमापत्तिनामक योग की भूमि कें हैं उन में संयम करने से प्रज्ञालोक होता है।

भाव यह है कि–प्रथम स्थूलभूतों विषयक संयम करे फिर जब स्थूलपदार्थविषयक सवितर्कसमाधि स्थिर हो जाय तब जो नहीं वशीभूत निर्वितर्कसमापत्ति है तिस में संयम करे फिर सविचार औ निर्विचार में, इसप्रकार जिस २ भूमि का जय हुवा है उस से अनन्तर २ भूमि में संयम करे।

अर्थात् जबतक (अधरभूमि) (१) सवितर्कनामक प्रथम योग की भूमिका संयमद्वारा वशीभूत न होयं तब तक उत्तर भूमि में संयम करने का उद्योग न करे, क्योंकि यह कभी भी संभव नहीं हो सकता कि प्रथमभूमि को न जय कर मध्य की भूमिका को उल्लंघन कर अन्त की भूमि में संयम का लाभ हो जाय, इस से क्रम से ही संयम करे, क्रम से न करने से उत्तरभूमि के लाभ के अभाव से प्रज्ञालोक होना दुर्घट है।

पुराणों में भी प्रथम शंखचक्र आदि आयुधविशिष्ट परमात्मा का ध्यान विधान कर फिर उस की सिद्धि से अनन्तर चक्रआदिआयुधरहित मूर्ति का ध्यान विधान कर फिर केयूरकिरीटादि के परित्याग द्वारा शरीरमात्र के ध्यान के विधानपूर्वक उत्तम मुखादि अवयव पर्य्यन्त उत्तर उत्तर सूक्ष्म

(१) अधरभूमि नाम ग्राह्य समापत्ति का है औ मध्यभूमि नाम ग्रहणसमापत्ति का है औ प्रान्तभूमि नाम ग्रहीतृसमापत्ति का है, इन्ही को ही यथाक्रम से प्रथम मध्यम उत्तम भूमिका कहते हैं, इन समापत्तियों का निरूपण प्रथम पाद के १०१ पृष्ठ से लेकर ११२ तक किया गया है।

विषय में ध्यान विधान कर फिर सोहं इस भावना का विधान कह कर फिर इस को भी त्याग कर अहं अहं यह अति सूक्ष्म भावना विधान कियी है (१) अतः क्रम से संयम करे यह निष्पन्न हुवा, परन्तु इतना विशेष यह भी जान लेना कि यदि पुण्यपरिपाक से वा महात्माओं की कृपा से वा भक्ति से संयम विना ही उत्तर भूमिका में चित्त की स्थिति का लाभ हो जाय तो पूर्व (पहिली) भूमिकाओं में संयम करने का कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि पूर्व भूमि में संयम करने का फल जो उत्तर भूमि का लाभ था सो उस को ईश्वर की कृपा से प्राप्त है।

यदि यह कहो कि यह हमें कैसे ज्ञात होय कि यह प्रथम भूमि है औ यह द्वितीय औ यह तृतीय है तो इसमें योगशास्त्र ही प्रमाण जानना, ऐसे ही योगभाष्यकारों ने कहा है यथा–"योगेन योगो ज्ञातव्यः योगो योगात्प्रवर्तते, योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्" इति, अर्थात् योग-बल से आप ही पूर्व औ उत्तर भूमि का विवेक हो जाता है॥६॥

आशंका—यम आदिक आठ योग के अंगों में से धारणादि तीन में कौन विशेषता है कि जिस से अन्य पांचों को त्याग कर इन तीनों का ही समाधि में विनियोग कहा है।

---

(१) विष्णुपुराण में प्रथम भूषणविशिष्ट चतुर्भुजादि के ध्यान का विधान कर फिर,
"ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः। चिन्तयेद् भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकं ॥१॥
यदा च धारणातस्मिन्नवस्थानवती ततः। किरीटकेयूरमुखैर्भूषणैरहितं स्मरेत् ॥२॥
तदेकावयवं देवं सोहं चेति पुनर्बुधः। कुर्य्यात् ततोह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेद्" ॥३॥
इत्यादि श्लोकों से यह सब निरूपण किया है।

समाधान–यम आदिक जो पांच अंग हैं सो धारणा ध्यानद्वारा समाधि के साधन हैं कुछ साक्षात् नहीं, इस से वह वहिरंग हैं औ धारणादि तीनों साक्षात् समाधि का साधन होने से अन्तरङ्ग हैं, यही सूत्रकार कहते हैं–

सू० त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ ७॥

भाषा–(पूर्वेभ्यः) धारणादि से पूर्वले जो पांच यम आदि अङ्ग हैं उन से (त्रयम्) यह धारणादि तीन अन्तरंग हैं।

अर्थात्—साधनीय जो संप्रज्ञात समाधि है तिस का जो विषय है सोई धारणादि का विषय है इस से समान-विषय होने से धारणादि तीन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन हैं (१) औ यम आदिक समानविषय न होने से वहिरङ्ग हैं॥ ७॥

यह जो धारणादि तीनों को अन्तरङ्ग साधनत्व कहा है सो भी संप्रज्ञात समाधि के ही सिद्ध करने में जानना (२)

---

(१) यह सब द्वितीय टिप्पण में स्पष्ट है।

(२) भाव यह है कि—अन्तरङ्ग दो प्रकार का होता है एक तो जिस साधन से अनन्तर अवश्य ही साध्य की सिद्धि हो जाय वह, औ एक वह कि जो विषय साध्य का होय उसी विषय विषयक होनेवाला, तहां प्रथम अन्तरङ्ग तो यहां पर सूत्रकार को अभिमत नहीं क्योंकि इस ९४ सूत्र से ईश्वर प्रणिधान को संप्रज्ञात का साधन कहा है औ माना है उस को बहिरंग, क्योंकि धारणादि तीन ही सूत्रकार के मत में अन्तरङ्ग हैं इस से द्वितीय प्रकार का अन्तरङ्ग ही सूत्रकार को अभीष्ट है औ यहां पर तो न संयम के अनन्तर ही निर्बीज समाधि उदय होता है औ न संयम का विषय ही निर्बीज समाधि के विषय के समान है क्योंकि इस अवस्था में त्रिपुटी का अभाव होने से यह निर्विषयक समाधि है, इस से दोनों प्रकार की अन्तरङ्गता का अभाव होने से निर्बीज समाधि का संयम अन्तरङ्ग साधन नहीं है किन्तु परवैराग्य ही इस का अन्तरङ्ग साधन है।

कुछ निर्बीज असंप्रज्ञात में नहीं क्योंकि वह समाधि इन तीनों के निरुद्ध होने से अनन्तर होती है, इसी आशय से निर्बीज समाधि की अपेक्षा से संयम को बहिरंग कहते हैं—

सू० तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

भाषा—(तदपि) सो यह पूर्वउक्त धारणादि तीन अन्तरङ्ग भी (निर्बीजस्य) असंप्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं।

अर्थात्—परवैराग्यसे जब धारणादि तीनोंका भी निरोध हो जाता है तब असंप्रज्ञात समाधि उदय होता है इस से परवैराग्य ही असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन है धारणादित्रय नहीं यह फलित हुवा ॥८॥

आशङ्का--गुणों का स्वभाव चंचल है इस से प्रतिक्षण परिणामवाले गुण हैं यह पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं, एवं च निरोधसमाधि काल में जो चित्त है उस का भी प्रतिक्षण परिणाम अवश्य ही होता होगा, क्योंकि बिना परिणाम से क्षण भर भी चित्त का स्थिर होना असंभव है तथा च उस काल में कैसा चित्त का परिणाम होता है इस आशंका * का समाधान कहते हैं—

सू० व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

भाषा—(व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः) क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमि नामक जो व्युत्थान औ ज्ञानप्रसादनामक जो परवैराग्य-

* ऐसे २ स्थलों में भाषा जान कर परसवर्ण का नियम नहीं रखा गया है सारस्वतादि से शुद्ध भी है।

रूप निरोध, इन दोनों के जो संस्कार इनों का (अभिभव प्रादुर्भावौ] तिरो भाव औ आविर्भाव अर्थात् व्युत्थान संस्कारों का तिरस्कार औ निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव, यह जो (निरोधक्षणचित्तान्वयः) निरोधकाल में होने-वाला चित्त का दोनों संस्कारों में अन्वय (१) वह निरोध परिणाम कहा जाता है ।

अर्थात्--निरोधसमाधिकाल में व्युत्थानजन्य (२) सं-स्कारोंकी अतीतावस्था होती है औ परवैराग्य रूप निरोध के संस्कारों की वर्तमानावस्था होती है औ इन दोनों अवस्था-विशिष्ट संस्कारों का आशयभूत जो धर्मी रूप चित्त है सो दोनों अवस्थाओं में अनुगत है तथाच प्रतिक्षण जो चित्त का संस्कारान्यथात्व अर्थात् व्युत्थान संस्कारों का हान औ निरोध संस्कारों का आधान (निवास) यही निरोधकाल में चित्त का परिणाम है ।

भाव यह है कि--क्षण २ में जो चित्त से व्युत्थानसंस्कारों का (निर्गम) निकसना औ निरोधसंस्कारों का प्रवेश होना यही असंप्रज्ञातकाल में चित्त का परिणाम है, एवं च व्युत्थान संस्कारों के नाश के अर्थ अभ्यास से निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव करे यह निष्पन्न हुआ ।

आशङ्का--कारण के नाश से कार्य्य का नाश सर्व संमत है इसी से ही अविद्या रूप कारण के नाश से तिस के कार्य्य रागादि आप ही निवृत्त हो जाते हैं एवं च जब व्युत्थान वृत्तिका निरोध होगया तब उस वृत्ति से जन्य संस्कारोंका

(१) अन्वय नाम संबन्ध का है ।

(२) असंप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से संप्रज्ञात को भी यहां पर व्युत्थान जानना ।

निरोध भी स्वतः ही हो जायगा फिर व्युत्थान संस्कारों के नाशार्थ निरोधसंस्कारों की क्या आवश्यकता है।

समाधान--कुछ यह नियम नहीं है कि कारणमात्र की निवृत्ति से ही कार्य्य की निवृत्ति हो जाती है किन्तु उपादान-कारण की निवृत्ति से कार्य्य की निवृत्ति होती है यह नियम है एवंच व्युत्थानसंस्कारों का उपादान कारण भूत जो चित्त है उसको विद्यमान होने से व्युत्थानसंस्कारों की स्वतः निवृत्ति होनी असंभव है (१), औ वृत्ति तो संस्कारों का निमित्त कारण है इस से वृत्ति के नाश से संस्कारों का नाश होना असंभव है, (२) औ अविद्या तो रागादि का उपादान कारण है इससे अविद्या के नाश से रागादि का नाश होना समीचीन है, इसी अभिप्राय से भाष्यकारों ने यहां यह कहा है कि (व्युथानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः)(३)इति, तथाच व्युत्थानसंस्कारों के अभावार्थ निरोधसंस्कारों की वृद्धि करे जिस से चित्त संस्कारशेष हो जाय। जिस प्रकार असंप्रज्ञात में चित्त संस्कार शेष मात्र होता है सो प्रकार प्रथम पाद में कह चुके हैं ॥९॥

---

(१) इसी से ही बहुत काल से वृत्ति के नाश होने पर भी संस्कार द्वारा पदार्थ का स्मरण लोक में दृष्ट है।

(२) लोक में भी कुलाल रूप निमित्त कारण के नाश से घट रूप कार्य्य का नाश नहीं होता है किन्तु उपादान रूप कपाल नाश से ही घट नाश दृष्ट है, तैसे यहां भी जानना।

(३) व्युत्थान संस्कार चित्त का धर्म है अर्थात् चित्त इन का उपादान कारण है कुछ प्रत्ययात्मक नहीं अर्थात् वृत्ति इन का उपादान कारण नहीं इस से वृत्ति निरोध होने पर भी संस्कारों का निरोध नहीं हो सकता क्योंकि उपादान कारण चित्त विद्यमान है, यह भाष्य का अर्थ है।

अब इस निरोध संस्कार का फलीभूत परिणाम कहते हैं—

सू० तस्य प्रशान्तवाहिता संस्काराद् ॥ १० ॥

भाषा—(संस्कारात्) निरोधसंस्कार से (तस्य) तिस चित्त की (प्रशान्तवाहिता) विमल निरोधसंस्कारधारा की परंपरा रूप स्थिति होती है ।

अर्थात्—निरोध संस्कारों के अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जाती है, व्युत्थान (१) संस्कारमल से रहित जो निरोध संस्कार की उत्तरोत्तर अविछिन्न परंपरा वह प्रशान्तवाहिता है, एवंच प्रशान्तवाहितारूप स्थिति के लिये निरोध संस्कारों का ऐसा अभ्यास करे जिस से निरोध संस्कार में ऐसी निपुणता आ जाय कि वह व्युत्थान संस्कारों का तिरस्कार कर दे, नहीं तो निरोध संस्कारों के मन्द होने से व्युत्थान संस्कार ही निरोध संस्कारों का तिरस्कार कर देंगे ॥ १० ॥

इस प्रकार असंप्रज्ञातकाल में होने वाले निरोध परिणाम का स्वरूप औ फल कथनकर इदानीं संप्रज्ञात में होने वाले समाधिपरिणाम को कथन करते हैं—

सू० सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

भाषा—(चित्तस्य) चित्त की (सर्वार्थता-एकाग्रतयोः) विक्षिप्तता औ एकाग्रता का, जो (क्षय-उदयौ) नाश औ प्रादुर्भाव होना, यह समाधि परिणाम कहा जाता है ।

---

(१) प्रशान्तवाहिता का लक्षण कहते हैं—(व्युत्थान) इत्यादि से—

अर्थात्--क्षण२ में जो अनेक विषयोंमें चित्तका गमन वह सर्वार्थता रूप चित्त धर्महै औ एक ही किसी आलम्बन में निश्चल वृत्ति प्रवाह से चित्त का स्थिर होजाना एकाग्रता रूप चित्त धर्म है; इन दोनों धर्मों में से जो सर्वार्थता रूप चित्त के धर्म का क्षय (तिरोभाव) हो जाना औ एकाग्रता रूप चित्त के धर्म का उदय (आविर्भाव) हो जाना यह समाधि परिणाम है ।

यहां पर भी पूर्ववत् विक्षिप्तता-एकाग्रता रूप धर्मों का आविर्भाव तिरोभाव होता है औ चित्तरूप धर्मी दोनों कालों में अनुगत रहता है यह जानना ।

निरोधपरिणाम से समाधि परिणाम में यह विशेष है कि निरोध परिणाम में व्युत्थान संस्कारों का अभिभव औ निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है औ समाधिपरिणाम में संस्कार का जनक जो व्युत्थान तिस का क्षय औ एकाग्रता स्वरूप धर्म का (१) आविर्भाव होता है ॥ ११ ॥

इदानीं इसी संप्रज्ञातकी दृढ़ अवस्था कहते हुये एकाग्रतापरिणाम का लक्षण कहते हैं--

सू० ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

(ततः) विक्षिप्तता रूप धर्मके क्षय होने से, जो (शान्त-

---

(१) भाव यह है कि पहिले संप्रज्ञात में व्युत्थान का क्षय औ एकाग्रता का उदय किया जाता है औ फिर असंप्रज्ञातमें निरोध संस्कारों के आविर्भावसे व्युत्थान संस्कारों का भी तिरोभाव किया जाता है ।

उदितौ) अतीत वर्तमान (तुल्यप्रत्ययौ) प्रत्यय तुल्य हो जाने यह एकाग्रता परिणाम है (१)।

अर्थात्—समाहित चित्तका जो पहिले प्रत्यय उदय हो कर शान्त हुवा था फिर तिसके तुल्यही उत्तर प्रत्यय उत्पन्न होता है कुछ विलक्षण नहीं, औ चित्तरूपधर्मी दोनों प्रत्ययों में अनुगत रहता है इस से इस में दोनों प्रत्यय तुल्य हैं।

भाव यह है कि—संप्रज्ञात समाधि के प्रथम क्षण में व्युत्थान वृत्ति उत्पन्न हुई२ शान्त होती है औ द्वितीय क्षण में एकाग्रता रूप वृत्ति उदय होती है इस प्रकार संप्रज्ञातमें पूर्व औ उत्तर प्रत्यय विलक्षण हैं क्योंकि पूर्व प्रत्यय जो शान्त हुवा है सो तो विक्षेप रूप है और उत्तर प्रत्यय जो उदय हुवा है सो निरोधरूप है यही चित्त का परिणाम पूर्व सूत्र में समाधिपरिणाम नाम से कहा गया है, औ जब दृढ़अभ्यास के बल से विक्षेप का अत्यन्ताभाव होने से निरन्तर प्रतिक्षण निरोध रूप ही प्रत्यय उदय होता है तब प्रथम क्षण में उत्पन्न हुवा जो प्रत्यय सो भी निरोध रूप है औ द्वितीय क्षण में शान्त हुवा जो प्रत्यय सो भी निरोध रूप है और फिर तृतीयक्षण में जो उदय हुवा सो भी निरोध रूप है इस प्रकार दोनों प्रत्यय तुल्य होते हैं विलक्षण नहीं, इसी का नाम एकाग्रतापरिणाम है। परन्तु यह एकाग्रता-परिणाम भी तावत्कालही रहता है कि यावत्काल समाधि में योगी स्थित होता है औ जब समाधि से योगी का उत्थान होता है तब विक्षेप प्रत्यय का भी उदय हो जाता है।

(१) अर्थात् समाधि काल में सर्वदा एकाग्रता का प्रवाह हो जाना ही एकाग्रता परिणाम है।

एवंच उत्थानकाल के विक्षेपकी निवृत्ति के लिये असंप्रज्ञात का योगी अनुष्ठान करे कुछ संप्रज्ञात की प्राप्ति से ही अपने को कृतकृत्य मत माने यह निष्पन्न हुवा ॥ १२ ॥

जिस प्रकार चित्त परिणामी है इस प्रकार अन्य वस्तु भी परिणामी हैं इस के बोधनार्थ भूतादिकों में भी तीन प्रकार का परिणाम सूचन करते हैं—

सू० एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

भाषा--(एतेन) इस पूर्व उक्त चित्त के परिणाम कथन करने से (भूतेन्द्रियेषु) भूत औ इन्द्रियों में भी (धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा) धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम अवस्था परिणाम (व्याख्याताः) व्याख्यान किये गये अर्थात् चित्त के तीन परिणामों के कथन से भूतादिकों के भी तीन परिणाम अर्थ से कहे गये जान लेने ।

यद्यपि सूत्रकार ने साक्षात् शब्दउच्चारण द्वारा यह तीन परिणाम निरूपण नहीं किये हैं तथापि निरोधपरिणाम कथन से यह सूचित किये हैं ।

(१) तहां धर्मी के विद्यमान होते ही पूर्व धर्म के तिरोभावपूर्वक जो अन्य धर्म का प्राडुर्भाव वह धर्म परिणाम है, जैसे कि चित्त रूप धर्मी के रहते ही पूर्व व्युत्थानसंस्कार रूप धर्म के तिरोभाव पूर्वक अन्य निरोधसंस्कार रूप धर्म

(१) जिस प्रकार से (सूचित) बनाये गये हैं सोई प्रकार स्पष्ट कर के दिखाते हैं (तहां) इत्यादि से ।

का प्रादुर्भाव हो जाना रूप निरोध परिणाम है, (१) विद्यमान धर्मों को अनागतादिकाल के त्यागपूर्वक वर्तमानादि काल का लाभ होना लक्षण परिणाम है, तहां जो वस्तु नष्ट हो गयी है उस को अतीत लक्षण वाली कहते हैं औ जो वर्तमान है उस को वर्तमान लक्षण वाली कहते हैं, औ जो आगे को होनेवाली है उसको अनागत लक्षणवाली कहते हैं।

तथा च-जिस समय पुरुष समाधिस्थ होता है उस काल में व्युत्थान अपने वर्तमान लक्षण को परित्याग कर अतीत लक्षण को प्राप्त होता है औ निरोध अनागत लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है एवं फिर जो व्युत्थान होगा तो वह अनागत लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होगा, यह जो धर्मों का लक्षण भेद सोई धर्मों में लक्षणपरिणाम है।

अर्थात्—व्युत्थान की वर्तमानतादशा में निरोध की जो अनागतता दशा सोई निरोध का सूक्ष्म लक्षणपरिणाम औ व्युत्थान की अतीततादशा में जो निरोध की वर्तमानतादशा सोई निरोध का वर्तमान लक्षण परिणाम जानना।

एवं निरोध की वर्तमानतादशा में जो निरोध संस्कारों की प्रबलता औ व्युत्थान संस्कारों की दुर्बलता सो अवस्थापरिणाम जानना।

तथा च (२) प्रथम जो चित्तरूपधर्मी के रहते व्युत्थान का तिरोभाव औ निरोध का आविर्भाव वह धर्मपरिणाम

---

(१) धर्म परिणाम कहकर अब लक्षण परिणाम कहते हैं (विद्यमान) इत्यादि से।

(२) अब तीनों परिणामों का एकत्र संकलन कर उपसंहार करते हैं, 'तथाच' इत्यादि से।

हुवा, औ निरोधरूपधर्म में जो अनागतलक्षण का तिरोभाव औ वर्तमानलक्षण का प्रादुर्भाव यह निरोधरूपधर्म का लक्षणपरिणाम हुआ, निरोध के वर्तमानलक्षण की जो बलवत्ता सो लक्षण का अवस्थापरिणाम हुआ, इसप्रकार धर्मी का धर्मपरिणाम धर्मों का लक्षण परिणाम औ लक्षणों का अवस्थापरिणाम जान लेना।

(१) भाव यह है कि—जिस हेतु से गुणों का स्वभाव चंचल है इस हेतु से गुणों का प्रचार क्षण भर भी एकरस नहीं रह सकता इसीसेही सर्ववस्तु को त्रिगुणात्मक होनेसे वस्तुमात्र परिणामी हैं क्योंकि इन तीनों परिणामों से शून्य कोई वस्तु भी क्षणमात्र स्थिर नहीं रहसकता, एवं च जैसे चित्त में तीन प्रकार के परिणाम हैं इसी प्रकार से भूत औ इन्द्रियों में भी धर्मधर्मीभाव से तीनों परिणाम जान लेने।

तहां पृथ्वीरूप धर्मी का जो घटरूप विकार वह धर्म परिणाम है क्योंकि पिंडाकार धर्म के तिरोभावपूर्वक कंबुग्रीव-आदिआकार का यहां प्रादुर्भाव है, औ (२) घट का जो अनागतलक्षण के त्यागपूर्वक वर्तमानलक्षणवाला हो जाना वह घटरूपधर्म का लक्षणपरिणाम है औ वर्तमानलक्षणवाले घट का जो नयापन औ क्षण २ में पुराणपन यह अवस्थापरिणाम है।

---

(१) दृष्टान्तरूप चित्त में तीनों परिणामों का कथन कर इदानीं, दार्ष्टान्त रूप भूतादिकों में तीनों परिणामों के कथन का आरम्भ करते हैं, (भावयह है) इत्यादि से।

(२) धर्मपरिणाम कहकर धर्म में होनेवाला जो लक्षण परिणाम है सो कहते हैं। (औघट का) इत्यादि से।

एवं इन्द्रियों का जो नीलादिविषयों का आलोचन (१) यह इन्द्रियों का धर्मपरिणाम औ नीलादिज्ञान का जो वर्तमान लक्षणवाला होजाना यह लक्षणपरिणाम, औ वर्तमानतादशा में जो स्फुटत्व अस्फुटत्व सो अवस्थापरिणाम जानना, एवं अन्यत्र भी जान लेना।

सो यह जो तीनप्रकार के परिणाम कहे हैं सो धर्मी से धर्मादिकों की भेदविवक्षा से कहे हैं परमार्थ से तो(२) केवलधर्मपरिणाम ही मुख्य है क्योंकि धर्म को धर्मिस्वरूपमात्र होने से धर्मी का विकार ही धर्म-लक्षण-अवस्था परिणामशब्द से व्यवहृत होता है कुछ धर्मादि का विकार नहीं, एवंच धर्मादिद्वारा यह सब धर्मी के विकार का ही प्रपञ्च (विस्तार) जानना तैसे।

यहां इतना विशेष यह भी जान लेना कि मृत्तिकारूप धर्मी में अनागतअवस्था से वर्तमान जो घटरूपधर्म है उसी का अतीत अनागत वर्तमानकाल में अन्यथात्व होता है कुछ मृत्तिकारूप धर्मी का नहीं, जैसे सुवर्ण के भाजन (पात्र) को गलाकर अन्यथा करने से केवल कुंडल कटकादि आकार औ यह कुंडल औ यह कटक है इत्यादि व्यवहार का ही भेद होता है कुछ सुवर्ण असुवर्ण (३) नहीं होजाता।

यहां पर बौद्धजन यह शंका करते हैं कि "यदि धर्मी

---

(१) आलोचननाम ज्ञान का है।

(२) साङ्ख्ययोगमत में सत्कार्य्यवाद औपरिणामवाद होने से धर्म औ धर्मी का वास्तव से भेद नहीं माना जाता है।

(३) असुवर्ण=सुवर्ण से भिन्न रजत आदि।

का सर्वकाल औ सर्वअवस्था में धर्मों में अन्वय है तो मृत्तिकादि धर्मी को सदा विद्यमान होने से चेतन के तुल्य कूटस्थनित्यता आ जावैगी सो नित्यता आप को संमत नहीं है क्योंकि आप के मत में चितिशक्तिरूप पुरुष से विना अन्य कोई कूटस्थ नित्य है नहीं " इस का परिहार भाष्यकारो ने यह किया है कि—हम चेतन की तरह मृत्तिकादि को एकान्त नित्य नहीं मानते हैं किन्तु न अत्यन्तनित्य है औ न अत्यन्तअनित्य है अपितु कथंचित् नित्य है औ कथंचित् अनित्य है, इसप्रकार मानते हैं।

भाव यह है कि—यावत् कार्य्यमात्र है सो सब अपनी व्यक्ति से अपायको प्राप्त होता है (१) अर्थात् अपनी वर्तमानावस्था को त्याग कर अतीतरूपता को प्राप्त होता है इसी से ही अत्यन्तनित्यता का कार्य्यमात्र में अभाव है,औ यह भी मत जानना कि फूट जाने से अनन्तर घट का अत्यन्तअभाव हो जाता है किन्तु अतीतावस्थापन्न भी घट मृत्तिका में विद्यमानही रहता है क्योंकि अत्यन्त अनित्यता के अभाव से कार्य्य का अत्यन्त उच्छेद हमारे मत में प्रमाणविरुद्ध है, परन्तु इतना विशेष है कि वर्तमानावस्थापन्न घट की उपलब्धि (२) होती है औ अतीतावस्थापन्नघट स्वकारण में लीन होने से सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ दर्शन के अयोग्य हुआ उपलब्ध (३) नहीं होता है।

औ इतना विशेष यह भी जान लेना किं घटरूप जो धर्म

---

(१) जैसे कि उत्पन्नहुये घट का फिर फूट जाना।

(२) नेत्रादि की विषयता रूप ज्ञप्ति।

(३) प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं होसकता।

है सो भूत-भविष्यत-वर्तमान इन तीनों कालों में ही मृत्तिका रूप धर्मी में विद्यमान रहता है, जिस काल में घट फूटने से अतीतावस्था को प्राप्त होता है उस समय भी वह सूक्ष्म अनागत औ वर्तमान अवस्था से संयुक्त ही है कुछ वियुक्त नहीं, एवं अनागतावस्था वाला जो घट है सो भी वर्तमान औ अनागत अवस्था से संयुक्त है, एवं वर्तमानावस्थावाला जो घट है सो भी अतीत औ अनागत लक्षण से संयुक्त है।

अर्थात्—जैसे कोई पुरुष एक स्त्री में रागवाला है इस से अन्य स्त्रियों में विरक्त है यह नहीं माना जाता है किन्तु जिस स्त्री में राग है तहां राग वर्तमान अवस्था वाला है औ अन्य स्त्रियों में राग अतीतावस्था वाला होता है यह माना जाता है (१) तैसे जिस काल में घट वर्तमानावस्थावाला होता है तिस काल में अन्य अवस्था का अभाव नहीं जानना किन्तु वह भी सामान्यरूप से उस समय अनुगत हैं।

यहां पर कोई यह दोष देते हैं कि "परस्पर विरुद्ध तीनों अवस्थाओं का एक काल में एक वस्तु में अनुगत होना असंभव है औ यदि अनुगत होना माना जाय तो जिस काल में घटो वर्तमानः (२) यह व्यवहार होता है उस काल में घटोऽतीत(३) इत्यादि व्यवहार भी होना चाहिये," इस आशंका का परिहार यह है किं क्रोध से उत्तरकाल में भी चित्त रागधर्म वाला प्रतीत होता है यदि वर्तमान में

(१) यह सब द्वितीय पाद के ४ चतुर्थ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट है।

(२) यह घट वर्तमानावस्थावाला है।

(३) घट अतीतावस्थावाला है, आदि पद से घट अनागतावस्थावाला है यह भी जान लेना।

ही जो धर्म उसी को धर्मत्व मानोगे तो उत्तरकाल में चित्त को रागधर्मवाला न होना चाहिये क्योंकि अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति नरशृंगवत् असंभव है, (१) इस से क्रोधकाल में भी राग अनागतावस्थासे विद्यमानहै, यह अवश्य सिद्ध हुवा तैसे यहां भी जान लेना (२)।

अर्थात्—विशेष के संग विशेष का विरोध होता है सामान्य के संग नहीं यह पीछे कह चुके हैं इस से परस्पर विरोध से भी तीनों अवस्था का एककाल में असंभव नहीं होसकता औ यह वर्तमान है औ यह अतीत है औ यह अनागत है यह व्यवहारतो विशेष को लेकर होता है इस से व्यवहार संकर भी नहीं होता है (३)।

यह जो पूर्व लक्षणपरिणाम कथन किया है सो घट-आदिरूप धर्म का ही है कुछ मृत्तिकारूप धर्मी का नहीं क्योंकि घटरूप धर्म ही तिस२ अवस्था को प्राप्त हुए अन्य अवस्थावाले से भिन्नरूपता कर कहे जाते हैं कुछ मृत्तिका-रूप धर्मी से भिन्नरूपता कर नहीं, क्योंकि मृत्तिका रूपधर्मी-सर्वअवस्था में अनुगत है।

अर्थात्—जैसे एक ही रेखाविशेष तिस तिस स्थान के भेद से अर्थात् शत के स्थान में शत, दश के स्थान में दश, औ एक के स्थान में एक इत्यादि भेद से भेदवाली हो जाती है औ वास्तव से एकही है जैसे वा एक ही स्त्री संबन्धियों

---

(१) इसी से ही इस मत में सत्कार्य्यवाद माना जाता है।

(२) यह सब १७२ पृष्ठ पर स्पष्ट है, उसी को फिर स्पष्ट करते हैं (अर्थात्— इत्यादि से।

(३) अर्थात् एक काल में तीनों व्यवहार नहीं हो सकते हैं।

के भेद से (१) माता, भगिनी पुत्री इत्यादि भेदवाली हो जाती है तैसे धर्मी एक ही है परन्तु तिस तिस अवस्था के भेद से भिन्नरूपताकर प्रतीत होता है कुछ वास्तव से नहीं।

यहां पर कोई यह आक्षेप करते हैं कि यदि धर्मी सर्वदा विद्यमान रहता है तो वह भी चेतन की तरह कूटस्थनित्य हो जायगा।

अर्थात्—आप का यह सिद्धान्त है कि जिस काल में जलाहरणादि (२) कार्य्य को न करता हुवा घट मृत्पिण्ड में विद्यमान हैं उस काल में वह घट अनागत कहा जाता है औ जिस काल में जलआहरणादि कार्य्य को करता हुआ विद्यमान है उस काल में वह घट वर्तमान कहा जाता है औ जिसकाल में जलआहरण आदि कार्य्य को संपादन कर उस कार्य्य से निवृत्त होकर कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है उसकाल में वह घट अतीत कहा जाता है, एवं च आपके मत में सर्वदा ही घटरूप धर्म को विद्यमान होने से पुरुष की तरह घटादि भी कूटस्थ नित्य होने चाहिये।

इस का परिहार यह है कि सर्वदा विद्यमान होना ही कूटस्थनित्यत्व नहीं किन्तु अपरिणाम हो कर सर्वदा एकरस रहने का नाम कूटस्थ नित्यता है सो यह नित्यता महत्तत्व आदि यावत् कार्य्य में बाधित है क्योंकि इनको सर्वदा विद्यमान होने पर भी तिस तिस रूप से आविर्भाव तिरोभाव होने से यह सब परिणामी हैं अर्थात् गुणी प्रधान यद्यपि

(१) संबन्धियों के भेद से=पुत्र भ्राता पिता आदि के भेद से।

(२) जल का अपने उदर में प्रवेश कर लेना।

नित्य है तथापि गुणों की विमर्द विचित्रता(१)से वह एकरस नहीं है किन्तु परिणामी है, अतः कूटस्थ नित्य नहीं।

भाव यह है कि—जैसे आविर्भावतिरोभाव वाले पृथ्वी आदि पंच भूतों को शब्द आदि पंचतन्मात्रा का कार्य्य होने से पृथ्वी आदि की अपेक्षा से शब्दादि को अतिरोभावी (२) कहा जाता है तैसे आविर्भावतिरोभावशील महत्तत्व को प्रधान का कार्य्य होने से महत्तत्व की अपेक्षा से प्रधान को अतिरोभावी जान लेना, इस प्रकार सर्वत्र ही कार्य्य की अपेक्षा से कारण अतिरोभावी औ सर्वदा विद्यमान कहा जाता है कुछ कूटस्थनित्यता को ले कर नहीं, जैसे (३) कि मृत्तिकारूप धर्मी का पहले पिण्डाकार धर्म होता है फिर घटाकार धर्म होता है परन्तु मृत्तिका सर्वदा अनुगत रहती है इस से उस को धर्मी कहा जाता है तैसे घट भी अनागत लक्षण को परित्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होने से लक्षणपरिणामधर्मवाला होने से धर्मी है इस प्रकार अपने २ धर्म की अपेक्षा से सवी धर्मी जान लेने।

यद्यपि सूत्रकार ने तीन परिणाम कहे हैं तथापि यह सब परिणाम धर्मी के स्वरूप में ही अनुगत है इस से यह सब धर्मपरिणाम हीं जानने।

यद्वा इन सब परिणामों को धर्मी की अवस्था होने से धर्मी के ही यह अवस्थापरिणाम जानने अर्थात् वास्तव से यह सब धर्मी के ही धर्मपरिणाम वा अवस्थापरिणाम कहे हैं औ

(१) गुणों का न्यूनाधिक्य (कम जियादे) हो जाना विमर्द कहा जाता है।
(२) नाश से रहित।
(३) अब धर्म धर्मिभाव आपेक्षिक कहते हैं (जैसे) इत्यादि से।

अवान्तरभेद को लेकर सूत्रकार ने तीन परिमाण कहे हैं, यही भाष्यकारों का सिद्धान्त है। परिणाम का लक्षण इस सूत्र के व्याख्यान के आरम्भ में कह चुके हैं इस से फिर कहने की कुछ आवश्यकता नहीं ॥ १३ ॥

इदानीं जिस धर्मी के यह तीन प्रकार के परिणाम कहे हैं उस धर्मी का लक्षण कथन करते हैं—

तत्र--(१)

सू० शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

भाषा--(शान्त) अतीत, (उदित) वर्तमान, (अव्यपदेश्य) भविष्यत् जो धर्म, इन में जो (अनुपाती) अनुगत होनेवाला होवे वह धर्मी कहा जाता है।

अर्थात्--भूतवर्तमानभविष्यत् जो घटआदि धर्म हैं तिन में जो सर्वदा अनुगत मृत्तिकारूप कारण वह धर्मी है।

मृत्तिकादि (२) द्रव्य में रहनेवाली जो पिंड घट आदि की उत्पत्ति की योग्यतारूप शक्ति वह धर्म है औ मृत्तिका धर्मी है।

यद्यपि घटोत्पत्ति की योग्यतारूप शक्ति का मृत्तिका में प्रत्यक्ष से अनुभव नहीं होता है तथापि कार्य्य की उत्पत्ति में जो यह नियम देखने में आता है कि मृत्तिका से ही घट का होना औ वालू से न होना एवं तंतु से ही पट का होना

---

(१) 'तत्र' इस पद का भाष्यकारों ने अध्याहार किया है, औ कोई इस पद को सूत्र के अन्तर्गत मानते हैं, तिन धर्म औ धर्मियों के मध्य में, अथवा परिणाम औ परिणामियों के बीच में से यह इस पद का अर्थ है।

(२) बिना धर्म के ज्ञान से धर्मी का ज्ञान होना असंभव है इस से पहिले धर्म का स्वरूप कहते हैं (मृत्तिकादि) इत्यादि से—

औ मृत्तिका से न होना यह नियम ही अनुमान द्वारा यह बोधन कराता है कि मृत्तिका में घट की उत्पत्ति की योग्यता-रूप शक्ति है बालू में नहीं, एवं च घट का होना ही मृत्तिका में घट की उत्पत्ति करने की योग्यतारूप शक्ति में प्रमाण जानना, सो यह जो योग्यता रूप धर्म है वह अनेक प्रकार का है कुछ एक नहीं, इसी से ही एक मृत्तिका के-चूर्ण-पिंड-घट-रूप अनेक परिणाम देखने में आते हैं।

तहां (१) मृत्तिकारूप धर्मी से पहिले चूर्णरूप विकार होता है फिर पिण्डरूप औ फिर घटरूप होता है तहां जिस काल में चूर्ण से पिंड बनाया जाता है तिस काल में वर्त-मानदशा को प्राप्त हुआ वह पिंड अतीतावस्थावाले चूर्ण से औ अनागतावस्थावाले घट से भिन्न कहा जाता है कुछ मृत्तिका से भिन्न नहीं क्योंकि मृत्तिका सर्व में अनुगत है औ जब वह पिंड भी अव्यक्तरूप से मृत्तिकारूप था तब उस का किसी से भेद नहीं होता है क्योंकि मृत्तिकारूप धर्मी सर्व में अनुगत है, तथाच-चूर्ण-पिंड-घटरूप धर्मों के भिन्न होने पर भी जो सर्व में अभिन्नरूप से अनुगत मृत्तिका वह धर्मी हुई।

तिस इस मृत्तिकारूप धर्मी के शान्त, उदित, अव्यपदेश्य, यह तीन प्रकार के धर्म हैं, तहां जो अपना कार्य्य कर के उप-राम हो गये हैं सो शान्त (२) कहे जाते हैं, औ जो धर्म अपना कार्य्य कर रहे हैं सो वर्तमान कहे जाते हैं, इतना विशेष यहां पर यह भी है कि अनागत से अनन्तर वर्तमान होता

(१) इनअनेक प्रकार के परिणामों को स्पष्ट करते हैं " तहां " इत्यादि से।
(२) अर्थात्—अपने कारण में लीन हुये।

है औ वर्तमान से अनन्तर अतीत होता है औ अतीत से अनन्तर फिर वर्तमान नहीं होता है क्योंकि अनागत औ वर्त्तमान का ही पूर्व पश्चात् होना देखने में आता है अतीत औ वर्तमान का नहीं, एवं जो कारण में सूक्ष्मरूप से अवस्थित हैं वह अव्यपदेश्य हैं, इन्ही को अनागत कहते हैं।

अर्थात्—सर्ववस्तुओं में जो सर्वविकारजनन की योग्यतारूप शक्तियां सोई सूक्ष्मरूप से वस्तु में विद्यमानहुई अव्यपदेश्य पद कर के वाच्य हैं।

ऐसे ही पूर्वले आचार्य्यों ने कहा है "जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं, तथा स्थावराणां जंगमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु" इति (१)।

अर्थात्—बनस्पति लता गुल्मादिकों के फल फूल मूल पल्लव में जो रस गन्धादि का वैचित्र्य देखने में आता है सो जल औ भूमिका ही परिणाम है नहीं तो फलादिकों में विलक्षण रस आदि का होना वाधित हो जायगा क्योंकि असत् का आविर्भाव होना प्रमाण से विरुद्ध है, एवं च जल और भूमि में सूक्ष्मरूप से विद्यमान जो फलादिकों में रस आदिविकारजननशक्तिरूपयोग्यता सोई अव्यपदेश्यपद का वाच्य है यह सिद्ध हुवा, इसी प्रकार स्थावरों का परिणाम जङ्गमों में औ जङ्गमों का परिणाम स्थावरों में देखने में आता है, तहां सेव, अंगूर, नारंगी आदि के भक्षण से पुरुषों में विलक्षणरूपादि संपत्ति का हो जाना जङ्गमों में स्थावरों

---

(१) स्थावर=वृक्षादिकों में जलभूमि के परिणाम निमित्तक ही रसादिकों की विचित्रता दृष्ट है, इसी प्रकार स्थावरों की जङ्गमों में औ जङ्गमों की स्थावरों में विचित्रता दृष्ट है, यह अक्षरार्थ है, इस को स्पष्ट करते हैं, (अर्थात्) इत्यादि से—

का परिणाम है, श्रौ पुरुष के रुधिर सेचन से दाड़िम फल (अनार) का तालफल सदृश हो जाना स्थावरों में जङ्गमों का परिणाम है, इस प्रकार सर्व वस्तुओं में सर्वविकार जनन की शक्तिरूप योग्यता जान लेनी, यद्यपि सर्व को सर्वशक्तिवाला होने से सर्व वस्तुओं से सर्वदा ही सर्वदेश में सर्व की उत्पत्ति होनी चाहिये तथापि देश, काल, आकार, निमित्त, आदि सहकारी कारणों के अभाव से सर्वत्र सर्व से सर्व का संभव नहीं हो सकता।

भावार्थ—यद्यपि पृथ्वी में केशर जनन की शक्ति है तथापि कश्मीरादिदेश उस का सहकारी है इस से अन्य देश में केशर की अभिव्यक्ति नहीं होती।

एवं आम्रवृक्ष में (१) जो फलजनन की शक्ति है उस का काल सहकारी है इस से हेमन्तकाल में आम्रों की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसी प्रकार मृगी में मनुष्यरूप आकार का आविर्भाव न होने से मृगी मनुष्य को नहीं उत्पन्न करती औ पुण्यरूपानिमित्त के आविर्भाव न होने से पापी सुख-नहीं भोग सकता।

एवं च सर्ववस्तुओं में सूक्ष्मरूप से स्थित जो वस्तु वह अव्यपदेश्यपद का वाच्य है यह सिद्ध हुआ। इन शान्त, उदित, अव्यपदेश्य रूप धर्मों में जो अनुगत मृत्तिकादि सो धर्मी कहा जाता है, जो बौद्ध लोक धर्मधर्मिभाव को न मान कर केवल क्षणिकविज्ञान मात्र को ही पदार्थ मानते हैं उन का

(१) इसप्रकार देश को सहकारी कह कर अब काल को सहकारी दिखाते हैं, (एवं आम्र) इत्यादि, इसीप्रकार आगे के दोनों उदाहरणों में यथाक्रम आकार औ निमित्त को सहकारी जानलेना।

मत पूर्व (†) निराकरण कर चुके हैं इस से फिर यहां कहने की आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

इस प्रकार धर्मी का प्रतिपादन कर इदानीं एक धर्मी के अनेकपरिणाम होने में कारण कहते हैं—

सू० क्रमाऽन्यत्वं परिणामाऽन्यत्वे हेतुः ॥१५॥

भाषा—(परिणामाऽन्यत्वे) परिणामों के भेद में (क्रमाऽन्यत्वं) क्रमों का भेद (हेतुः) कारण है,

अर्थात्—पहिले मृत्तिका का चूर्णरूप से परिणाम होता है फिर पिंडरूप से औ फिर घटरूप से औ फिर फूटने के अनन्तर कपालरूप से फिर कपालिकारूप से औ फिर कणरूप से होता है यह जो एक मृत्तिकारूप धर्मी का परिणामान्यत्व अर्थात् अनेक भिन्न भिन्न परिणामों का होना इस में क्रमान्यत्व अर्थात्–चूर्ण पिंड घट का जो पूर्वापरीभूतरूप (१) क्रमभेद सोई कारण है।

भाव यह है कि—एक ही मृत्तिका की जो चूर्ण-पिण्ड घट-कपाल-कण-आदि आकार से परिणाम परंपरा सो सर्व को प्रत्यक्ष ही क्रमवाली देखने में आती है, क्योंकि चूर्ण औ पिंड का जो आनन्तर्य्यरूप क्रम है वह अन्य है औ पिण्ड तथा घट का जो आनन्तर्य्य वह अन्य है, एवं घट औ कपाल का जो आनन्तर्य्य-वह अन्यहै एवं कपाल औ कण का भी आनन्तर्य्य अन्य है यह जो आनन्तर्य्यरूपक्रम का अनेक प्रकार का भेद है सोई परिणामभेद का संपादक है, अर्थात् यह क्रमभेद ही परिणामभेद का कारण है।

(†) प्रथमपाद के ३२ सू०—

(१) आगे पीछे होना रूप।

तहां जिस धर्म के अनन्तर जो धर्म होता है सो धर्म तिस का क्रम कहा जाता है, जैसे पिण्डरूप धर्म से अनन्तर घटरूप धर्म को होने से घट पिण्ड का क्रम है, इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

यह जो चूर्ण--पिण्ड--घटादिरूप क्रम प्रदर्शन किया है इस को धर्मपरिणामक्रम कहते हैं।

औ घट का अनागतभाव से वर्तमान भाव हो जाना औ पिण्ड का वर्तमानभाव से अतीतभाव हो जाना यह लक्षणपरिणामक्रम है, अतीतभाव से अनन्तर अन्यपरिणाम का असंभव होने से अतीत के क्रम का अभाव जानना क्योंकि दो धर्मों के पूर्वपरभाव होने से ही क्रम होता है ऐसे ही नहीं, सो अतीत को किसी से पूर्वभाव न होने से अतीत के क्रम का अभाव है अतः अनागत औ वर्तमान इन दोनों लक्षणों का क्रम जानना।

ऐसे ही नूतन घट में जो क्षणपरंपरा के अनुसारी पुराणता देखने में आती है सो घट का अवस्थापरिणामक्रम जान लेना, यद्यपि धर्मपरिणामक्रम की तरह अवस्थापरिणामक्रम प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता है तथापि अतिपुराणता को देख कर अनुमान से उस का ज्ञान जान लेना।

अर्थात् (१) यत्न से कोठे में रक्खे हुये व्रीहि आदि अन्न अनेक वर्ष से अनन्तर निकासने से प्रशिथिल अवयव हुये हस्त के स्पर्शमात्र से ऐसे धूर सरीखे हो जाते हैं कि मानो फिर परमाणुभाव को वह प्राप्त हो गये हैं यह जो इन का प्रशिथिलावयव होने से परमाणु भाव का हो जाना है सो

(१) सो अनुमान प्रकार प्रदर्शन करते हैं—(अर्थात्) इत्यादि से।

एकवारगी होना तो असंभव है किन्तु क्षणपरंपरा से सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम रूप क्रम से होता है यही माना जायगा, इस प्रकार जो क्षणपरंपराक्रम से प्रतिक्षण वस्तु में पुराणेपन का होना यह अवस्था परिणाम है ।

तहां इतना विशेष है कि धर्म औ लक्षण परिणामतो कादाचित्क(१) होता है औ यह अवस्थापरिणाम प्रतिक्षण में होताही रहता है औ स्थूलभाव को प्राप्त हुआ प्रकट होता है।

यह जो तीनप्रकार के क्रमों का भेद कहा है सो धर्म-धर्मी के भेद की अपेक्षा को ले कर कहा गया है ।

अर्थात्–यह सब धर्मधर्मीभाव आपेक्षिक है कुछ वास्तव से यह नियम नहीं है कि यह धर्म है औ यह धर्मी है क्योंकि जिस मृत्तिकारूपधर्मी के तीनपरिणाम कहे गयेहैं वह मृत्तिका भी गन्धतन्मात्र का धर्मही है, एवं वह गन्धतन्मात्र जो मृत्तिकाकी अपेक्षा से धर्मी है सो भी अहङ्कार का धर्म है (२)।

एवं च प्रधानही मुख्य धर्मी है औ उस धर्मी के ही यह सब परिणाम हैं, औ यत्किंचित् भेद को लेकर तीन प्रकार के कहेगये हैं औ वास्तव से यह एक धर्मी के ही धर्मपरिणाम का विस्तारजानना यहसिद्ध हुआ ।

जैसे यह बाह्य पदार्थों में अनेक धर्मपरिणाम हैं ऐसे चित्त में भी अनेक प्रकार के धर्मपरिणाम विद्यमान हैं, तहां(३) चित्त के धर्म दोप्रकार के हैं एक तो परिदृष्ट अर्थात्

---

(१) कादाचित्क=कभी २ होनेवाला, अर्थात् प्रतिक्षण में न होनेवाला है ।

(२) एवं अहंकार रूप धर्मी भी महत्तत्त्व का धर्म है, औ महत्तत्त्व भी प्रधान का धर्म है, इस प्रकार से आपेक्षिक धर्मधर्मी भाव है कुछ नियत नहीं है ।

(३) "चित्तस्य द्वये धर्मा" इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं 'तहां' इत्यादि से ।

प्रत्यक्षरूप औ एक अपरिदृष्ट अर्थात्–परोक्षरूपहैं, तहां जो प्रमाण (१) आदि चित्त की वृत्तियां हैं वह प्रत्यक्षरूप हैं औ निरोधआदि जो चित्त के धर्म हैं वह परोक्षरूप हैं क्योंकि निरोध आदिक शास्त्र वा अनुमानद्वारा ही परिज्ञातहोते हैं कुछ प्रत्यक्ष से नहीं, सो निरोधआदि धर्म सातहैं, निरोध १ धर्म २ संस्कार ३ परिणाम ४ जीवन ५ चेष्टा ६ शक्ति ७। ऐसेही व्यासदेव जी ने कहा है यथा–"निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनं, चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः" इति।

तहां चित्तवृत्तियों का निरोधरूप जो असंप्रज्ञात अवस्था है सो केवल योगशास्त्र से प्रतीतहोने से आगमगम्य है (२) अतः निरोधरूप चित्तधर्म परोक्ष है, एवं पुण्यपापरूप जो चित्त के धर्म हैं वह भी आगमगम्य होने से वा सुखदुख के भोगदर्शन से अनुमेय (३) होने से परोक्षरूप ही हैं, एवं स्मृतिद्वारा संस्कारों का अनुमान होने से संस्कार (४) भी अप्रत्यक्षरूप हैं।

एवं जीवनरूप जो चित्त का धर्म है सो भी श्वासप्रश्वास द्वारा अनुमेय होने से अप्रत्यक्षरूप है।

एवं प्रतिक्षण जो चित्त के अनेकप्रकारके परिणाम हैं सो भी अप्रत्यक्ष हैं क्योंकि चित्त को त्रिगुणात्मक होने से औ गुणों के स्वभाव को अतिचंचल होने से चित्त का परि-

---

(१) आदि शब्द से विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति राग द्वेषादि वृत्तियों का ग्रहण करलेना।

(२) जो केवल शास्त्र द्वारा पदार्थ परिज्ञात होय वह आगमगम्य कहा जाता है।

(३) सुखदर्शन से पुण्य का औ दुखदर्शन से पाप का अनुमान होता है।

(४) इसी प्रकार जो चित्त की संस्कारशेषावस्था है सो भी अनुमेय होने से अप्रत्यक्ष ही है यह प्रथमपाद के ५१ सूत्र में देखो।

णाम अनुमेय है, एवं चित्त की जो चेष्टा (क्रिया) है सो भी अप्रत्यक्ष है क्योंकि वह भी तिस तिस इन्द्रिय के साथ ज्ञान का हेतु जो संयोग है उस से अनुमेय ही है।

एवं चित्त में जो कार्य्यों की सूक्ष्मावस्थारूप शक्ति है सो भी परोक्ष है क्योंकि वह भी स्थूलकार्य्य के ज्ञान से अनुमेय (१) है ॥ १५ ॥

इदानीं इस पाद की समाप्ति पर्य्यन्त धारणादिं में निष्ठावाले संयमी योगी को जिज्ञासित पदार्थ के साक्षात्कारार्थ संयम का विषय औ संयमसिद्धि की (†) ज्ञापक विभूतियां विवेकपूर्वक प्रदर्शन कियी जावेंगी, तहां प्रथम पूर्वउक्त परिणामत्रयविषयक संयम करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है सो निरूपण करते हैं—

सू० परिणामत्रयसंयमादतीताऽनागतज्ञानम् ॥१६॥

भाषा—(परिणामत्रयसंयमाद्) धर्म—लक्षण—अवस्था-संज्ञक तीनों परिणामों में धारणा—ध्यान—समाधि करने से (अतीताऽनागतज्ञानम्) अतीत औ अनागत पदार्थों का योगी को साक्षात्कार हो जाता है।

अर्थात् (२) तीनों परिणामों के विषयक संयम करने से उन परिणामों का पहिले साक्षात्कार होता है फिर उन परिणामों में अनुगत जो अतीत अनागत धर्म उन का ज्ञान

---

(१) अर्थात् सत्कार्य्य वाद सिद्धान्त होने से स्थूल रागादिकों को देख कर सूक्ष्म रागादि का अनुमान किया जाता है। (†) जतानेवाली।

(२) जिस विषयक संयम किया गया है उसी का साक्षात्कार होना उचित है अन्य का नहीं, एवं च परिणामों के विषयक संयम करने से अतीतादि का साक्षात्कार कैसे, इस आशङ्का को धारण करते हुये भाष्य का भावार्थ कहते हैं—"अर्थात्" इत्यादि से—

होता है, इस प्रकार परंपरा से परिणामत्रयसंयम को अतीतानागतसाक्षात्कार का हेतु जानना ॥ १६ ॥

सू० शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

भाषा--(शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्) शब्द-अर्थ-ज्ञान इन तीनों का परस्पर अध्यास होने से (संकरः) परस्पर मेल प्रतीत होता है, परन्तु जो पुरुष सूक्ष्मदृष्टि से इन तीनों के विभाग को जानकर उस विषयक संयम करता है उस पुरुष को (तत्प्रविभागसंयमात्) तिस विभागविषयक संयम करने से (सर्वभूतरुतज्ञानम्) संपूर्ण जो पशु पक्षि आदि भूत हैं उन सब की वाणी का परिज्ञान हो जाता है।

जिस प्रकार शब्द, अर्थ, ज्ञान इन तीनों का परस्पराध्यास होने से सङ्कर है वह प्रकार प्रथमपाद में स्पष्ट है, औ जिस प्रकार यह तीनों विभिन्न हैं वह भी वहां पर स्पष्ट है (१)।

तहां जो योगी विवेक से इन तीनों के संकर को विकल्परूप होने से मिथ्या जान कर इन तीनों के विभाग में संयम कर (गो शब्द कण्ठ में विद्यमान, औ उदात्त, अनुदात्त, मन्द, उच्चतादि धर्मवाला है औ गो शब्द का अर्थ भूमि में स्थित शृङ्गादिविशिष्ट व्यक्ति है औ गो शब्द का ज्ञान चित्त में स्थित औ प्रकाश रूप है,) इस प्रकार दृढ़ संयम जन्य यथार्थ ज्ञानवाला होता है वह निखिल प्राणियों की वाणी के अर्थ का परिज्ञाता हो जांता है।

---

(१) प्रथमपाद के १०३ पृष्ठपर ४२ सूत्र के व्याख्यान में यह ६.न स्पष्ट है।

अर्थात्—सजातीय तो क्या विजातीय पशु पक्षी आदिकों की भी वाणी का अर्थज्ञान उस को हो जाता है ।

यहां पर भाष्यकारों ने प्रसङ्ग से कुछ स्फोटवाद का विचार किया है परन्तु योगजिज्ञासुओं को अनुपयुक्त जान कर उसे छोड़ दिया है ॥ १७ ॥

सू० संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

भाषा–(संस्कारसाक्षात्करणात्) संस्कारविषयक संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार होने से (पूर्वजातिज्ञानं) पूर्व जाति का परिज्ञान होता है ।

अर्थात्—जितने जन्म पूर्व व्यतीत हो चुके हैं उन सब का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ।

भाव यह है कि–संस्कार दो प्रकार के होते हैं एक तो वासनारूप जो कि स्मृति औ क्लेशों के हेतु हैं (१) औ एक धर्माऽधर्मरूप जो कि जाति-आयु-भोग-के हेतु हैं, यह सर्व संस्कार पूर्वले जन्मों में अपने२ कारणों से निष्पन्न हुये चित्त में रहते हैं, औ परिणाम चेष्टादि की तरह अप्रत्यक्षरूप हैं, (२) इन संस्कारों के विषयक संयम करने से संस्कारों का साक्षात्कार होता है ।

यद्यपि संस्कारों के विषयक संयम करने से संस्कारों का ही साक्षात्कार होना उचित है पूर्व जन्म का नहीं क्योंकि अन्यविषयक संयम से अन्य का साक्षात्कार होना

(१) तहां प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्य संस्कार स्मृति के हेतु हैं, औ अविद्या आदि संस्कार अविद्या आदि क्लेशों के हेतु हैं ।

(२) परिणामचेष्टादि अप्रत्यक्ष धर्मों का निरूपण १५ सूत्र की व्याख्या के अन्त में स्पष्ट है ।

अनुभव से विरुद्ध है तथापि देश (१) काल निमित्त के ज्ञान से बिना संस्कारों के साक्षात्कार का असंभव होने से संस्कारों के साक्षात्कार का होना ही पूर्वजन्म के ज्ञान का आक्षेपक जानना।

अर्थात्— (२) यथा दिवाअभोजी (३) को रात्रि भोजन से विना पीनता (*) की अनुपपत्ति होने से पीनता रात्रि भोजन का आक्षेपक है तथा पूर्व जन्मादिकों के ज्ञान से विना संस्कारों का साक्षात्कार अनुपपन्न होने से संस्कार का साक्षात्कार ही पूर्व जन्म के ज्ञान का आक्षेपक है।

यहां पर भाष्यकारों ने "परत्राऽप्येवमेव संस्कार साक्षात्करणात् परजाति संवेदनम्" यह कहा है।

स्वसंस्कारों में संयम द्वारा अन्य पुरुषों के संस्कारों का साक्षात्कार होने से अन्यपुरुषों के भी पूर्वजन्म का ज्ञान योगी को हो सकता है, यह इस का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने किया है, औ अनागत अवस्था से विद्यमान आगामिजन्मों के संस्कारों के साक्षात्कार से आगामिजन्म का ज्ञान होता है यह इस का अर्थ विज्ञानभिक्षु ने किया है, इन दोनों

---

(१) देश=जिस स्थान में जन्म हुआ है, काल=जिस काल में पदार्थों का अनुभव हुआ है, निमित्त=जिस शरीर इन्द्रियादि के सबन्ध से ज्ञान हुआ है, इन सब का ज्ञान न होने से केवल संस्कारों के ज्ञान का होना असंभव है।

(२) अब जिस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार पूर्वजन्म के ज्ञान का आक्षेपक अर्थात्—साधक है सो प्रकार निरूपण करते हैं (अर्थात्) इत्यादि से—

(३) दिन में न भोजन करनेवाले को। (*) पीनता=स्थूलता, मुटाई)

अर्थों के युक्ताऽयुक्त में केवल योगी का ही अनुभव शरण है इस से विशेष विचार की यहां पर आवश्यकता नहीं है।

अब जो भाष्यकारों ने यहां पर इस पूर्वोक्त अर्थ में विश्वास के लिये आवट्य नामक योगीश्वर का योगिराज जैगीषव्य के संग संवाद उपन्यास किया है उस का निरूपण करते हैं (एक भगवान् जैगीषव्य नामक योगेश्वर थे जो कि संस्कारों के साक्षात्कार से दशमहाकल्पों में व्यतीत हुये अपने जन्म परिणाम परंपरा का अनुभव करते हुये विवेकज ज्ञान संपन्न थे, औ एक भगवान् आवट्य नामक योगिराज थे जो कि योगबल से स्वेच्छामय दिव्यविग्रह को धारण कर विचरते थे।

किसी समय में इन दोनों महानुभावों का संगम हो गया तब आवट्य जी ने जैगीषव्य से यह पूछा कि दश महाकल्पों में देवमनुष्यादि योनियों में उत्पन्न हुये आपने जो अनेक प्रकार के नरक तिर्य्यग् योनियों में औ गर्भ में दुःखों का अनुभव किया है सो सब आप को परिज्ञात है क्योंकि आप को भव्य (१) औ अनभिभूत बुद्धिसत्त्व होने से निखिल पूर्वजन्मों का परिज्ञान है, सो आप यह कथन करो कि दशमहाकल्पों में जो आप ने अनेक प्रकार के जन्म धारे हैं इन जन्मों में आप ने सुख औ दुःख में से अधिक किस को जाना अर्थात् संसार सुखबहुल है वा दुःखबहुल, तब आवट्यभगवान् के

(१) भव्य नाम शोभन का है अर्थात् रजतमरूपमल से रहित हो, इसी से ही आप के बुद्धिनिष्ठ सत्त्व को रजतम ने तिरस्कृत नहीं किया है अर्थात् दबाया नहीं है।

प्रति जैगीषव्यजी ने यह कहा कि इन दशमहाकल्पों में अनेक प्रकार के नरक तिर्य्यग् योनियों में दुखों को अनुभव करते हुये वारंवार देव औ मनुष्यादि योनियों में उत्पन्न हुये मैंने जो अनुभव किया है उन सब को दुःखरूप ही जानता हूं, अर्थात्–विषयसुख को दुःखरूप होने से संसार दुःख बहुल ही है सुखबहुल नहीं, तब फिर भगवान् आवट्य जी ने यह कहा कि हे जैगीषव्यमुने ! दीर्घ आयुवाले आप को जो यह योगबल से प्रधानवशित्व (१) औ अनुत्तम संतोषसुख का लाभ हुआ है क्या यह भी दुःखपक्ष में निक्षिप्त है,

तब भगवान् जैगीषव्य बोले कि हे आवट्यमुने ! विषयसुख की अपेक्षा से ही यह संतोषसुख अनुत्तम कहा जाता है औ कैवल्य की अपेक्षा से तो यह भी दुःखरूप ही है क्योंकि यह जो सन्तोष है सो बुद्धिसत्त्व का धर्म है औ जो २ बुद्धि का धर्म है सो सब त्रिगुणात्मकप्रत्यय होने से हेयपक्ष में पतित है।

अर्थात्–बुद्धि का धर्म होने से सन्तोष भी मुख्य सुखरूप नहीं है, (२) जो कि सूत्रकार ने "सन्तोषादनुत्तमःसुखलाभः" इस सूत्र से सन्तोष को अनुत्तमसुख का हेतु कहा है उस का तात्पर्य्य यह है कि—रज्जु की तरह पुरुषों को बांधने-

---

(१) प्रधानवशित्व=प्रकृति को अपने अधीन करलेना, इस सामर्थ्य के होने से ही योगी ईश्वर कहा जाता है क्योंकि प्रधानवशित्व होने से जो चाहे सो योगीकर सकता है।

(२) जब कि सन्तोष भी मुख्यसुखस्वरूप नहीं है तो सूत्रकार ने उस को अनुत्तमसुख क्यों कहा, इसका समाधान करते हैं (जोकि) इत्यादि से—

वाली जो दुःखस्वरूप तृष्णारूप तन्तु है तिस तृष्णारूप दुःख का सन्तोष से नाश होता है औ फिर तृष्णा के अभाव से चित्त पीड़ा से रहित हुआ प्रसन्न हो जाता है, इस प्रकार तृष्णा की निवृत्तिद्वारा सर्वानुकूल सन्तोषसुख को उत्तम कहा है कुछ वास्तव से नहीं क्योंकि कैवल्य की अपेक्षा से यह सब दुःखरूप ही है) ॥ १८ ॥

सू० प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भाषा—(प्रत्ययस्य) पर चित्त विषयक संयम करने से (परचित्तज्ञानम्) दूसरे के चित्त का साक्षात्कार होता है ।

यद्यपि प्रत्यय नाम केवल चित्त का है कुछ परचित्त का नहीं तथापि पराये चित्त का साक्षात्कार रूप फल कथन से यहां पर प्रत्ययपद का अर्थ परचित्त जानना क्योंकि जिस विषयक संयम किया जाता है उसी का ही साक्षात्कार होना युक्त होता है अन्य का नहीं ॥ १६ ॥

जैसे संस्कारों के साक्षात्कार से पूर्वजन्म का साक्षात्कार कहा है तैसे परचित्त के साक्षात्कार से विषय सहित चित्त का साक्षात्कार होता है वा केवल चित्त का, इस पर कहते हैं—

सू० नच तत्सालम्बनं(*)तस्याऽविषयीभूतत्वाद्॥ २०॥

भाषा—(तत्) सो जो परचित्त ज्ञान है वह (सालम्बनं नच) विषय सहित (१) चित्त का नहीं है क्योंकि (तस्याऽविषयीभूतत्वाद्) तिस परचित्त के विषय को संयम का

(*) यह सूत्र नहीं किन्तु भाष्य है, यह योगवार्तिककार का भ्रम जानना क्योंकि भोज वृत्ति कार औ वाचस्पति मिश्र ने इस को सूत्र माना है ।

(१) आलम्बन नाम रागादि विषयों का है ।

अविषयीभूत होने से, अर्थात्—इस पुरुष का चित्त रागयुक्त है वा द्वेषयुक्त है एतावन्मात्र योगी को ज्ञान होता है औ इस विषय में राग वा द्वेषवाला है यह विशेष ज्ञान योगी को नहीं होता है।

भाव यह है कि—पराये चित्त का जो (आलम्बन) विषय है अर्थात् जिस विषय विषयक परचित्त रागयुक्त है सो विषय योगी के चित्त ने विषय नहीं किया है किन्तु परचित्त ही योगी के चित्त का विषय है इस से पराये चित्त का ही योगी को ज्ञान होता है पर चित्त के विषय का नहीं, औ यदि विषयविशिष्ट में संयम कियाजाय तो विषय ज्ञान होना भी दुर्घट नहीं जानना ॥ २० ॥

सू० कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

भाषा—(कायरूपसंयमात्) अपने शरीर के रूपविषयक संयम करने से (तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे) तिसरूप की ग्राह्यशक्ति के रुक जाने से (चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगे) दूसरे के नेत्रजन्य प्रकाश से योगी के शरीर का संनिकर्ष न होने से (अन्तर्द्धानम्) योगी के शरीर का अन्तर्द्धान हो जाता है। अर्थात्—यह जो पाञ्च (१) भौतिक शरीर है सो रूपवाला होने से नेत्रजन्य ज्ञान का विषय होता है अर्थात् रूपद्वारा ही यह शरीर चक्षु कर के ग्राह्य होता है, जब योगी इस शरीर के रूप विषयक संयम करता है तब जो रूप में ग्राह्य शक्ति है सो प्रतिबद्ध हो जाती है, अर्थात्—चक्षु का विषय

(१) पञ्च भूतों का परिणाम विशेष।

हो जाना जो रूप में सामर्थ्य हैं सो रुक जाती है, तिस के रुकने से फिर परकीयचक्षुजन्य ज्ञान से योगी के शरीर का असंप्रयोग हो जाता है, अर्थात्—सन्मुख विद्यमान भी योगी का शरीर किसी के नेत्र का विषय नहीं होता है, इसी का नाम अन्तर्द्धान (१) सामर्थ्य है।

जैसे रूपविषयक संयम करने से योगी के शरीर के रूप को कोई नहीं देख सकता है तैसे शब्दविषयक संयम करने से शब्द की श्रोत्रग्राह्य शक्ति के रुकजाने से श्रोत्र का शब्द के संग असन्निकर्ष होने से शब्द का अन्तर्धान जान लेना, अर्थात्—जैसे योगी का रूप किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता तैसे योगी का शब्द भी किसी को सुनाई नहीं देता है, इसी प्रकार स्पर्श रस गन्ध का (२) भी अन्तर्धान जानलेना॥ २१॥

सू० सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

भाषा—सोपक्रम औ निरुपक्रम रूप जो दो प्रकार के कर्म हैं तिन विषयक संयम करने से (अपरान्तज्ञानम्) मरण का ज्ञान होता है (वा) अथवा तीनप्रकार के अरिष्टों के ज्ञान से मरणज्ञान होता है।

---

(१) अन्तर्द्धान नाम गुप्त अर्थात् छिपजाने का है।

(२) अर्थात्—जैसे योगी अपनी काया के रूप औ शब्द विषयक संयम करने से रूप औ शब्द की ग्राह्यशक्ति को प्रतिबद्ध कर देता है तैसे स्पर्श—रस—गन्ध विषयक संयम करने से तिन की भी ग्राह्यशक्ति को प्रतिबद्ध कर देता है, अर्थात् शब्दादि पांचों विषयक संयम करने से योगी के शरीर के शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध को समीपस्थित पुरुष भी विषय नहीं कर सकता है।

अर्थात्—कर्म दो प्रकार के होते हैं एक तो सोपक्रम औ एक निरुपक्रम, तहां जो कर्म अपने फल देने में प्रवृत्त हुवा बहुत फल दे चुका है औ अल्प फल देना जिस का शेष है वह सोपक्रम कर्म कहा जाता है क्योंकि (उपक्रम) फलदान रूप व्यापार से वह युक्त है औ जो कर्म वर्तमान काल में फलदान रूप व्यापार से रहित हुवा कालान्तर में फल देनेवाला है वह निरुपक्रम कर्म कहा जाता है (१)।

भाव यह है कि--यथा आर्द्र (गीला) वस्त्र विस्तार पूर्वक पसारा हुवा शीघ्र (शुष्क) सूख जाता है तथा सोपक्रम कर्म है, औ जैसे वही वस्त्र इकट्ठा कर के रक्खा हुवा देर में सूखता है तैसे निरुपक्रम कर्म जानना, अथवा जैसे शुष्क तृणों के ऊपर फेंका हुवा अग्नि चारो ओर से वायु कर युक्त हुवा शीघ्र ही तृणों का दाह कर देता है तैसे सोपक्रम कर्म जानना औ जैसे हरिततृणों पर फेंका हुवा अग्नि देर से तृणों का दाह करता है तैसे देर से फल देनेवाला निरुपक्रम कर्म जानना, इन दोनों प्रकार के कर्मों के विषयक संयम करने से योगी को मरणज्ञान होता है अर्थात्--इस देश में इस काल में मेरे शरीर का पात होगा यह योगी को दृढ़ ज्ञान हो जाता है, (अरिष्टेभ्योवा) अथवा अरिष्टों के ज्ञान से भी मरणज्ञान हो सकता है, अरिष्ट नाम सन्निहित मरण सूचक चिन्हों का है, सो अरिष्ट तीन प्रकार के हैं, आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक, तहां कानों को अंगुलि वा हस्त से बन्द करने से भीतर की

(१) अर्थात्—जल्दी फल देनेवाला कर्म सोपक्रम है औ देर से फल देनेवाला कर्म निरुपक्रम जानना।

ध्वनि का न सुनना औ नेत्रों के निमीलन होने पर भीतर अग्नि के कण तुल्य ज्योति का न प्रतीत होना आध्यात्मिक अरिष्ट हैं, औ अकस्मात् ही यमदूतों को औ अपने मृत मातापिता आदि को देखना आधिभौतिक अरिष्ट हैं, औ अकस्मात् ही स्वर्ग वा सिद्ध आदि को देखना आधिदैविक अरिष्ट हैं, इन तीनों प्रकार के अरिष्टों के होने से भी समीप मरण का ज्ञान हो जाता है।

इसी (१) प्रकार विपरीत ज्ञान हो जाना भी एक अरिष्ट जानना अर्थात्--मनुष्य लोक ही को स्वर्ग जानना औ अधर्म को धर्म तथा धर्म को अधर्म जानना यह भी सन्निहितमरण के चिन्ह हैं, एवं (२) प्रकृतिविपर्य्यय भी मरण का चिन्ह जान लेना ॥ २२ ॥

सु० मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

भाषा--(मैत्र्यादिषु) मैत्री-करुणा-मुदिता इन तीनों भावना विषयक संयम करने से (बलानि) मैत्र्यादिबल प्राप्त होते हैं।

अर्थात्--सुखी प्राणियों के विषयक जो मैत्रीभावना पूर्व विधान कियी है उस भावना का निरंतर प्रवाहरूप संयम नामक दृढ़ अभ्यास करने से पुरुष को मैत्रीबल प्राप्त होता है अर्थात्--सर्व ही जन इस के मित्र बन जाते हैं औ सर्व को वह सुखकारी हो जाता है, इसी प्रकार दुखी प्राणियों

---

(१) (विपरीतं वा सर्वम्) इस भाष्य का अनुवाद करते हैं 'इसी प्रकार इत्यादि से।

(२) कृपणोपि वदान्यः स्याद्वदान्यः कृपणो यदि प्रकृतेर्विकृतिश्चेत् स्यात्तदा पञ्चत्वमृच्छति, इत्यादि स्कंदपुराण के वचनों में जो कृपण का उदार होना औ उदार का कृपण होना आदि स्वभाव का बदलना मरण चिन्ह कहा है सो कहते हैं (एवं) इत्यादि से।

में करुणाभावना का संयम करने से करुणावल प्राप्त हो जाता है, अर्थात्--दुखितजनों के दुःख की निवृत्ति करने की सामर्थ्यवाला हो जाता है, एवं पुण्यशीलों में मुदिता भावना विषयक संयम करने से मुदितावल प्राप्त होता है, अर्थात्—चिन्तायुक्त खिन्न पुरुष को आनन्दयुक्त कर देता है।

औ (१) जो पापीजनों में उपेक्षारूप चित्त की वृत्ति है वह तो त्यागस्वरूप है कुछ भावनारूप नहीं इस से उपेक्षाविषयक भावना के अभाव से संयम का अभाव होने से उपेक्षावल की प्राप्ति का यहां पर अभाव जानना ॥२३॥

सू० बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

भाषा—हस्ती आदि के वलविषयक संयम करने से हस्ती आदि के वल प्राप्त होते हैं।

अर्थात्—हस्ति के वलविषयक संयम करने से हस्ति के तुल्य वलवाला हो जाता है औ गरुड़ के वलविषयक संयम करने से गरुड़तुल्य वलवाला हो जाता है, वायु के वलविषयक संयम करने से वायुसदृश वलवाला हो जाता है, जिस के वल में संयम करेगा तिस के वल को प्राप्त हो जाता है यह तत्त्व है ॥ २४ ॥

सू० प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

भाषा—प्रथमपाद में जो ज्योतिष्मतीनामक मन की

(१) पूर्वपाद में मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा, यह चार भावना का निरूपण होने से यहां भी चारों का फल कहना चाहिये, फिर तीन का क्यों कहा ? इस का उत्तर देते हैं (औ जो) इत्यादि से।

प्रवृत्ति निरूपण कियी है † तिस का जो आलोक (१) है उस को जिस पदार्थ में सूक्ष्म (२) वा व्यवहित वा विप्रकृष्ट में योगी संयम द्वारा न्यास करेगा तिस न्यास से सूक्ष्म आदि निखिलपदार्थों का ज्ञान योगी को हो जाता है ॥२५॥

सू० भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमाद् ॥ २६ ॥

भाषा—सूर्य्यविषयकसंयम करने से भुवन का ज्ञान होता है, अब यहां पर जिस प्रकार भाष्यकारों ने भुवन का विन्यास (३) कथन किया है सो प्रकार प्रदर्शन करते हैं।

तहां भूमि आदि सप्त लोक तथा अवीचि आदि ७ महा-नरक तथा महातल आदि सप्त पाताल यह भुवन पद का अर्थ है, औ इन का विन्यास यह है कि—अवीचि से लेकर मेरु की पृष्ठ पर्य्यन्त जो लोक है वह भूलोक है, औ मेरुपृष्ठ से ध्रुवनामक तारे पर्य्यन्त जो ग्रह नक्षत्र तारा करके चित्रित लोक है वह अन्तरिक्ष लोक है, औ इस से परे पंच प्रकार का स्वर्गलोक है, तहां भूलोक औ अन्तरिक्ष लोक से परे जो तीसरा स्वर्गलोक है वह माहेन्द्रलोक कहा जाता है, औ चतुर्थ जो महःनामक लोक है वह प्राजापत्यस्वर्ग कहा जाता है, इस से आगे जो जनलोक तपलोक सत्यलोक नामक तीन स्वर्ग हैं वह तीनों लोक ब्रह्मलोक कहे जाते हैं,

---

(†) ८८ पृष्ठ को देखें। (१) आलोक नाम सात्त्विक प्रकाश का है।

(२) सूक्ष्म=परमाणु प्रकृति आदि, व्यवहित=व्यवधान वाला पदार्थ अर्थात्=पृथ्वी के भीतर में दबा हुआ निधि आदि, विप्रकृष्ट=दूरस्थित सुमेरु आदि गिरि में होने वाले औषधि आदि। (३) ऊर्द्ध अधोरूप से स्थित।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ;
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः † ॥

यह इन लोकों का संग्रह श्लोक है ।

जिस प्रकार पृथ्वी के उपरिभाग में ६ लोक अन्य हैं इस प्रकार पृथ्वी के अधो (नीचे) भाग में १४ चतुर्दशलोक अन्य हैं, तहां सब से नीचे अवीचि नामक नरक है, उस के ऊपर महाकाल नामक नरक है जो कि मट्टी कंकड़ पाषाण कर के युक्त है, औ इस के ऊपर अम्बरीष नामक नरक है जो कि जलकर पूरित है इस के ऊपर रौरव नरक है जो कि अग्नि कर भरा हुवा है इस के ऊपर में महारौरव नरक है जो कि वायु से भरा हुवा है इस के ऊपर काल सूत्र नामक नरक है जो कि भीतर से खाली है इस के ऊपर अन्धतामिस्र नरक है जो कि अन्धकार से व्याप्त है, इन सब नरकों में वही पुरुष दुःख देने वाली दीर्घ आयु को ग्रहण कर उत्पन्न होते हैं जो कि अपने किये हुये पापकर्मों से दुःख भोगनेवाले होते हैं, इन नरकों से ऊपर महातल-रसातल-अतल सुतल-वितल तलाऽतल-पाताल यह सप्त पाताल हैं, औ आठवीं यह भूमि है जिस को वसुमती कहते हैं औ जो सातद्वीपों कर संयुक्त है औ जिस के मध्य भाग में सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराजमान है। उस सुमेरु

(†) जन-तप-सत्य-नामक तीन भूमिका वाला ब्रह्मलोक है औ तिस के तले महर्नामक प्रजापति लोक है औ तिस के नीचे स्वर्गनामक माहेन्द्रलोक है औ इस के अधोभाग में अन्तरिक्षलोक है जिस में तारा आदि विद्यमान हैं औ इस से नीचे पृथ्वी लोक है जिस में अनेक प्रकार की मानवी प्रजा विद्यमान है, यह इस श्लोक का अर्थ है ।

पर्वतराज के चारोदिशा में चार शृङ्ग हैं तहां जो पूर्वदिशा में शृङ्ग है सो रजतमय है औ जो दक्षिणदिशा में शृंग है सो वैदूर्य्यमणिमय है औ जो पश्चिमदिशा में शृंग है सो स्फटिकमणिमय है, औ जो उत्तरदिशा में शृंग है सो सुवर्णमय है ।

तहां वैदूर्य्यनामक (†) मणि की प्रभा के संबंध से सुमेरु के दक्षिण भागस्थित आकाश का वर्ण नीलकमल के पत्र की तरह श्याम है, औ पूर्वभाग में स्थित आकाश श्वेत वर्ण है, औ पश्चिम भाग में स्थित आकाश स्वच्छवर्ण है औ उत्तर भाग स्थित आकाश पीतवर्ण वाला है, अर्थात्-जैसे २ वर्णवाला जिस २ दिशा का शृंग है तैसे २ वर्णवाला तिस २ दिशास्थित आकाश का भाग है, इस सुमेरु पर्वत के ऊपर दक्षिण भाग में एक जंबू नामक वृक्ष है जिस के नाम से इस द्वीप का नाम जंबूद्वीप है ।

तिस सुमेरु के चारो तरफ सूर्य्य भ्रमण करता है इसी से ही जिस सुमेरु के भाग को सूर्य्य त्याग देता है वहां रात्रि हो जाती है औ जिस भाग को सूर्य्य भूषित करता है वहां दिन हो जाता है, इस प्रकार सर्वदा ही सुमेरु दिन औ रात्रि से संयुक्त रहता है, तिस सुमेरु की उत्तर दिशा में नील-श्वेत-शृंगवान् नामक तीन पर्वत विद्यमान हैं, यह तीनों पर्वत दो २ हजार योजन विस्तार वाले हैं, औ इन पर्वतों के बीच में जो अवकाश हैं उन में रमणक-हिरणमय-उत्तरकुरु नामक तीन वर्ष हैं (*) यह सब नौं २ हजार योजन विस्तार वाले हैं, इसी प्रकार दक्षिणभाग में दो २

(†) यह मणि नीली होती है । (*) वर्षनाम खंड का है ।

हजार योजन विस्तारवाले निषध-हेमकूट-हिमशैल नामक तीन पर्वत हैं, औ इन के बीच के अवकाशों में नौं २ हजार योजन विस्तार वाले हरिवर्ष-किंपुरुष-भारत नामक तीन वर्ष विद्यमान हैं, एवं सुमेरु की पूर्वदिशा से संयुक्त माल्यवान् नामक पर्वत है, औ उस पर्वत से समुद्र पर्य्यन्त भद्राश्व नामक देश है एवं सुमेरु की पश्चिम दिशा से संयुक्त गन्धमादन नामक पर्वत है औ उस पर्वत से समुद्र पर्य्यन्त केतुमाल नामक देश है, औ बीच के वर्ष का नाम इलावृत है इस (१) प्रकार यह संपूर्ण जंबूद्वीप सौ हजार योजन विस्तार वाला है।

तहां इतना विशेष है कि पंचाश हजार योजन विस्तार वाले देश में तो सुमेरु विराजमान है औ पंचाश हजार योजन विस्तारवाला देश सुमेरु के चारो ओर में है (२) यह सब मिल कर लक्षयोजन परिमाणवाला जंबूद्वीप कहा जाता है, यह जो सौ हजार योजन विस्तारवाला जंबूद्वीप है सो अपने से द्विगुण परिमाण वाले वलयाकार (३) क्षार समुद्र करके वेष्टित है,

इस जंबूद्वीप से आगे द्विगुण परिमाणवाला शाकद्वीप है यह भी अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार इक्षुरस के समुद्र करके वेष्टित है, इस से आगे द्विगुण परिमाण

(१) "स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बूद्वीपः" इस भाष्य का अनुवाद करतेहुये संपूर्ण जम्बूद्वीप का विस्तार प्रमाण निरूपण करते हैं—"इस प्रकार" इत्यादि से—

(२) अर्थात्—सुमेरु के चारोदिशाओं में जो अवकाश औ देश है सो पंचाश हजारयोजन विस्तारवाला है।

(३) वलयनाम कंकण का है—अर्थात्—कंकण की तरह गोल आकार वाले—

वाला कुशद्वीप है, यह भी अपने से द्विगुण परिमाण वाले (१) वलयाकार मदिरा के समुद्र करके वेष्टित है, इस से आगे द्विगुण विस्तारवाला क्रौंचद्वीप है यह भी अपने से द्विगुण परिमाण वाले वलयाकार घृत के समुद्र कर के वेष्टित है, इस से आगे द्विगुण विस्तार वाला शाल्मलद्वीप है यह भी अपने से द्विगुण परिमाणवाले वलयाकार दधि के समुद्र करके वेष्टित है इस से आगे द्विगुणपरिमाणवाला मगधद्वीप है यह भी अपने से द्विगुणपरिमाणवाले वलयाकार क्षीर के समुद्र कर के वेष्टित है इस से आगे द्विगुणपरिमाण वाला पुष्करद्वीप है यह भी अपने से द्विगुणविस्तारवाले वलयाकार मिष्टजल के समुद्र करके वेष्टित है, तहां सातो समुद्र सर्षपराशिकल्प(२) हैं औ द्वीप विचित्र पर्वतरूप अवतंसों (+) कर के संयुक्त हैं, इन सातों द्वीपों से आगे लोकाऽलोक पर्वत है।

इस लोकाऽलोकपर्वत से परिवृत जो सप्तसमुद्र सहित सप्तद्वीप हैं सो सव मिलकर पंचाशकोटियोजनविस्तारवाले जानने क्योंकि ऋषियों ने इतना ही इन का परिसंख्यान किया है न्यून वा अधिक नहीं।

जो यह शोभन संनिवेश वाला लोकाऽलोकपर्वत कर परिवृत विश्वंभरा (३) मंडल है सो सव ब्रह्मांड के अंतर्गत संक्षिप्तरूप से वर्तमान है, औ वह ब्रह्मांड प्रधान का एक

---

(१) कुशद्वीप से द्विगुण विस्तारवाले, इस तरह सर्वत्र ही पूर्व पूर्व द्वीप से उत्तर उत्तर द्वीप को द्विगुणविस्तारवाला जानलेना।

(२) जैसे सरसों का ढेर न तो उच्च होता है औ न भूमि के समान होता है तैसे ही समुद्र हैं।

(+) अवतंस नाम कान के भूषण का है।

(३) विश्वम्भरा नाम पृथ्वी का है।

सूक्ष्म अवयव है क्योंकि जैसे आकाश के एक अतिअल्प देश में खद्योत विराजमान होता है तैसे प्रधान के एक अतिअल्पदेश में यह ब्रह्मांड विराजमान है।

(१) तहां इन सब पाताल-समुद्र-पर्वतों में असुर-गंधर्व-किन्नर (*) किंपुरुष-यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत-पिशाच-अपस्मारक-अप्सराएं-ब्रह्मराक्षस-कूष्मांड-विनायक नामक देवयोनिविशेष निवास करते हैं, औ सब द्वीपों में पुण्यात्मा देवमनुष्य निवास करते हैं, औ सुमेरुपर्वत देवताओं की उद्यानभूमि है, क्योंकि वहां पर मिश्रवन-नन्दनवन-चैत्ररथवन-सुमानसवन यह चार वन हैं, औ तिस सुमेरु के ऊपर सुधर्मा नामक देवसभा है, औ सुदर्शननामक पुर है औ वैजयंतनामक प्रासाद है, यह सब पूर्वोक्त भूलोक कहा जाता है। इस के ऊपर अंतरिक्षलोक है जिस में ग्रह, नक्षत्र, तारका(२) भ्रमण करते हैं, यह सब ग्रहनक्षत्रादि ध्रुवनामक ज्योति के संग वायुरूप रज्जु कर बांधे हुये वायु के प्रतिनियत संचार से लब्धसंचारवाले हुये२ ध्रुव के चारो ओर भ्रमण करते हैं, औ ध्रुवसंज्ञक ज्योति मेढि-काष्ठ की (३) तरह निश्चल है, इस के ऊपर स्वर्गलोक है जिस को माहेन्द्रलोक कहते हैं, इस माहेन्द्रलोक में-त्रिदश-अग्निष्वात-याम्य-तुषित-अपरिनिर्मितवशवर्ती, परिनिर्मितवशवर्ती, यह षट् ६ देवयोनिविशेष निवास करते हैं, यह सब

---

(१) अब जो जिस स्थान में निवास करते हैं उन का निरूपण करते हैं। "तहां" इत्यादि से। (*) इन दोनों में से एक ही लेखनीय है।

(२) (ग्रह) सूर्यआदि, (नक्षत्र) अश्विनीआदि, तारकानाम अन्य क्षुद्र ज्योतियोंका है।

(३) मेढिकाष्ठ उस का नाम है जो कि खल=खरहान=खलिहान के मध्य में एक काष्ठ का स्तंभ खड़ा होता है जिस के चारो ओर बैल घूमते रहते हैं।

देवता संकल्पसिद्ध औ अणिमादि ऐश्वर्य्यसंपन्न औ कल्पायुषवाले (१) तथा वृंदारक औ कामभोगी औ औपपादिकदेहवाले हैं औ उत्तम अनुकूल अप्सराओं कर यह परिवृत हैं अर्थात् अप्सराएं हीं इन की स्त्रियां हैं।

इस स्वर्गलोक से आगे महान् नामक स्वर्ग विशेष है इसी को ही महर्लोक तथा प्राजापत्यलोक कहते हैं, इस महर्लोक में कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रचिताभ, यह पांच प्रकार के देवयोनि विशेष निवास करते हैं, यह सब देवविशेष महाभूतवशी, (२) औ ध्यानाहार तथा कल्पसहस्रआयुवाले हैं।

इस महर्लोक से आगे जनलोक है, इसी को प्रथम ब्रह्मलोक कहते हैं, इस जनलोक में ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक, अमर, यह चार प्रकार के देवयोनिविशेष निवास करते हैं, यह देवताविशेष भूत तथा इंद्रियों को स्वाधीनकरण शील हैं, इस जनलोक से आगे तप लोक है, इसी को ही द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं, इस तपोलोक में अभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर यह तीनप्रकार के देवयोनिविशेष निवास करते हैं, यह देवताविशेष भूत-इंद्रिय प्रकृति इन तीनों को स्वाधीन करण शील हैं औ पूर्व २ से

---

(१) कल्पपर्य्यन्तआयुवाले, वृन्दारक=पूजा करने योग्य,(कामभोगी) पशुधर्मनामक मैथुन में प्रेम करनेवाले, (औपपादिकदेह) मातापिता से बिना दिव्यशरीरवाले।

(२) जो जो इन की रुचि होती है सोई सोई महाभूत संपादन कर देते हैं, अर्थात्—इन की इच्छा से महाभूत तिस २ कार्य्यरूप से परिणाम को प्राप्त होजाते हैं, (ध्यानाहार) बिनाही अन्नादि के सेवन से ध्यानमात्र से तृप्त औ पुष्ट हैं।

उत्तर २ द्विगुण २ आयु (१) वाले हैं, औ सभी ध्यानाहार तथा ऊर्द्धरेतस हैं (+) एवं ऊर्द्ध सत्यादिलोक में अप्रतिहतज्ञान वाले औ अधर अवीचिआदि लोक में अनावृतज्ञानवाले हैं (२) इस तपोलोक से आगे सत्यलोक है इसी को ही तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं, इस मुख्य ब्रह्मलोक में अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी यह चार प्रकार के देवताविशेष निवास करते हैं, यह देवता विशेष अकृतभवनन्यास होने से (३) स्वप्रतिष्ठ हैं, औ यथाक्रम से उपरि उपरि स्थित हैं। औ सभी प्रधान को स्वाधीनकरणशील औ यावत् सर्ग आयुवाले हैं, तहां इतना विशेष है कि जो अच्युतनामक देव विशेष हैं वह सवितर्कध्यानजन्य सुख भोगनेवाले हैं औ जो शुद्धनिवास हैं वह सविचारध्यान से तृप्त हैं औ जो सत्याभ हैं वह आनंदमात्रके ध्यानसे सुखी हैं, औ जो संज्ञासंज्ञी हैं वह अस्मितामात्र के ध्यान से तृप्त हैं इस प्रकार यह सभी संप्रज्ञात (४) निष्ठ हैं, इसी से ही यह मुक्त नहीं हैं किन्तु त्रिलोकी के मध्य में ही प्रतिष्ठित हैं।

यह पूर्वोक्त सातो लोक ही परमार्थ से ब्रह्मलोक जानने क्योंकि हिरण्यगर्भ के लिङ्गदेह कर यह सब लोक व्याप्त हैं,

---

(१) आभास्वरों से द्विगुणआयुवाले महाभास्वर, औ इन से द्विगुणआयुवाले सत्यमहाभास्वर हैं।

(+) जिन का वीर्य्यपात कभी नहीं होता वह ऊर्द्धरेता कहेजाते हैं।

(२) अर्थात्—निखिललोकों को यथार्थरूप से जानते हैं।

(३) अर्थात्—किसी एक नियत गृह के अभाव होने से अपने शरीररूप गृह में ही स्थित हैं।

(४) सब संप्रज्ञात के भेद ९२ पृष्ठ में १७ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट हैं।

(१) विदेह-प्रकृतिलय नामक योगी तो मोक्षपद के तुल्य भवप्रत्यय नाम असंप्रज्ञातसमाधि में स्थित हैं इस से वह किसी लोक में निवासकरने वालों के बीच में नहीं उपन्यास किये गये हैं।

यह पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित जो भुवनविन्यास है इस का योगी को करामलकतुल्य साक्षात्कार होता है इस से सूर्य्यद्वार (२) में संयम कर योगी इस भुवनविन्यास के ज्ञान को संपादन करे। कुछ यह नियम नहीं है कि सूर्य्यद्वार में संयम करने से ही भुवनज्ञान होता है किन्तु योगोपाध्याय (३) कर उपदिष्ट अन्य स्थान में संयम करने से भी यह भुवनज्ञान हो जाता है, परन्तु जब तक भुवन का साक्षात्कार न होय तब तक दृढ़ चित्त से संयम का अभ्यास करे कुछ बीच में उद्वेग से उपराम मत हो जाय ॥ २६ ॥

सू० चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

भाषा—चन्द्र में संयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान होता है अर्थात् अमुक तारा अमुक स्थान में निवास करता है यह विशेष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ २७ ॥

सू० ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

भाषा—ध्रुवसंज्ञक निश्चल ज्योति में संयम करने से (तद्गति) तिन ताराओं की गति का ज्ञान होता है,

---

(१) विदेह औ प्रकृतिलयों की गणना किसी लोकनिवासियों में क्यों नहीं कियी, इस का समाधान करते हैं "विदेह" इत्यादि से, इन योगियों का निरूपण ५६ पृष्ठ में २० सूत्र में स्पष्ट है।

(२) सूर्य्यद्वार नाम सुषुम्ना नाडी का है।

(३) योगोपाध्याय नाम योगशास्त्र के जाननेवाले औ योगाभ्यासी आचार्य्यों का है।

अर्थात्—यह तारा इतने काल में इस राशि में गमन करता है इस प्रकार तारा नक्षत्रादिकों की गति का ज्ञान होता है इसी प्रकार ऊर्द्धविमान अर्थात् सूर्य्यादि के रथों में संयम करने से सूर्य्यादि के रथों का परिज्ञान[१] हो जाता है ॥२८॥

सू० नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

भाषा—नाभिचक्र में संयम करने से कायव्यूह का ज्ञान होता है,

अर्थात् (२) वात पित्त कफ ये तीन दोष हैं त्वक् रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र यह सात धातु हैं, इन में से शुक्र सब से आभ्यन्तर है औ उस से बाह्य मज्जा है औ मज्जा से बाहर अस्थि (हड्डी), अस्थि से बाहर स्नायु, स्नायु से बाहर मांस, मांस से बाहर रक्त, रक्त से बाहर त्वक् है, इस प्रकार शरीर में विद्यमान जो पदार्थों का विन्यासविशेष वह योगी को साक्षात्रूप से भात होता है ॥ २९ ॥

सू० कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

भाषा—कंठकूप में संयम करने से क्षुधा तथा पिपासा की निवृत्ति होती है,

अर्थात्—जिह्वा के अधोभाग में विद्यमान जो जिह्वा-मूल है उस को तंतु कहते हैं, इस तंतु से आगे अधोभाग में कंठनामक देश है तिस कंठ के समीप अधोभाग में विद्यमान जो गर्ताकार प्रदेश है वह कंठकूप कहा जाता है,

(१) इसी प्रकार सूर्य्यादि के रथों के गमन का ज्ञान भी जान लेना।

(२) कायव्यूह पद का अर्थ करते हुये शरीर में स्थित पदार्थों का विन्यास-विशेष कथन करते हैं 'अर्थात्' इत्यादि से।

इसी स्थान में प्राणादिकों का स्पर्श होने से पुरुष को क्षुधा पिपासा वाधा करती है, तिस कंठकूप में संयम करने से प्राणादि के स्पर्श की निवृत्ति द्वारा योगी को क्षुधा पिपासा वाधा नहीं करती है ॥ ३० ॥

सू० कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

भाषा—(कूर्मनाड्यां, कूर्मनामक नाड़ी में संयम करने से (स्थैर्य्यम् स्थिरता की प्राप्ति होती है,

अर्थात्—कंठकूप के अधोभाग में उर में विद्यमान एक कूर्माकार नाड़ी है जो कि कुण्डलित सर्प की तरह स्थित है तिस नाड़ी में संयम करने से योगी का चित्त स्थिरपद का लाभ कर लेता है।

भाव यह है कि—गोधा (१) की तरह योगी का चित्त एक विषय में दृढ़ स्थिर हो जाता है ॥ ३१ ॥

सू० मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

भाषा–(मूर्द्धज्योतिषि) मूर्द्ध में होनेवाली ज्योति में संयम करने से (सिद्धदर्शनम्) अदृश्य (२) सिद्ध पुरुषों का दर्शन हो जाता है,

अर्थात्—शिर के कपाल के मध्य में जो ब्रह्मरन्ध्रनामक एक छिद्र है उस छिद्र के मध्य में जो प्रभास्वर [३] एक ज्योति है उस ज्योति में संयम करने से आकाश औ पृथिवी के मध्यवर्ती दिव्यपुरुषों [४] का दर्शन हो जाता है ॥ ३२ ॥

---

(१) गोधा नाम गोह का है। (२) अदृश्य=जो किसी को दिखायी न दें।
(३) प्रभास्वर नाम प्रकाशवाले का है।
(४) अन्तरिक्ष में विचरने वाले सिद्ध पुरुषों को दिव्य पुरुष कहते हैं।

अब सर्वज्ञता का उपाय कथन करते हैं—

सू० प्रातिभाद् वा (१) सर्वम् ॥ ३३ ॥

भाषा—(प्रातिभाद् वा) प्रातिभ नामक ज्ञान से भी योगी (सर्वम्) सर्व पदार्थों को जान लेता है अर्थात्—सर्वज्ञ हो जाता है।

भाव यह है कि—विवेकज्ञान के कारणीभूत संयम के दृढ़ अभ्यास से जो मन में अतीत अनागत सूक्ष्म व्यवहित पदार्थों के ज्ञान का सामर्थ्य विशेष है वह प्रातिभ कहा जाता है क्योंकि वह अपनी प्रतिभा से उत्पन्न अनौपदेशिक ज्ञान है यह प्रातिभज्ञान ही प्रसंख्यान की समीपता संपादन द्वारा संसार से पुरुषों का उद्धार कर देता है, इस से इस को तारकज्ञान भी कहते हैं, औ यही विवेकजन्यज्ञान का पूर्व-रूप है क्योंकि इस के होने से विवेकज्ञान अवश्य ही उत्पन्न होता है,

अर्थात्—जैसे सूर्य्य के उदय होने का प्रथम ज्ञापक चिन्ह प्रभा है तैसे प्रसंख्यान के उदय होने का प्रथम लिङ्ग प्रातिभज्ञान है, इस प्रातिभज्ञान के उत्पन्न होने से योगी को निखिलपदार्थों का परिज्ञान हो जाता है फिर अन्य संयम की अपेक्षा नहीं रहती है ॥ ३३ ॥

सू० हृदये चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

भाषा—(हृदये) हृदय में संयम करने से चित्त का (संविद्) ज्ञान हो जाता है।

---

(१) पूर्व कहे हुये संयमों में से प्रत्येक२ संयम करने से जो जो फल होते हैं वह सभी एक प्रातिभज्ञान से ही प्राप्त हो जाते हैं, इसके बोधनार्थ सूत्र में (वा) पद दिया है।

औ सर्वकार्यों में अनुगत जो प्रकाश-प्रवृत्ति-स्थितिशील तीनों गुण वह अन्वयनामक चतुर्थ रूप है, औ पुरुषों के भोग औ अपवर्ग के संपादन करने का जो गुणों में सामर्थ्यविशेष है वह अर्थवत्ता नामक पंचम रूप है, तहां इतना विशेष है कि गुणों में तो भोगापवर्ग संपादन की सामर्थ्य साक्षात् अनुगत है औ तन्मात्र-भूत भौतिकों में परंपरा से (गुणों द्वारा) अनुगत है एवंच साक्षात् औ परंपरा से सर्वही पदार्थ अर्थवत्ता वाले जानने।

(१) इन पंच रूपवाले पंच स्थूल भूतों में संयम करने से भूतों के निखिल स्वरूपों का सम्यग्ज्ञान औ भूतों का जय योगी को प्राप्त होता है अर्थात्–भूतों के पञ्चरूपों को स्वाधीन कर भूतजयी हो जाता है।

इस प्रकार भूतों को स्वाधीन होने से फिर जैसे गइयें वत्सों के अनुसारी होती हैं तैसे निखिल ही भूतों की प्रकृतियां योगी के संकल्पानुसार हो जाती हैं, अर्थात् भूतों का स्वभाव योगी के संकल्पानुसार हो जाता है ॥ ४४ ॥

अब योगी के संकल्पानुसार भूतों का स्वभाव होने से जो योगी को फल होता है सो निरूपण करते हैं—

सू० ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत् तद्-
धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

भाषा—(ततः) तिस भूतजय के होने से (अणिमादि प्रादुर्भावः) अणिमा आदिक आठ सिद्धियों का योगी को

(१) इस प्रकार सूत्रोक्त पञ्चरूपों का व्याख्यान कर सूत्र के अर्थ कथन पूर्वक संयम का फल कहते हैं, ' इन ' इत्यादि से।

प्रादुर्भाव होता है, औ (कायसंपत्) शरीर भी दर्शनीय औ बलवाला हो जाता है, (च) और (तद्धर्मानभिघातः) भूतों के धर्मों कर योगी को अभिघात नहीं होता है,

अर्थात्—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व, यत्रकामावसायित्व, यह आठ सिद्धियां योगी को प्राप्त होती हैं,

(*) तहां अणिमा नामक सिद्धि के होने से महान् परिमाण वाला भी योगी अणुपरिमाण वाला हो जाता है (१)। औ लघिमा नामक सिद्धि से योगी का शरीर ऐसा लघु हो जाता है कि तृण की तरह वह आकाश में भ्रमण कर सकता है, औ महिमा नामक सिद्धि से अल्प परिमाण वाला भी योगी नाग-नग-नगर परिमाण (२) वाला हो जाता है, औ प्राप्ति नामक सिद्धि के होने से योगी पृथ्वी पर स्थित हुआ ही अंगुलि के अग्र भाग से चंद्रमा को स्पर्श कर लेता है, औ प्राकाम्य नाम इच्छा के अनभिघात का है, अर्थात् प्राकाम्यनामक सिद्धि के होने से योगी की इच्छा का प्रतिघात नहीं होता है किन्तु जो चाहता है सो अवश्य ही हो जाता है इसी से ही वह जल की तरह भूमि में उन्मज्जन औ (३) निमज्जन करने की शक्तिवाला हो जाता है।

(*) अब यथाक्रम से सिद्धियों का उदाहरण द्वारा विवरण करते हैं (तहां) इत्यादि से।

(१) इस अणिमा नामक सिद्धि के बल से ही योगी औ देवता, गन्धर्व-पितृ आदिक महानुभाव सूक्ष्म हो कर सर्वत्र विचरते हुवे किसी के दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

(२) नाग=हस्ती, नग=पर्वत, नगर=ग्राम।

(३) जैसे जल को उद्भेदन कर पुरुष जल से बाहर हो जाता है तैसे पृथिवी

भूत औ भौतिकों को अपने अधीन कर लेना औ आप उन के अधीन न होना यह वशित्वनामक सिद्धि है, इस वशित्वनामक सिद्धि के होने से योगी के अनुसारी हुये भूत अपने धर्म को भी त्याग देते हैं। भूत औ भौतिकों के उत्पत्ति स्थिति नाश करने में जो सामर्थ्य विशेष वह ईशितृत्वनामक सिद्धि है। औ यत्रकामावसायिता नाम सत्यसंकल्पता का है, इस यत्रकामावसायितानामक सिद्धि के होने से जैसे योगी का संकल्प होता है तैसेही भूतों के स्वभाव का अवस्थान हो जाता है, इसी से ही वह योगी चाहे तो अमृत की जगह विषभोजन करा कर भी पुरुष को जीवित कर सकता है।

यहां पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि यद्यपि वह योगी सर्व सामर्थ्य वाला है तथापि पदार्थों की शक्तियों का ही वह विपर्य्यास कर सकता है कुछ पदार्थों का नहीं,

अर्थात्—चन्द्रमा को सूर्य्य औ सूर्य्य को चन्द्रमा कर देना औ विष को अमृत कर देना इस प्रकार पदार्थों का विपर्य्यय योगी नहीं कर सकता है, किन्तु विष में जो प्राणवियोग करने की शक्ति है उस को निवृत्त कर उस में जीवन शक्ति का संपादन कर देता है अर्थात्—पदार्थों (१) का विपर्य्यय होना नित्य सिद्ध ईश्वर के संकल्प से विरुद्ध है इस से वह नहीं होता है औ शक्तियां तो पदार्थों की अनियत हैं इस से उन के विपर्य्यय करने में कोई दोष नहीं है।

को उद्भेदन कर भी उठ खड़ा होता है, इस का नाम उन्मज्जन है, जैसे जल में गोता मारते हैं इस प्रकार पृथिवी में भी प्रवेश कर जाना इस का नाम निमज्जन है।

(१) अर्थात्—नित्यसिद्ध योगिराज ईश्वर के संकल्पानुसार ही योगियों का संकल्प होता है ऐसे ही नहीं इस से पदार्थों का विपर्य्यय वह नहीं कर सकते हैं।

भाव यह है कि-योग से बिना जो नित्यसिद्ध सत्यसंकल्प ईश्वर है तिस का यह संकल्प है कि सूर्य्य सूर्य्य ही रहे औ चन्द्रमा चन्द्रमा ही रहे तो फिर इस के विरुद्ध योगी का संकल्प कैसे होसकता है ।

यह जो आठ प्रकार का ऐश्वर्य्य है सो भूतजय का फल है (१), इसी प्रकार कायसंपत् भी भूतजय का फल जानलेना । कायसंपत् का अर्थ सूत्रकार आप ही श्रीमुख से अग्रिम सूत्र से कहेंगे इस से यहां पर उस के विवरण की आवश्यकता नहीं है, इसी प्रकार तद्धर्मानभिघात भी भूतजय का फल जान लेना,

अर्थात्--पृथिवी अपने कठिनता रूप धर्म द्वारा योगी के शरीर की क्रिया का रुकावट नहीं कर सकती इसी से ही योगी शिला आदिकों के भीतर भी प्रवेश कर सकता है, औ स्नेह वाले जल भी योगी के शरीर को आर्द्र (गीला) नहीं कर सकते, औ उष्णस्पर्श वाला अग्नि भी योगी के शरीर का दाह नहीं कर सकता है औ नित्य वहनशील वायु भी योगी के शरीर को कंपायमान नहीं कर सकता है औ अनावरण रूप आकाश में भी आवृतकाय हुआ योगी सिद्धों कर के अदृश्य हो जाता है, अर्थात्—आकाश में स्थित योगी को कोई भी नहीं देख सकता है, इसी का नाम तद्धर्मानभिघात है ॥ ४५ ॥

(१) यहां पर इतना यह विशेष है कि भूतों के स्थूल रूप में संयम करने से आदि की चार सिद्धियां होती हैं, औ द्वितीय स्वरूप में संयम करने से इच्छानभिघात होता है औ तृतीय सूक्ष्मरूप में संयम करने से वशित्व सिद्धि होती है औ चतुर्थ अन्वयरूप में संयम से ईशितृत्व, औ पंचम अर्थवत्तारूप में संयम करनेसे सत्यसंकल्पता सिद्धि होती है।

इदानीं कायसंपत् का अर्थ कहते हैं—

सू० रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥४६॥

भाषा—दर्शनीयरूप तथा (लावण्य) कान्ति, औ बल, तथा (वज्रसंहननत्व) वज्रसदृश दृढ अवयवयुक्तत्व, यह कायसंपत् कही जाती है,

अर्थात्—योगी का शरीर कमनीय औ अतिमनोहर तथा दर्शनीयरूपवाला एवं कान्ति वाला तथा अतिबलशील औ वज्र के तुल्य दृढ़ हो जाता है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार फल के सहित भूतजय का उपाय कथन कर इदानीं इन्द्रियजय का उपाय कथन करते हैं—

सू० ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयाऽर्थवत्त्वसंयमा-
दिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

भाषा—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व, इन पांच रूपों में संयम करने से योगी को इन्द्रियजय प्राप्त होता है ।

अर्थात्—इन्द्रियों के इन पांच रूपों में संयम करने से निखिल इन्द्रिय योगी के वशीभूत हो जाते हैं ।

तहां सामान्यविशेषरूप जो शब्दादि(*) ग्राह्य विषय औ विषयाकार इन्द्रियों की परिणामरूप वृत्ति यह ग्रहण

(*) अन्यमत में जहां पर घटादि विषय लिखने की शैली है तहां सांख्य-योग मत में शब्दादिविषय यह पद लिखा जाता है ।

पद का अर्थ है सो(१) यह इन्द्रियोंकी वृत्ति केवल सामान्य मात्र विषयक नहीं होती है किन्तु सामान्य-विशेष उभय विषयक ही है क्योंकि यदि विशेष विषयक इन्द्रियों की वृत्ति न मानी जाय तो इन्द्रियों कर अग्रहीत वह विशेष मन कर के कैसे निश्चित होगा क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के अधीन हुआ ही मन बाह्य विषयों में अनुव्यवसाय वाला होता है, स्वतन्त्र नहीं इस से सामान्यविशेषरूप विषयाकार ही इंद्रियों की वृत्ति जाननी, यहग्रहणनामक इन्द्रियों का प्रथम रूप है, औ प्रकाश रूप महत्तत्त्व का परिणाम जो अयुतसिद्धावयवरूप सात्त्विक अहंकार है तिस में कार्य्यरूप से अनुगत जो सामान्यविशेषसमूहरूप द्रव्य वह इन्द्रियोंका स्वरूप है,

अर्थात्—सात्त्विक अहंकार का कार्य्य जो प्रकाशस्वरूप द्रव्य वह इन्द्रिय है, यह इन्द्रियों का स्वरूप नामक दूसरा रूप है, और इंन्द्रियों का कारण जो अहंकार है वह इन्द्रियों का अस्मितानामक तृतीय रूप है, औ व्यवसाय रूप महत्तत्त्व के आकार से परिणाम को प्राप्त जो प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील गुण वह अन्वय नामक इन्द्रियों का चतुर्थ रूप है अर्थात्—अहंकार के सहित इन्द्रियों को महत्तत्त्व का परिणाम होने से औ महत्तत्त्व को गुणों का परिणाम होने से तीनों गुण इन्द्रियों में अनुगत हैं इस से गुणों को अन्वयरूप कहा जाता है, औ गुणों में अनुगत

(१) सामान्य नाम अनुगत धर्म का है जिस को तार्किक जाति कहते हैं औ विशेष नाम धर्मी का है, तहां बौद्ध लोग यह मानते हैं कि सामान्य तो इन्द्रियग्राह्य है औ विशेष मन कर के ग्राह्य है, इस मत के दुष्टता के अर्थ कहते हैं (सो यह) इत्यादि—

जो पुरुष के भोगापवर्गसंपादन की सामर्थ्य वह अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियों का पंचमरूप है,

इन पांचों इद्रियों के रूप में योगी को यथाक्रम संयम करना चाहिये, फिर संयम से तिस तिस रूप के जय द्वारा पंच रूपों का जय होनेसे योगी को इन्द्रियजय प्राप्त होता है अर्थात्-इन्द्रियगण योगी के अधीन हो जाता है ॥४७॥

इन पंचरूप विशिष्ट इन्द्रियों का जय होने से जो फल होता है सो निरूपण करते हैं—

सू० ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥४८॥

भाषा–(ततः) तिस इन्द्रियजय होने से मनोजवित्व, औ विकरणभाव, तथा प्रधानजय, यह तीन फल होते हैं; तहां देह को अनुत्तम गति के लाभ का होना मनोजवित्व कहा जाता है अर्थात्-मन की तरह शीघ्र ही अनेक योजन व्यवहित देश में गमन करने की शरीर में सामर्थ्य होना मनोजवित्व कहा जाता है।

औ विदेह इन्द्रियों का जो अभिलषित देश कालादिकों में वृत्ति का लाभ होना वह विकरणभाव कहा जाता है,

अर्थात्—जिस देश (१) वा काल वा विषयों में योगी की अभिलाषा होती है उन देशादिकों में शरीर की अपेक्षा से विनाही इंन्द्रियों की वृत्ति हो जाती है, अर्थात् हरिद्वार में स्थित हुआ ही प्रयागराज में स्थित पुरुषों को नेत्रों से देख सकता है, इसी का नाम विकरणभाव है, औ निखिल

(१) देश—काश्मीरादि, काल-अतीत आदि,-विषय-सूक्ष्म आदि।

कारण तथा कार्य्य को वश कर लेना यह प्रधानजय है (१), यह तीनों सिद्धियां योगमत में मधुप्रतीका नाम से कही जाती हैं, औ इन्द्रियों के पंचरूपों के जय से यह प्राप्त होती हैं ॥ ४८ ॥

इदानीं जिस विवेकख्याति के लिये यह सब संयम निरुपण किये गये हैं (२) उस विवेकख्याति का अवान्तर-फल कहते हैं—

सू० सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

भाषा—(सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिमात्रस्य) प्रकृति औ पुरुष के विवेकनिष्ठ चित्त वाले योगी को (सर्वभावाऽधिष्ठातृत्वम्) निखिल पदार्थों के अधिष्ठातृ (स्वामी) पने का लाभ होता है (च) और (सर्वज्ञातृत्वम्) निखिल-पदार्थों के यथार्थ ज्ञान का लाभ होता है।

अर्थात्—जिस समय चित्त रजतमरूप मल से युक्त था उस समय वह चित्त वशीभूत नहीं था जब फिर मैत्री आदि भावना के अभ्यास से वह चित्त परवैशारद्य (३) में वर्तमान

---

(१) यद्यपि इन्द्रियों विषयक संयम से इन्द्रियजय द्वारा इन्द्रिय ही योगी के वश होने चाहिये प्रधान आदिक नहीं तथापि पञ्चरूपविशिष्ट इन्द्रियों के जय होने से प्रधानजय भी फल जान लेना।

(२) मुख्यतः तो संयमों का निरुपण विवेकख्याति के ही अर्थ है परन्तु उस में श्रद्धा के लिये अन्य संयमों का निरुपण है इस लिये सर्व ही संयम विवेकख्याति के लिये जानने।

(३) स्वच्छ तथा स्थिररूप एकाग्रता के प्रवाह का नाम पर वैशारद्य है।

होता है तब वह चित्त योगी के वशीभूत हो जाता है, तिस चित्त के वशीभूत होने से विवेकख्याति में प्रतिष्ठित हुये योगी को सर्वपदार्थों के स्वामित्व का लाभ होता है,

अर्थात्—जड़ औ प्रकाश रूप जितने गुणमय पदार्थ हैं वह सब क्षेत्रज्ञरूप स्वामी के भोग्य औ दृश्य हो कर उपस्थित हो जाते हैं, इसी से ही वह योगी निखिल प्रपंच का स्वामी कहा जाता है, औ सेवक की तरह निखिल ही भूत भौतिक उस के संकल्प के अनुसार चेष्टा वाले हो जाते हैं, इसी प्रकार अतीत-अनागत-वर्तमान वस्तुरूप से परिणाम को प्राप्त जो गुण त्रय हैं उन का भी (अक्रमोपारूढ) युगपदुत्पन्न विवेक जन्य ज्ञान होता है, अर्थात् एक काल में ही निखिल पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, इसी से ही वह योगी सर्वज्ञ कहा जाता है।

यह जो सर्वभावाधिष्ठातृत्व औ सर्वज्ञातृत्व है इसी का नाम योगशास्त्र में विशोका सिद्धि है क्योंकि इन दोनों धर्मों के होने से योगी शोक रहित हो जाता है, तथा सर्वज्ञ औ क्षीणक्लेशबंधन(१) औ वशी हो कर सर्वत्र विहार करता है ॥४९॥

अन्य सब संयमों को पुरुषार्थाभासरूप फल वाले होने से विवेकख्याति संयम ही मुख्य पुरुषार्थ रूप फल वाला है, इस वार्ता को दिखाने के लिये पर वैराग्य की उत्पत्तिद्वारा विवेक ख्याति का मुख्य फल कहते हैं—

सू० तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

(१) निवृत्त हो गये हैं, अविद्यादिक्लेशरूप बन्धन जिस के 'वशी' सर्व का स्वामी।

भाषा—(तद्वैराग्यात्) तिस विवेकख्याति विषयक वैराग्य होने से (दोषबीजक्षये) रागादि दोषों का बीजभूत जो अविद्या तिस के क्षय होने पर (कैवल्यम्) आत्यन्तिकदुःख निवृत्तिपूर्वक स्वरूपप्रतिष्ठा रूप कैवल्य फल होता है, (अपि) (१) और पूर्वोक्त फल भी होता है।

अर्थात्—क्लेश कर्म के क्षय होने से जब योगी को (यह जो विवेकप्रत्ययरूप धर्म है वह बुद्धिरूप सत्त्व का धर्म है औ बुद्धि जो है वह अनात्म होने से हेयपक्ष के अन्तर्भूत है औ पुरुष जो है सो बुद्धि से भिन्न औ अपरिणामी है) इस प्रकार के विवेक से विवेकख्याति में वैराग्य उदय होजाता है तब उस पर वैराग्य वाले पुरुष के चित्त में विद्यमान जो क्लेशबीज हैं वह दग्धशालिबीज की तरह अपने अंकुरोत्पादन में असमर्थ हुये मन के सहित ही नष्ट होजाते हैं, औ तिन क्लेशादिकों के प्रलीन होने से फिर यह पुरुष आध्यात्मिकादि तीनों तापों को नहीं भोगता है, औ कर्म क्लेश विपाक रूप से चित्त में विद्यमानगुणों का प्रतिप्रसव अर्थात् चरितार्थ हुये गुणों का मन के सहित ही स्वकारण में लय हो जाता है, यही पुरुष का आत्यन्तिक गुणवियोग है औ इसी को कैवल्य कहते हैं, औ इसी दशा में चितिशक्ति। रूप पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित कहा जाता है, औ यही योग की परम सीमा है ॥ ५० ॥

(१) सूत्र में अपि शब्द भिन्न क्रम है—अर्थात् जिस के समीप पढ़ा है उस के सङ्ग अन्वय न कर "कैवल्यम्" इस पद के साथ अन्वय करना, तथा च, यह अर्थ हुआ कि केवल विवेक ख्याति का सर्वज्ञतादि ही फल है यह नहीं जानना किन्तु पर वैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि के लाभ होने पर कैवल्य भी इसी का फल है।

इदानीं मुक्ति के साधनों में प्रवृत्त हुये योगिजनों को जो विघ्न उपस्थित होते हैं उन के निवारण का कारण निरूपण करते हैं—

सू० स्थान्युपनिमन्त्रणेसङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

भाषा—(स्थान्युपनिमन्त्रणे †) देवताओं की सत्कार-पूर्वक प्रार्थना होने पर, उन के कथन में (सङ्गस्मयाऽकरणम्) सङ्ग औ विस्मय न करे, क्योंकि (पुनरनिष्टप्रसङ्गात्) फिर अनिष्ट की प्राप्ति होने से,

अर्थात्—जब देव गण अप्सराओं के सहित आन कर प्रार्थना करें कि चलो स्वर्ग में भोग भोगने के लिये तब इन के कहे को न मानें औ न कुछ गर्व करे क्योंकि ऐसे करणे से फिर भी जन्ममरणरूप दुःख बना ही रहता है—

भाव यह है कि (१) चार प्रकार के योगी होते हैं एक तो प्रथम कल्पिक औ द्वितीय मधुभूमिक औ तृतीय प्रज्ञा-ज्योति औ चतुर्थ अतिक्रान्तभावनीय, तहां जो अभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योति है अर्थात् संयम में तत्पर होने से पर-चितज्ञान आदि सिद्धियों के उन्मुख है वह प्रथम कल्पिक योगी है, औजो समाधि द्वारा ऋतम्भा प्रज्ञा वाला है

(†) स्थानी नाम इन्द्रादि देवताओं का है औ उपनिमन्त्रण नाम समीप जाकर सत्कार पूर्वक प्रार्थना का है।

(१) अब जिन योगियों को विघ्न उपस्थित होने की संभावना है उन के निश्चय के लिये योगियों के भेद कहते हैं—" भाव यह है कि " इत्यादि से।

औ भूत तथा इन्द्रियों के जीतने की इच्छा वाला है वह मधुभूमिक योगी है, औ जिस ने पूर्वोक्त संयम से भूत औ इन्द्रियों को अपने अधीन कर लिया है औ परचित्त ज्ञानादि में कृतरक्षावन्ध (१) है औ विशोकादि सिद्धियों के लिये यत्नशील है वह तृतीय प्रज्ञाज्योति है, औ जिस योगी को असंप्रज्ञातसमाधिद्वारा केवल चित्त का विलयरूप कर्तव्य ही अवशिष्ट है अन्यत् किञ्चित् भी कर्तव्य नहीं है औ इसी से ही सप्तविध प्रान्तभूमि प्रज्ञा (२) के लाभ वाला है वह अतिक्रान्तभावनीय चतुर्थ योगी है।

तहां इन योगियों में से जो प्रथमकल्पिक योगी है तिस को तो महेन्द्रादिकृत प्रार्थना की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि वह अभी योग में प्रवृत्तमात्र है, औ जो तृतीय भूतेन्द्रियजयी योगी है उस को स्वतः ही अणिमादि ऐश्वर्य्य शाली होने से देवगण प्रलोभन नहीं कर सकते हैं, औ जो अतिक्रान्तभावनीय चतुर्थ योगी है वह परवैराग्यशील होने से किसी की परवाह ही नहीं रखता, इस प्रकार परिशेष से ऋतम्भराप्रज्ञावाला द्वितीय योगी ही देवता कृत उपनिमंत्रण की योग्यता वाला जानना क्योंकि इस को ऐश्वर्य्य की प्राप्ति सिद्ध नहीं है औ न परवैराग्य ही है, तहां इस मधुमतीभूमि के साक्षात्कार करनेवाले द्वितीय योगी की बुद्धि की शुद्धि को देखते हुए इन्द्रादि देव उस योगी के समीप आनकर स्वर्गीय (३)

---

(१) अर्थात् परचित्त ज्ञानादि सिद्धियों के लाभ वाला है।

(२) यह द्वितीय पाद के २७ सूत्र के व्याख्यान में २०० पृष्ट पर स्पष्ट है।

(३) स्वर्ग में होने वाले।

विमान अप्सराप्रभृति को दिखला कर उस के प्रलोभन के लिये इस प्रकार सत्कारपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि "भोरिहाऽऽस्यताम्, इह रम्यतां, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वै हायसमिदं यानम् अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः उत्तमा अनुकूला अप्सरसः दिव्ये श्रोतचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थान देवानां प्रियम्" इति, (हे योगिन् † आप यहां स्थित होइये, औ यहां ही रमण करो, देखिये यह क्या कमनीय भोग है औ यह कैसी कमनीय कन्या है, औ यह कैसा सुंदर रसायन(१)है जो कि जरा औ मृत्यु को दूर करता है, औ यह आकाश में चलने वाला विमान है, औ यह आप के भोग के लिये कल्पद्रुम उपस्थित हैं औ यह पवित्र मंदाकिनी गंगा आप के स्नान के लिये उपस्थित है औ यह सिद्ध औ महर्षि आप के सत्कार के लिये उपस्थित हैं, औ यह उत्तम औ अनुकूल रमणीय अप्सरायें आप की सेवा में उपस्थित हैं, औ जिस प्रकार योगबल से आप के कर्ण औ नेत्र दिव्य हैं औ शरीर वज्र सदृश दृढ़ है इसी प्रकार योगबल से आप ने यह पूर्वोक्त भोग उपार्जन किया है इस लिये देवताओं को प्रिय जो अक्षय तथा अजर अमर स्थान है उस को आप प्राप्त हो कर आनंद भोगो) ।

(†) इन अमरगणों के लक्षित वचनों का भाषानुवाद करते हैं "हे जोगिन्" इत्यादि से ।

(१) रसायन नाम अलौकिक औषधविशेष का है ।

इस प्रकार उन देवताओं के कथन से लोभयुक्त हुवा योगी उन की बातों में विश्वास करके संग न करे किंतु संग-दोष की भावना करे,

(१)अर्थात्–अपने मन में यह विचार करे कि (इस घोर संसार रूप अंगारों में पच्यमान औ बारंवार जन्म मरण रूप अन्धकार में भ्रमण करते हुये मैं ने किसी प्रकार से इस योगरूप दीपक का लाभ किया है जोकि क्लेशरूप अन्धकार के नाश करने वाला है तिस इस योगरूपी दीपक के यह विषय रूप वायु विरोधी हैं (२) क्योंकि यह विषय रूप वायु वासना से उत्पन्न हुये अनेक प्रकार के विषय भोग औ तृष्णा को उत्पन्न करते हैं, सो मैं अब योगज्ञान रूप प्रकाश को प्राप्त हो कर फिर किस तरह विषय रूप मृगतृष्णा से वञ्चित हुवा इस संसार रूप अग्नि का अपने को इन्धन करूं, अर्थात् जान बूझ कर मैं क्यों संसार रूप अग्नि में अपने को लकड़ी की तरह जलाऊं, इस से हे देवगण आप को तथा तुच्छ जनों कर के प्रार्थना करने योग्य इन स्वप्नोपम अप्सरादि विषयों को मैं नमस्कार ही करता हूं, आप की स्वस्ति कल्याण हो आप मेरे पर कृपा करें) इस प्रकार निश्चितमति हो कर फिर समाधि के अनुष्ठान में तत्पर होवै, इस प्रकार विषयों के बीच में दोषदृष्टि द्वारा उन में आसक्ति का अभाव कर फिर स्मय भी न करे,

---

(१) अब जिस प्रकार से सङ्गदोष की भावना करनी चाहिये वह प्रकार दिखाते हैं " अर्थात् " इत्यादि से ।

(२) जैसे बाह्य वायु दीप का विरोधी है तैसे विषयरूप वायु योग दीपक का विरोधी हैं ।

अर्थात्—मैं इतने प्रभाव वाला योगी हूं कि देवता भी मेरी प्रार्थना करते हैं इस प्रकार गर्व वा अहंकार न करे क्योंकि ऐसे अभिमान करने से वह योगी अपने आप को सुस्थित अर्थात् कृतकृत्य मान कर मृत्यु करके पकड़ा हुआ अपने को न जान कर समाधि से उपराम हो जायगा, तब फिर निरन्तर योगी के छिद्रों को देखने वाला औ महान् यत्न से निवृत्त होने योग्य जो प्रमाद है वह समाधि से उपरामतारूप छिद्र को प्राप्त हो कर फिर क्लेशों को प्रवल कर देगा, उस से फिर योगी को अनिष्ट की प्राप्ति हो जायगी अर्थात् योग से भ्रष्ट हो कर अनेक संकटों में पड़ जायगा, औ जब पूर्वोक्त प्रकार से संग औ गर्व नहीं करेगा तो भावित अर्थ(१) दृढ़ हो जायगा औ भावनीय अर्थ उस के अभिमुख हो जायगा, इस से संग औ गर्व को त्याग कर निरन्तर योग के अनुष्ठान में ही तत्पर रहे जिस से परवैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात समाधि का लाभ कर विशोक हो कर जीवन्मुक्तता को प्राप्त हो जाय क्योंकि यही योग की परम सीमा है ॥ ५१ ॥

अब निःशेषरूप से सर्वज्ञता का कारणभूत जो विवेक जन्य ज्ञान है तिस का साधनभूत संयम कहते हैं—

सू० क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

---

(१) संयमों द्वारा संपादन कर लिया जो पर चित्त ज्ञान आदि वह भावित अर्थ है औ विवेक ख्याति के अभ्यास से विशोका से लेकर परवैराग्य पर्य्यन्त जो संपादन करने योग्य अर्थ है वह भावनीय अर्थ कहा जाता है ।

भाषा—क्षण औ क्षण के क्रम विषयक संयम करने से योगी को विवेकज ज्ञान प्राप्त होता है।

(१) तहां जैसे लोष्ट (*) आदि का विभाग करने पर जिस अवयव का विभाग न हो सके ऐसा जो अति सूक्ष्म अपकर्षपर्य्यन्त द्रव्य वह परमाणु कहा जाता है तैसे परमापकर्ष पर्य्यन्त जो अतिं सूक्ष्म निर्विभाग काल है वह क्षण पद का वाच्य है।

अथवा जितने समय में परमाणु चल कर पूर्व देश का परित्याग कर उत्तरदेश को प्राप्त होता है (†) उतने काल का नाम क्षण है।

इन क्षणों का जो प्रवाहाविच्छेद (२) वह क्रम पद का अर्थ है सो यह क्रम वास्तव नहीं है किन्तु काल्पिनिक है क्योंकि एक काल में एकत्रित न होनेवाले क्षणों के समाहार का असम्भव होने से क्षणसमाहाररूप क्रम का संभव होना विचार से विरुद्ध है, जिस तरह से क्षण समाहाररूप क्रम अवास्तव है इसी प्रकार क्षणों का समाहाररूप जो घटिका-मुहूर्त-प्रहर-दिन-रात्रिरूप काल है यह भी अवास्तव जानना,

अर्थात्—क्षण ही अविवेकी जनों को विकल्पवृत्ति(३) से

(१) क्षण औ क्रम का लक्षण कथन करते हुये सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हैं "तहां" इत्यादि से। (*) लोष्टनाम माटी के ढेले का है।

(†) परमाणुमात्र देश को उल्लंघन करता है।

(२) क्षणों का जो उत्तरोत्तर भाव रूप से अवस्थान होना यह प्रवाह शब्द का अर्थ है उस प्रवाह का जो अविच्छेद=अविरलत्व=नैरन्तर्य्य वह क्रमपद का अर्थ है।

(३) शब्दमात्र से प्रतीत होने वाला जो अर्थशून्य अर्थ वह विकल्पवृत्ति का विषय है, यह प्रथम पाद में स्पष्ट है।

घटिका आदि पद कर के व्यवहार विषय होता है परमार्थ से तो क्षण से अतिरिक्त घटिकादि काल का सम्भव ही नहीं है, इसी से ही काल के वास्तवरूप को जानने वाले योगी जन क्षण को ही मुख्य काल मानते हैं अन्य को नहीं,

भाव यह है कि—क्षणों का नैरन्तर्य्य रूप जो क्रम है तिस को आश्रयण करने वाला जो क्षण सो वास्तव है औ तिन क्षणों का जो क्रम है सो अवास्तव है क्योंकि पूर्वले क्षण से जो उत्तरले क्षण का अविरलत्व रूप आनन्तर्य्य वह क्रम कहा जाता है औ सो क्रम दो क्षणों का एक काल में अवस्थानरूप जो समाहार तिस के अधीन है औ दो क्षणों का समाहार होना असम्भव है, इस से एक वर्तमान क्षण ही वास्तव जानना पूर्वोत्तर क्षण औ तिन का समाहार नहीं।

जिस तरह समाहार के असम्भव से क्रम कल्पित है इसी प्रकार समाहार के अभाव से घटिका आदि भी कल्पित हैं यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है।

एवं च योगमत में एक वर्तमान क्षण को ही अर्थक्रिया में समर्थ होने से वही सब व्यवहार का आश्रय है औ तिस क्षण कर ही सब लोक परिणाम (१) को अनुभव करते हैं औ पूर्वोत्तर जो क्षण हैं वह सब सामान्य से उस में समनुगत हैं यह निष्पन्न हुआ।

(२) तहां पूर्वोक्त क्षण औ क्रम विषयक संयम करने से योगी को क्षण औ क्रम का साक्षात्कार होता है औ तिस

---

(१) छोटा बड़ा, नया पुरातन यह कालकृत परिणाम जानना।
(२) इस प्रकार क्षण औ क्रम का स्वरूप कहकर सूत्र का अर्थ करते हैं—"तहां" इत्यादि से।

से फिर विवेकज ज्ञान का आविर्भाव होता है ॥ ५२ ॥

अब इस विवेकज ज्ञान का उदाहरण दिखाते हुये विवेकज ज्ञान का अवान्तर फल (*) कहते हैं —

सू० जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

भाषा—जाति, लक्षण औ देश करके (अन्यताऽनवच्छेदाद्) भेद का निश्चय न होने से, जो (तुल्ययोः) समान पदार्थों का (प्रतिपत्तिः) भेद का ज्ञान, वह (ततः) तिस विवेकज ज्ञान से होता है,

अर्थात्—जहां पर जाति आदिकों से दो समान पदार्थों के परस्पर भेद का निश्चय नहीं हो सकता है तहां केवल विवेकज ज्ञान से ही भेद का निश्चय होता है,

भाव यह है कि—लोक में जो दो पदार्थों के परस्पर भेद का ज्ञान है वह तीन कारणों से होता है कहीं जातिभेद से औ कहीं लक्षणभेद से औ कहीं देशभेद से(१),तहां समान देश में स्थित औ समान वर्णवाली (२) जो गाय औ वडवा (†) है इन दोनों के भेद की प्रतीति का हेतु गोत्वादि जाति का भेद है,

औ जहां पर गोत्व रूप जाति भी समान है औ पूर्वत्व रूप देश भी समान है तहां पर जो कालाक्षी औ

(*) अर्थात्—मुख्यफल इस का कैवल्य है, इसी से इस ज्ञान का नाम अग्रिम ५४ सूत्र में तारक कहा है।

(१) अनेक व्यक्तियों में अनुगत जो सामान्य धर्म वह जाति है, औ असाधारण धर्म का नाम लक्षण है औ देश नाम पूर्वत्व तथा परत्व का है।

(२) समान वर्ण वाली कहनेसे दोनोंका एक लक्षण बोधन किया (†) वडवा=घोड़ी

स्वस्तिमती (१) गाय का परस्पर भेद है तिस का हेतु कालाक्षित्व औ स्वस्तिमत्व रूप लक्षण का भेद है, औ जहां पर जाति भी आमलकत्व रूप तुल्य है औ वर्तुलत्व (गोलाकार) रूप लक्षण भी दोनों का तुल्य है तहां पर जो दोनों आमलकों का परस्पर भेद है तिस का हेतु पूर्वत्व आदि देश भेद है, इस प्रकार लोक में जाति भेद औ लक्षण भेद औ देश भेद यह तीन पदार्थों के भेद के हेतु हैं, परन्तु जहां पर यह तीनों ही भेद के हेतु नहीं हैं तहां पर जो भेद ज्ञान होना वह विवेकज ज्ञान का फल है,

अर्थात्—जहां पर पहिले तुल्य जाति औ लक्षण वाला एक आमलक योगी के पूर्वदेश में स्थित हो औ एक उत्तर देश में स्थित हो औ फिर योगी के अन्यव्यग्र (२) होने पर योगी के ज्ञान की परीक्षा के अर्थ किसी पुरुष ने उत्तर देश में स्थित आमलक को वहां से उठा कर उस देश में पूर्व देशस्थ आमलक को स्थापन कर दिया हो तहां पर उस आमलक का जो उठाये हुये आमलक से भेद ज्ञान है वह लौकिक प्राज्ञ (३) को होना असंभव है क्योंकि वहां पर भेद के कारण जाति-लक्षण-देशों का भेद नहीं है परन्तु योगी

---

(१) काले नेत्रवाली गायको कालाक्षी कहते हैं, औ मस्तक पर अर्द्धचन्द्रादिक चिन्ह वाली गाय को स्वस्तिमती कहते हैं।

(२) आमलक की ओर दृष्टि औ ध्यान के अभाव पूर्वक जो अन्य किसी पदार्थ में दृष्टि औ ध्यान का हो जाना वह अन्यव्यग्रता है।

(३) योगबल से विना जो अन्य प्रमाणों से व्यवहार करनेवाला है वह लौकिक प्राज्ञ कहा जाता है।

असंदिग्ध ज्ञान वाला होने से वहां भी भेद जान सकता है, एवंच ऐसे२ स्थलों में जो भेद ज्ञान होना वह विवेकज ज्ञान का फल जानना।

परन्तु यह ज्ञान योगी को किस प्रकार होता है इस पर भाष्यकारों ने यह कहा है कि-पूर्व आमलक के संग समान (एक) क्षण वाला जो देश है वह उत्तर आमलक सहक्षण वाले देश से भिन्न है औ तिन दोनों आमलकों के स्वदेश सहित क्षण के ज्ञान से वह दोनों आमलक भी भिन्न हैं, तहां पर योगबल द्वारा जो उस आमलक के अन्य देश सहि तक्षण का यथार्थ ज्ञान है यह दोनों आमलकों के भेद ज्ञान का कारण है (१)। जिस प्रकार आमलकों का योगी को भेदज्ञान होता है इसी प्रकार परमाणुओं का भी परस्पर भेदज्ञान जान लेना,

अर्थात्—समान जाति-लक्षण-देश वाले जो परम सूक्ष्म परमाणु हैं उन का भेदज्ञान भी क्षण के साक्षात्कार से जान लेना,

जो कि वैशेषिक लोक यह मानते हैं कि (नित्यद्रव्य में वर्तने वाला जो विशेष पदार्थ है वही परमाणु आदि निरवयव द्रव्यों (२) का भेदक है) सो यह उन का मानना अयुक्त है क्योंकि वैशेषिक मत में भी जाति-लक्षण-देश

(१) यह सब योगाभ्यास से बिना बुद्धि में आना कठिन है।

(२) यद्यपि सावयव द्रव्यों का अवयव भेद से ही भेदज्ञान हो सकता है तथापि निरवयव द्रव्यों के भेदज्ञानार्थ विशेष पदार्थ माना है, इस विशेष पदार्थ के मानने से ही कणादमतानुयायी वैशेषिक कहे जाते हैं।

मूर्ति (१) व्यवधान आदि से भेदज्ञान का संभव होने से निरर्थक एक विशेष पदार्थ मानना गौरव ग्रस्त है ।

यहां पर इतना विशेष है कि—जाति आदि के भेद से पदार्थों का भेदज्ञान होना तो साधारण है औ क्षण भेद से भेद ज्ञान होना यह केवल योगी के ज्ञान कर के गम्य है । औ जहां पर इन भेदों के कारण जाति आदिकों का अभाव होता है वहां पर लोकों को भेद ज्ञान नहीं होता है, इसी से ही वार्षगण्याचार्य्य ने यह कहा है कि "मूर्ति-व्यवधि जाति-भेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् " इति ।

अर्थात्—जगत् के मूलभूत प्रधान का(पृथक्त्व)भेद नहीं जाना जाता है क्योंकि मूर्ति व्यवधान जाति आदि जो भेद के कारण हैं उन का प्रधान में अभाव होने से,

अर्थात्—पूर्व जो द्वितीय पाद में (*) यह कहा है कि विवेकी की दृष्टि में यद्यपि प्रधान नष्ट है तथापि अन्य जनों की दृष्टि में वह अनष्ट ही है तहां जो नष्ट औ अनष्ट प्रधान का परस्पर

---

(१) मूर्तिनाम=अवयव सन्निवेशविशेष का है, अर्थात्—विशुद्ध वा न्यून या वक्र अवयव वाले पदार्थ का जो मलिन औ अधिक तथा सरल अवयव वाले पदार्थ से भेद ज्ञान है उस का हेतु अवयवसन्निवेशविशेष है, एवं कुश द्वीप का औ पुष्कर द्वीप का जो परस्पर भेद है उस का हेतु व्यवधान जान लेना, जाति आदि का उदाहरण पूर्व कह चुके हैं, एवंच जाति, लक्षण, देश, मूर्ति, व्यवधान यह पांचभेद के कारण हैं यह निष्पन्न हुआ, तहां यह विशेष है कि मूर्ति तो केवल सावयवपदार्थों का भेदक है औ जाति आदि सावयव निरवयव साधारण के भेदक हैं । तथाच जलीय औ पार्थिव परमाणु का परस्पर भेदक जाति तथा लक्षण है औ पार्थिव परमाणुओं का परस्पर भेद करने वाला देश भेद है इस से निरर्थक विशेष पदार्थ मानना अयुक्त है ।

(*) १९० पृष्ठ पर देखो ।

भेद है वह जाति आदि से नहीं जाना जाता किन्तु शास्त्रीय विवेक से ही जाना जाता है,

भाव यह है कि ऐसे २ विषयों में लौकिक हेतुओं से भेद ज्ञान नहीं होता किन्तु विवेक वा योगबल से होता है ॥५३॥

इस प्रकार विवेकज ज्ञान का अवान्तर फल कथन कर इदानीं लक्षण कथन द्वारा मुख्य फल दिखाते हैं—

सू० तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् (*) ॥५४॥

भाषा—(तारकं) संसार सागर से तारने वाला (सर्व विषयम्) पदार्थ मात्र को विषय करने वाला (१) (सर्वथा विषयं) सर्व प्रकार से सर्व को विषय करने वाला अर्थात्—अवान्तर विशेष धर्मों के सहित भूत-वर्तमान-अनागत काल में होने वाले पदार्थों को जानने वाला (अक्रमं) विना क्रम से एक काल में होने वाला (इति) ऐसा जो ज्ञान है वह विवेकज ज्ञान कहा जाता है।

अर्थात्—कैवल्य का हेतु तथा स्वप्रतिभोत्पन्न (२) अनौपदेशिक, औ अतीत-अनागत-वर्तमान-सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट पदार्थों विषयक जो विलंब से विना ज्ञान वह विवेकज ज्ञान जानना, इस विवेकज ज्ञान का ही नाम परिपूर्ण ज्ञान है, औ सम्प्रज्ञात योग भी इसी ज्ञान का ही एक अंश

(*) विवेकजं ज्ञानं—यह लक्ष्य है, औ शेष पद सब लक्षण हैं।

(१) अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो इस ज्ञान का विषय न हो।

(२) विना उपदेश से अपने अनुभव से उत्पन्न।

है, औ यह ज्ञान ही योग मत में तारक कहा जाता है औ ऋतम्भरा प्रज्ञा से इस ज्ञान का प्रारम्भ होता है औ सप्त प्रकार की प्रज्ञा (१) के हो जाने से यह समाप्त होता है ।

ऐसे ज्ञान के होने से ही योगी कर्तव्य से रहित हुआ ब्रह्मविद्वरिष्ट औ जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार परंपरा से कैवल्य के हेतु भूत संयमों का निरूपण कर संयम के प्रकरण को समाप्त कर अब कैवल्य का साक्षात् साधन कहते हैं—

सू० सत्त्व (†) पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये
कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

भाषा—(सत्त्वपुरुषयोः) बुद्धि औ पुरुष की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि के तुल्य हो जाने से (२) (कैवल्यम्) मोक्ष होता है, इति-शब्द पाद की समाप्ति का बोधक है ।

अर्थात्—विवेकख्याति के हो जाने से ही पुरुष कैवल्य को प्राप्त हो जाता है पूर्वोक्त विवेकज ज्ञान हो चाहे न हो, अर्थात्-जिस समय(३) बुद्धिसत्त्व रज-तम रूप मल से रहित हो कर केवल विवेकख्यातिमात्र में तत्पर हुआ दग्ध क्लेश बीज वाला हो जाता है तिस समय वह शुद्ध कहा जाता है, यही पुरुष की शुद्धि के समान बुद्धि की शुद्धि कही

(१) सप्त प्रकार की प्रज्ञा का निरूपण द्वितीय पाद के २७ सूत्र में स्पष्ट है ।

(†) सत्त्व नाम बुद्धि का है, इसी को ही बुद्धिसत्त्व कहते हैं ।

(२) बुद्धि औ पुरुष की तुल्य शुद्धि हो जाने को ही विवेक ख्याति कहते हैं ।

(३) शुद्धिसाम्ये इस पद का स्पष्ट अर्थ करने के लिये पहिले बुद्धि की शुद्धि का स्वरूप निरूपण करते हैं "जिस समय" इत्यादि से ।

जाती है, औ अविवेकदशा में उपचार रूप(*) से पुरुष में प्रतीयमान जो बुद्धि का धर्म भूत भोग उस का एक वार ही अभाव हो जाना यह पुरुष की शुद्धि है, यह जो बुद्धि औ पुरुष का एक सरीखा शुद्ध हो जाना इसी का नाम शुद्धि-साम्य है इस अवस्था के होने से ही योगी कैवल्य को प्राप्त हो जाता है चाहे वह योगी ईश्वर हो चाहे अनीश्वर हो।

अर्थात्—पूर्वोक्त संयमों के बल से ऐश्वर्य्य वाला जो योगी है अथवा संयमों के अभाव से ऐश्वर्य्य से रहित जो योगी है इन दोनों को कैवल्य का हेतु केवल विवेकख्याति ही है कुछ संयम जन्य सिद्धि रूप ऐश्वर्य्य नहीं क्योंकि विवेक ज्ञान रूप अग्नि से अविद्यादि क्लेश वीजों के दग्ध होने पर फिर अन्य सिद्धि आदिकों की मुक्ति के लिये विवेकी को कुछ अपेक्षा नहीं है, औ(१) यह जो इस विभूतिपादमें अनेक प्रकार के ऐश्वर्य्य रूप तथा अलौकिक ज्ञान रूप सिद्धियों का निरूपण किया है सो तो केवल परंपरा से अन्तःकरणशुद्धि द्वारा वा विश्वास द्वारा ही कैवल्य का उपयोगी जानना कुछ वास्तव से वह ऐश्वर्य्य कैवल्य के हेतु नहीं है क्योंकि यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है कि—ज्ञान के होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है औ अज्ञान के निवृत्त होने पर रागादि क्लेशों का अभाव होता है औ क्लेशों के अभाव से कर्म औ विपाक का अभाव हो जाता है फिर इस अवस्था में समा-

---

(*) उपचार नाम औपाधिक का है यह सब प्रथमपादके चतुर्थ सूत्र में स्पष्ट है।

(१) यदि पूर्वोक्त विभूतियों की कैवल्य में अपेक्षा नहीं है तो इस पाद में इन का निरूपण क्यों किया इस आशङ्का का समाधान करते हैं, "यह जो" इत्यादि से।

ऽधिकार हुए २ गुण पुरुष के सन्मुख दृश्यत्व रूप वा भोग्य रूप से परिणाम को प्राप्त हो कर उपस्थित नहीं होते हैं क्योंकि विवेक ख्याति के होने से गुणोंका अधिकार समाप्त हो जाता है, बस यह जो ज्ञान के होने से अविद्या के नाश पूर्वक गुणों के अधिकार की समाप्ति हो जानी इसी का नाम पुरुष का कैवल्य है (१)।

अर्थात्—इस अवस्था के होने से ही पुरुष प्रकाशस्वरूप मात्र औ अमल हुआ केवली हो जाता है, एवंच विवेक ख्याति ही केवल कैवल्य का कारण है अन्य सिद्धि आदिक नहीं यह फलित हुआ ॥ ५५ ॥

दोहा–(२) अन्तरङ्ग योगाङ्ग पुन, परिणामन को ख्यान।
संयम भूति ज्ञान भन, कियो पाद अवसान ॥

इति श्रीमन्निखिलशास्त्र निष्णात योगिराज स्वामिबालरामोदासीन परमहंसोद्भासिते पातञ्जलदर्शनप्रकाशे विभूति पादस्तृतीयः ।

---

(१) कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति-मोक्ष-गुणाधिकारसमाप्ति, स्वरूपावस्थिति, वास्तवात्मस्वरूपाभिव्यक्ति, परमधाम- परमपद यह सब शब्द एकार्थक हैं।

(२) इस पाद में उक्त अर्थ का संग्राहक दोहा कहते हैं (अन्तरंग) इत्यादि, अर्थात् इस पाद में योग के अन्तरङ्ग अङ्ग औ तीन प्रकार के परिणाम औ संयम विभूति-विवेकजज्ञानादि का निरूपण किया है।

इति श्रीमदुदासीनात्मस्वरूप शास्त्रिमसमुद्दीपिते प्रकाशटिप्पणे तृतीयः पादः ।

ओम्

नमोऽन्तर्य्यामिणे ।

पातञ्जलदर्शनप्रकाशे कैवल्यपादस्तुरीयः ।

दो०वास्तव फल कैवल्य हित, पादि तुरीय अनूप ।
करत प्रकाश महेश नम, बालराम यति-भूप ॥१॥

इस प्रकार प्रथम-द्वितीय-तृतीय पादों से समाधि-तत्साधन-विभूतियों का प्राधान्य से निरूपण किया औ प्रासङ्गिक(१) तथा औपोद्घातिक अन्य भी कुछ व्युत्पादन किया, अब केवल समाधिजन्य कैवल्य का निरूपण करना अवशिष्ट है परन्तु जब तक कैवल्य की योग्यता वाला चित्त, तथा परलोक में गमनशील औ क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त स्थायी आत्मा, तथा प्रसंख्यान की परम काष्टा आदि विषयों का व्युत्पादन न किया जायगा(२) तब तक कैवल्य के स्वरूप का यथार्थ व्युत्पादन नहीं होगा इस लिये उन सब के निरूपणार्थ यह चतुर्थ कैवल्य पाद आरम्भ किया जाता है ।

तहां पहिले पञ्च प्रकार के सिद्ध चित्तों में से कैवल्य की योग्यता वाला चित्त कौन है इस अर्थ के निर्णयार्थ पञ्च प्रकार की सिद्धियों का निरूपण करते हैं—

उदासीन कवि-भूप, शिक्षा-विद्या-प्रद गुरु ।
बन्दत आतमरूप, पाद तुरीय विवर्ण-हित ॥१॥

(१) प्रासङ्गिक=प्रसंग से प्राप्त जो क्षणिकवाद तथा परमाणुपुञ्ज आदि का खण्डन । औपोद्घातिक=प्रकृतशास्त्रप्रतिपाद्य जो योग तिस के उपयोगी विचार का नाम उपोद्घात है तिस से प्राप्त जो वृत्तिभेदादि का निरूपण वह औपोद्घातिक है ।

(२) यहां पर भी इन विषयों का निरूपण प्राधान्य से है औ प्रसंग से पूर्वजन्म सद्भाव, चित्तपरीक्षा प्रकृत्यापूरादि का निरूपण जानना ।

सू० जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाःसिद्धयः ॥१॥

भाषा—जन्म, औषधि, मंत्र, तप, समाधि, इन पांचों से जन्य पांच प्रकार की सिद्धियां हैं ।

तहां जैसे पक्षियों को जन्म से ही आकाशगमनादि सामर्थ्यविशेष होता है तैसे स्वर्गीय (१) कर्मों के अनुष्ठान से जो मनुष्य देह से अनन्तर देवयोनिरूप देहान्तर की प्राप्तिमात्र से आकाशगमनादि सामर्थ्यविशेष हो जाना वह जन्मजन्य सिद्धि कही जाती है, औ लोहगुग्गुलु (२) आदि रसायन के सेवन से जो देवसदृश सामर्थ्य के लाभ द्वारा जरा औ व्याधि से रहित हो जाना वह औषधजन्य सिद्धि जाननी, औ मंत्रों के अनुष्ठान से जो आकाशगमन वा अणिमादि का लाभ हो जाना वह मंत्रजन्य सिद्धि जाननी, औ तप के बल से संकल्पसिद्धि होने से जो कामरूपी(३) औ कामग हो जाना वह तपोजन्य सिद्धि जाननी,

---

(१) स्वर्ग के साधनभूत कर्म को स्वर्गीय कर्म कहते हैं ।

(२) यह सब—"अयःपलं गुग्गुलुस्त्र योऽयः पलत्रयं व्योष पलानि पञ्च,
पलानि चाष्टौ त्रिफलारजश्च कर्षं लिहन् यात्यमरत्वमेव"

इत्यादि ग्रन्थ से भावप्रकाश में स्पष्ट है, एक पल लोहचूर्ण, तीन पल गुग्गुलु औ पंच पल व्योष=अर्थात् शुण्ठी-मरीच-पिप्पली औ आठ पल त्रिफला, इन को मिला कर एक कर्ष सेवन करने से देवभाव को प्राप्त होता है यह इस का अर्थ है, तहां शास्त्रीय प्रमाण से चार कर्ष का एक पल औ १६ षोडश मासे का एक कर्ष औ पञ्च गुञ्जा का एक मासा जानना ।

(३) जिस रूप की कामना करे वा जिस अणिमादि की कामना करे तिस की प्राप्ति जिस को हो जाय वह कामरूपी कहा जाता है, जहां चाहे तहां गमन करनेवाले का नाम कामग है ।

औ पूर्वपाद में निरूपित जो सिद्धियां हैं वह सब समाधि जन्य सिद्धियां जाननी, इस प्रकार सिद्धियों के पांच भेद से सिद्धों के भी पंच भेद जान लेने ॥ १ ॥

इन पूर्वोक्त सिद्धों को जो पूर्वजातीय शरीर इन्द्रियों के बदल जाने से अन्यजातीय नूतन अलौकिक शरीर इन्द्रियों का लाभ होता है वह किस से होता है ? इस आशंका के निवारण अर्थ जात्यन्तरपरिणाम का हेतु निरूपण करते हैं—

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम् (*)—

सू० जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूराद् ॥ २ ॥

भाषा—(तत्र अन्यजातीयपरिणतानां कायेन्द्रियाणाम्) तहां मनुष्यादि जाति रूप से परिणाम को प्राप्त शरीर-इन्द्रियों का जो (जात्यन्तर परिणामः) नूतन देवजाति आदि रूप से परिणाम हो जाना वह (प्रकृत्यापूराद्) प्रकृतियों के आपूर से होता है ।

अर्थात्—औषधादि साधनों के अनुष्ठान से पूर्व जो मनुष्यादि जाति रूप से परिणाम को प्राप्त शरीर औ इंद्रिय हैं उन का जो सिद्धि के बल से पूर्वले परिणाम के त्यागपूर्वक नूतन देवतादि जाति रूप परिणाम से हो जाना है वह प्रकृत्यापूर (१) से जानना,

अर्थात्—शरीर के कारणभूत जो पञ्चभूत तथा

(*) इतने पाठ का भाष्यकारों ने इस सूत्र के आदि में अध्याहार किया है ।

(१) प्रकृत्यापूर=प्रकृति नाम उपादान कारण का है, औ आपूर नाम अपने कार्य्यों में अवयवों के प्रवेश का है, इसी को स्पष्ट करते हैं "अर्थात्" इत्यादि से ।

इन्द्रियों का कारणभूत जो अहंकार यह सब अपने २ विकारों पर नूतन स्वच्छ अपने अवयवों के प्रवेश द्वारा अनुग्रह करते हैं, यह जो अनुग्रह करना है इसी का नाम प्रकृत्यापूर है ।

परन्तु (१) यह अनुग्रह पूर्वोक्त मंत्रादिसाधन से जन्य धर्मादि निमित्त की अपेक्षा वाला है कुछ निरपेक्ष नहीं इस से सब को इस का लाभ नहीं होता है ।

यहां पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि--जहां पर महिमादि सिद्धि रूप परिणाम होता है तहां प्रकृति के नूतन अवयवों का प्रवेश जानना औ जहां पर अणिमादिरूप परिणाम होता है तहां प्रकृति के अवयवों का अपगम (निकस जाना) जानना (२) ।

इसी प्रकार से जो वामन अवतार के शरीर का क्षण भर में त्रिभुवनव्यापित्वरूप परिणाम है, औ श्रीकृष्ण जी के शरीर का जो विश्वरूपत्वादि परिणाम है औ एक ही बालक के शरीर का जो कौमार यौवनादि रूप से परिणाम है औ एक ही वटबीज का जो वृक्षादि रूप से परिणाम है वह सब प्रकृत्यापूर से जान लेना ॥ २ ॥

यह जो आपूर है सो क्या प्रकृतियों का स्वाभाविक धर्म है अथवा धर्मादि निमित्त की अपेक्षा वाला होने से

---

(१) यदि प्रकृत्यापूर से ही नूतन देहादि का लाभ हो जाता है तो सब को क्यों नहीं होता, इस आशंका का वारण करते हैं "परन्तु" इत्यादि से ।

(२) एवं अगस्त्यादि मुनियों का जो समुद्रपानादि करना लिखा है यह भी प्रकृत्यपगम से जान लेना ।

नैमित्तिक हैं, इस सन्देह के होने पर यदि कोई यह कहै कि-सब को न होने से धर्मादिजन्य ही है स्वाभाविक नहीं(१) इस आक्षेप का वारण करते हैं—

सू० निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद् ॥ ३ ॥

भाषा—(निमित्तम्) धर्मादिक जो निमित्त है, वह (प्रकृतीनाम्) प्रकृतियों का (अप्रयोजकम्) प्रयोजक नहीं है (तु) किन्तु (ततः) तिस धर्मादिक से (वरणभेदः*) प्रतिबंधक की निवृत्ति होती है, (क्षेत्रिकवद्) खेत जोतने वाले किसान की तरह (२) ।

अर्थात्—जैसे कृषीवल(३) जल से भरे हुए एक केदार (४) से अन्य केदार में जल लेजाने की इच्छावाला हुआ २ कुछ अपने हाथ से जल को खींच कर उस केदार में नहीं ले जाता है किन्तु जल के गमन का प्रतिवन्धक जो आलवाल (५) है उस को वह भेदन कर देता है फिर उस आलवाल के

---

(१) यदि स्वाभाविक हो तो प्राणिमात्र को प्रकृत्यापूर का लाभ होना चाहिये यह इस का आशय है । (*) वरण नाम आवरण का है इसी को ही प्रतिबन्धक कहते हैं।

(२) धर्मादिक प्रतिबन्धक के निवर्तक हैं कुछ स्वतन्त्र कारण नहीं इस अंश में यह दृष्टान्त जानना, इसी को स्पष्ट करते हैं " अर्थात् " इत्यादि से ।

(३) क्षेत्रिक औ कृषीवल किसान के नाम हैं ।

(४) केदार नाम खेत के बीच में होने वाले छोटे २ विभागों (हिस्सों) का है जिस को पंजाब में कियारा कहते हैं। कोष में तो केदार क्षेत्र यह दोनों एकार्थक हैं ।

(५) आलवाल नाम उस का है जो कि केदारों के चारों ओर मट्टी का सेतु होता है इसी की रुकावट से केदार का जल बाहर नहीं जासकता है ।

भेदन होने से जल आप ही अन्य केदार में प्रवेश जा करता है तैसे धर्म भी प्रकृतियों के आपूर का प्रयोजक (१) नहीं है किन्तु आपूर के प्रतिबंधक (न होने देने वाले) अधर्म का भेदक (निवर्त्तक) है, फिर प्रतिबंधक के निवृत्त होने पर प्रकृतियां आप ही अपने २ कार्य्यों के ऊपर अवयवों के अनुप्रवेश द्वारा अनुग्रह करती हैं कुछ धर्म उस का प्रयोजक नहीं है।

भाव यह है कि--धर्मादिक केवल प्रकृत्यापूर के निमित्त मात्र हैं कुछ प्रयोजक नहीं क्योंकि कारण ही कार्य्य का प्रयोजक होता है कुछ कार्य्य कारण का नहीं (२) औ धर्मादिक तो प्रकृति के कार्य्य हैं इस से वह प्रकृति के प्रयोजक नहीं हो सकते।

एवंच आपूर प्रकृतियों का स्वाभाविक धर्म है औ (३) धर्मादिक प्रतिबंधक की निवृत्तिद्वारा उस में निमित्त हैं यह सिद्ध हुआ।

यद्वा (क्षेत्रिकवद्) इस का यह अर्थ जानना कि-(जैसे खेत में बोये हुए धान्यादिकों के मूलों (जड़ों) में जल के प्रवेश करने में कृषीवल स्वतंत्र कारण नहीं होता है किन्तु मूल में जल जाने के प्रतिबंधक जो उपमूल (४) में उत्पन्न

---

(१) प्रयोजक नाम स्वतन्त्र कारण का है, इसी को हेतु कहते हैं।

(२) जो जिस से उत्पन्न होने वाला है वह उस का कदापि हेतु नहीं हो सकता है क्योंकि वह परतन्त्र है औ स्वतन्त्र कारण का नाम हेतु है।

(३) यदि स्वाभाविक है तो योगादिजन्य धर्म का क्या काम है, इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं " औ " इत्यादि से।

(४) उपमूल नाम धान्य के मूल के समीप का है।

गवेधुक-श्यामाक (१) आदि तृण हैं उन को वहां से उत्पाटन कर अलग कर देता है फिर उन के उपाड़ देने से जल आप ही धान्यों के मूलों में प्रवेश कर जाता है कुछ कृषीवल उस का हेतु नहीं है तैसे धर्म भी प्रकृति की प्रवृत्ति के प्रतिबंधक अधर्म के निवृत्तिमात्र में कारण है कुछ प्रकृति की प्रवृत्ति में नहीं।

अर्थात्–शुद्धि औ अशुद्धि का परस्पर विरोध होने से धर्म अपने विरोधी अधर्म को निवृत्त कर देता है फिर प्रतिबन्धक के निवृत्त होने पर प्रकृति आपही अपने अवयवों पर अनुग्रह करती है कुछ धर्म उस का हेतु नहीं है।

जिस प्रकार से धर्म प्रकृत्यापूर में निमित्त है इस तरह अधर्म को भी प्रकृत्यापूर में निमित्त जानना, तहां (२) इतना विशेष है कि जहां निकृष्ट योनि से उत्तम योनि रूप शुद्ध परिणाम की प्राप्ति होती है वहां पर धर्म को अधर्म की निवृत्ति द्वारा निमित्त जानना औ जहां उत्तम योनि से अनन्तर निकृष्ट योनि रूप अशुद्ध परिणाम की प्राप्ति होती है तहां पर अधर्म को धर्म की निवृत्ति द्वारा निमित्त जानना (*)।

---

(१) विना जोतने औ बोने से जल के संबन्ध मात्र से उत्पन्न होनेवाले क्षुद्र तृण विशेषों के यह नाम हैं।

(२) कौन स्थान में धर्म प्रकृत्यापूर में निमित्त है, औ किस स्थान में अधर्म निमित्त है इस आकाङ्क्षा के होने पर कहते हैं 'तहां' इत्यादि से।

(*) अर्थात्—सत्त्वगुणबहुल शरीर-इन्द्रियों के परिणाम में धर्म निमित्त है औ तमोगुणबहुल शरीर-इन्द्रियों के परिणाम में अधर्म निमित्त जानना।

तहां धर्म का उदाहरण नंदीश्वर (१) जानना औ अधर्म का उदाहरण नहुष-अजगर (२) जानना ॥ ३ ॥

अब जिस समय योगी अनेक शरीरों द्वारा किसी व्यवहार करने की इच्छा वाला हुआ स्वशरीर के तुल्य अनेक शरीरों को रचता है तिस समय वह सब निर्मित शरीर एक मन वाले होते हैं (*) वा अनेक मन वाले? इस विकल्प के होने पर अन्तिमकल्प (+) को सिद्धान्त कहते हैं—

सू० निर्माणचित्तान्यस्मितामात्राद् ॥ ४ ॥

भाषा—(अस्मितामात्राद्) अहंकार रूप उपादान कारण मात्र को ग्रहण कर (निर्माणचित्तानि) निर्माण चित्तों (३) को योगी रचता है।

अर्थात्—जितने शरीरों को योगी धारण करता है उतने ही चित्तों का योगी निर्माण करता है, इस से निखिल ही

---

(१) नन्दी नामक मनुष्य शिवपूजन-ध्यानादि से जन्य धर्म से ईश्वर औ अमर हुआ है, यह द्वितीय पाद के १२ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट है।

(२) इन्द्रभाव को प्राप्त हुआ नहुषनामक राजा अगस्त्यादि मुनियों के अपमान से जन्य अधर्म से अजगर सर्प हुआ यह भी द्वितीय पाद के १२ सूत्र में स्पष्ट है।

(*) अर्थात्—अनेक शरीरों को निर्माण करने वाला जो योगी है उस के शरीर में वर्तने वाले चित्त से ही अन्य सब शरीरों में सङ्कल्पादि व्यवहार होता है वा सब शरीर भिन्न २ चित्त वाले होते हैं।

(+) अर्थात्—सब शरीरों में भिन्न २ चित्त होता है यह अन्त का पक्ष योग का सिद्धान्त है।

(३) अहङ्कार को स्वाधीन होने से सङ्कल्पमात्र से ही जो चित्त नये रचे जाते हैं वह निर्माण चित्त कहे जाते हैं।

योगी के शरीर भिन्न भिन्न(१) चित्त वाले होते हैं ॥४॥

यदि अनेक चित्त माने जायंगे तो प्रत्येक २ चित्तों के अभिप्रायों को भिन्न २ होने से एक अभिप्राय के अनुसार व्यवहार नहीं होगा (२) इस से विलक्षण एक ही चित्त अनेकशरीरवर्ती मानना चाहिये ? इस आक्षेप का वारण करते हैं–

सू० प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

भाषा—(अनेकेषाम्) अनेक चित्तों की (प्रवृत्तिभेदे) प्रवृत्तिविशेष में (एकं चित्तम्) एक चित्त (प्रयोजकम्) प्रेरक जानना ।

अर्थात्—अनेक चित्तों की भिन्न २ प्रवृत्ति न होय किन्तु एक किसी चित्त के अभिप्रायानुसार ही हो, इस वार्ता को विचार कर वह योगी एक चित्त को सब का नायक (३) बना देता है, अर्थात्—पूर्व सिद्ध (४) जो योगी का चित्त है उसी को सब का नियामक कर देता है, तब फिर उसी नायक चित्त के अभिप्रायानुसार ही सब की प्रवृत्ति होती है कुछ स्वतन्त्र नहीं, इस से अनेक चित्त माननें में कोई दोष नहीं यह फलित हुआ ॥ ५ ॥

---

(१) यद्यपि सूत्रकार ने कण्ठ से अनेक चित्त नहीं कहे हैं तथापि (निर्माणचित्तानि) इस बहुवचन से अनेक चित्तों का लाभ जानना ।

(२) भिन्न २ चित्तों के भिन्न २ संकल्प होने से योगी को यथेष्ट व्यवहार का लाभ नहीं होगा ।

(३) प्रयोजक, नायक, नियामक, स्वामी, यह सब एकार्थक हैं ।

(४) योगी के शरीर में जो प्रथम वर्त्तमान चित्त है वह पूर्वसिद्ध जानना ।

इस प्रकार प्रासङ्गिक विचार को समाप्त कर अब पूर्वोक्त पञ्च प्रकार के सिद्ध(१) चित्तों में से जो कैवल्य की योग्यता वाला सिद्ध चित्त है उस का निश्चय करते हैं—

सू० तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

भाषा—(तत्र) तिन पांच प्रकार के सिद्ध चित्तों के मध्य में से, जो (ध्यानजम्) ध्यानजन्य सिद्ध चित्त है, वह (अनाशयम्) आशय=(२) वासना से रहित है।

अर्थात्—प्रथम सूत्र में कथित पांच प्रकार की सिद्धियों के भेद से जो पञ्च प्रकार के सिद्ध चित्त हैं उन में से समाधिजन्य सिद्धि वाले योगी का जो चित्त है वही कैवल्य की योग्यतावाला है अन्य सिद्धचित्त नहीं क्योंकि अन्य जो सिद्धचित्त हैं वह रागादि का हेतुभूत वासना कर वासित होने से पुण्य पाप के संबंधी हैं औ योगी का जो चित्त है वह क्षीण क्लेश होने से वासना से विमुक्त है, इसी से ही वह पुण्यपाप के संबंध वाला नहीं (*) है ॥ ६ ॥

योगी को पुण्य-पाप का संबन्ध नहीं है औ इतरों को है, इस में हेतु कहते हैं —

---

(१) पञ्च प्रकार की सिद्धियों के भेद से पञ्च प्रकार के सिद्ध जानने औ पञ्च प्रकार के सिद्धों के भेद से पञ्च प्रकार के सिद्ध चित्त जानने।

(२) आशय नाम—कर्म औ क्लेशों की वासना का है।

(*) यद्यपि योगी भी ध्यान समाधि आदि कर्मों का अनुष्ठान करता है तथापि वह कर्म पुण्यजनक नहीं हैं क्योंकि रागादि पूर्वक ही कर्मानुष्ठान पुण्य वा पाप का जनक होता है कुछ केवल कर्मानुष्ठान नहीं, यह सब द्वितीय पाद के १३ सूत्र में स्पष्ट है।

सू० कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

भाषा—(योगिनः) योगी का, जो (कर्म) यमनियमादिक कर्म है, वह (अशुक्लाऽकृष्णम्) अशुक्ल औ अकृष्ण है, (इतरेषाम्) योगी से इतर जनों के जो कर्म हैं वह (त्रिविधम्) शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण, भेद से तीन प्रकार के हैं।

अर्थात्—कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल, अशुक्लाऽकृष्ण, इन भेदों से चार प्रकार के कर्म हैं, तहां तमोमूलक तथा दुःखरूप फल देने वाले जो ब्रह्महत्यादि रूप दुरात्माओं के कर्म हैं वह कृष्ण कहे जाते हैं, औ रजोमूलक तथा दुःखमिश्रितसुख रूप फल देने वाले जो बाह्यसाधन (*) साध्य यज्ञादि कर्म हैं वह शुक्लकृष्ण कहे जाते हैं क्योंकि यज्ञादिक परपीडा (१) औ परानुग्रह द्वारा पुण्य औ पाप के जनक हैं, औ सत्त्वमूलक तथा सुखमात्रफल देने वाले जो मनोमात्रसाध्य तप, (२) स्वाध्याय, ध्यान आदि कर्म हैं वह शुक्ल कहे जाते हैं क्योंकि परपीडाकर न होने से स्वाध्यायादि केवल पुण्यमात्र का जनक हैं औ गुणमूलक तथा सुखदुःख रूप फल से शून्य जो सम्प्रज्ञातसमाधि आदि कर्म हैं वह अशुक्लाऽकृष्ण कहे जाते हैं, अर्थात्—क्षीणक्लेश चरमदेह(३) वाले जो संन्यासी योगी हैं उन के कर्म अशुक्ल औ अकृष्ण हैं।

(*) व्रीहि, यव, घृत, पशु, स्त्री आदि जो यज्ञ के साधन हैं वह बाह्यसाधन कहे जाते हैं।

(१) पशुवधादि परपीडा द्वारा पाप के जनक हैं औ ब्राह्मणों के प्रति दक्षिणा दानादि रूप परानुग्रह द्वारा पुण्य के जनक हैं।

(२) तप=इन्द्रियों का निग्रह, स्वाध्याय=वेदादि का अध्ययन।

(३) जिस देह से अनन्तर अन्य देह की प्राप्ति न होय वह चरम देह है।

भाव यह है कि--यद्यपि योगी लोक भी यमनियमादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं तथापि फलकामना के अभाव से वह कर्म शुक्ल नहीं हैं, औ निषिद्धकर्मों से भिन्न होने से वह कृष्ण भी नहीं हैं, किन्तु अशुक्लाऽकृष्ण हैं, तथा च पुण्य-पाप के संवन्ध वाला न होने से योगी का ही चित्त कैवल्य की योग्यता वाला है इतरजनों का चित्त नहीं क्योंकि इतर जनों का जो चित्त है वह यथायोग से पाप, पुण्य, पुण्य-पाप, इन तीनों के संवन्ध वाला है यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

इस प्रकार योगी के चित्त को वासना शून्य निरूपण कर अब इतरों के चित्तों को वासना का आश्रय कहते हैं—

सू० ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-
वासनानाम् ॥ ८ ॥

भाषा—(ततः) तिस पूर्वोक्त तीन प्रकार के कर्मों से, (तद्विपाका(*) ऽनुगुणानामेव वासनानाम्) तिन कर्मों के फलों के अनुसारी ही वासनाओं का (अभिव्यक्तिः) प्रादुर्भाव होता है,

अर्थात्—जिस पुण्य वा पाप रूप कर्म का जो दिव्य(१) वा नारक जन्मादि रूप फल होना होता है तिस फल के अनुकूल ही उस कर्म से वासना प्रकट होती है प्रतिकूल

(*) विपाक नाम फल का है, सो फल जाति-आयु-भोग-रूपभेद से तीन प्रकार का है यह २ य पाद के १३ सूत्र में स्पष्ट है।

(१) दिव्य=स्वर्ग में होने वाला। नारक=नरक में होने वाला।

नहीं, क्योंकि यह कभी भी संभव नहा हो सकता है कि दैव (१) कर्म फलोन्मुख हुआ नरक-तिर्य्यक्-मनुष्यभोग की वासना का निमित्त है किन्तु दैव (२) भोग के अनुकूल (उपयोगी) जो वासना हैं उन का ही वह व्यञ्जक कहा जायगा, ऐसा न माना जायगा तो जिस को मनुष्य जन्म से अनन्तर उष्ट्रजन्म का लाभ हुआ है उस की कण्टक भक्षण में प्रवृत्ति न होगी, इस से यह अवश्य मानना चाहिये कि उष्ट्रयोनि का प्रापक जो फलोन्मुख कर्म है वह उष्ट्रयोनि के भोग के उपयोगी वासना का निमित्त (३) है, इसी प्रकार नारकादि (४) कर्मों में भी जान लेना ।

एवंच जिस जीव को जिस विपच्यमान (*) कर्म से मनुष्ययोनि से अनन्तर मार्जार वा उष्ट्र योनि की प्राप्ति होनी होगी तिस जीव के चित्त में तिस कर्म से मार्जार उष्ट्रयोनि के भोग के उपयोगी ही वासना प्रकट होंगी (५) अन्य योनि की वासना नहीं यह सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥

यहां पर यदि कोई यह आक्षेप करे कि (बहुतव्यवहित (+) जो मार्जार औ उष्ट्र योनि पूर्व हो चुकी है तिसी की

---

(१) देवतायोनि की प्राप्ति कराने वाला कर्म ।

(२) देवयोनि में होने वाला भोग ।

(३) अर्थात्—कर्मों के दो फल हैं एक तो देवादियोनि की प्राप्ति करा देनी औ एक उस जाति के भोगों के अनुकूल वासना उत्पन्न कर देनी ।

(४) नारक=नरक के देने वाला कर्म, अर्थात्- नरक का प्रापक जो कर्म है वह नारकीय भोगानुकूल वासना का निमित्त है ।

(*) फलोन्मुख ।

(५) इसी से उष्ट्रयोनि में उत्पत्तिमात्र से ही तिस जाति में उचित भोगों में वह प्रवृत्त हो जाता है ।

(+) व्यवहित=व्यवधानवाला ।

वासना अभिव्यक्त होगी औ अव्यवहित जो मनुष्य जन्म है उस की वासना प्रकट नहीं होगी यह कथन समीचीन नहीं किन्तु अव्यवहित जो मनुष्य जन्म है तिसी की वासना का प्रकट मानना समीचीन है क्योंकि यह कभी भी संभव नहीं हो सकता कि अव्यवहित दिन में अनुभूत पदार्थ का स्मरण नहीं होता है औ व्यवहित दिनों के अनूभूत का स्मरण होता (१) है इस आक्षेप का वारण करते हैं—

सू० जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वाद् ॥ ९ ॥

भाष—(जातिदेशकालव्यवहितानामपि) जाति-देश-काल-कृत व्यवधान वाली वासनाओं का भी (आनन्तर्य्यम्) अव्यवधान ही जानना, क्योंकि (स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्) स्मृति औ संस्कारों को समानरूप होने से,

अर्थात्—मार्जार वा उष्ट्र योनि का प्रापक जो कर्म है वह जब अपने फल देने के उन्मुख होगा तब पूर्वले उष्ट्र औ मार्जार योनि के संस्कारों (२) को ले कर ही उन्मुख होगा ऐसे नहीं, इस से वह (*) चाहे शत जन्म के व्यवधान वाला वा दूर देश के व्यवधानवाला वा शतकल्प के व्यवधानवाला

---

(१) अर्थात्—मनुष्य जन्म को ही अव्यवहित होने से मनुष्य जन्म की ही वासना होनी चाहिये उष्ट्र जन्म की नहीं, क्योंकि उष्ट्र जन्म को व्यवहित होने से उस की वासना का आनन्तर्य्य (अव्यवधान) नहीं है।

(२) अनुभव से जन्य स्मृति के हेतु जो संस्कार हैं वह वासना पद के वाच्य हैं इसी से ही यहां पर वासना के स्थान में संस्कार पद लिखा है। (*) (यह) कर्माशय।

भी होय तौ भी पूर्वानुभूत जो व्यवहित मार्जार वा उष्ट्रयोनि है उस के संस्कारों को ले कर ही उदय होगा अन्य अव्यवहित संस्कारों को नहीं, क्योंकि उष्ट्रादियोनि का प्रापक जो कर्म है वह उन संस्कारों का निमित्त है, इस से यद्यपि वह वासना व्यवहित हैं तथापि समान-कर्म जन्य होने से फल दृष्टि से उन का आनन्तर्य्य (अव्यवधान) ही जानना।

व्यवहित संस्कारों का भी फलवल से आनन्तर्य्य (अव्यवधान) होता है इस में हेतु कहते हैं (स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वाद्) अर्थात्—जैसा अनुभव होता है तैसा ही उस से संस्कार होता है औ तादृश ही उस संस्कार से स्मरण होता है इस प्रकार स्मृति औ संस्कारों को एक रूप (समानविषयविषयक) होने से जात्यादि व्यवहित उन पूर्वले संस्कारों का ही प्रादुर्भाव होता है अन्य अव्यवहितों का नहीं, यदि मनुष्य जन्म की वासना का ही प्रादुर्भाव माना जायगा तो उष्ट्रजाति के भोग का स्मरण नहीं होगा (१) क्योंकि इन दोनों का भिन्न रूप है, एवं च पूर्वोक्त ही समीचीन जानना।

भाव यह है कि—(२) यद्यपि मनुष्य वासना अव्यवहित हैं

---

(१) अर्थात्—उष्ट्र की जो स्वजाति उचित कण्टकभक्षणादि में प्रवृत्ति होती है सो उष्ट्रजाति के भोगों के स्मरण से होती है सो यदि उष्ट्रजाति के भोग का स्मरण नहीं होगा तो उष्ट्र की स्वजातीय भोगों में प्रवृत्ति न होगी औ प्रवृत्ति होती है, इससे उष्ट्र-संस्कारों का ही प्रादुर्भाव होना युक्त है अन्य का नहीं।

(२) अव्यवहित मनुष्यवासना का प्रादुर्भाव क्यों नहीं होता ? इन का समाधान कहते हैं "यद्यपि" इत्यादि से।

तथापि उन के व्यञ्जक कर्म का अभाव होने से वह प्रकट नहीं हो सकतीं औ उष्ट्रादि वासना का तो उष्ट्र योनि प्रापक जो कर्म है सोई व्यञ्जक है, इस से व्यञ्जक के सद्भाव से उष्ट्रादि वासना की ही अभिव्यक्ति होती है अव्यवहित मनुष्य वासनाकी नहीं, एवंच व्यवहित वासनाओं का भी निमित्त नैमित्तिक(१) भाव होने से आनन्तर्य्य है यह सिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

यहां पर यदि कोई यह आशङ्का करे कि "जिसजीवको प्रथम कभी उष्ट्रयोनि की प्राप्ति हो चुकी है औ फिर बहुत योनियों से अनन्तर उष्ट्रयोनिकी प्राप्ति हुयी है वहां पर तो यह कह सकते हैं कि पूर्व उष्ट्रयोनि के संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है औ प्रथम ही जो उष्ट्रयोनि की प्राप्ति हुयी थी वहां किस प्रकार संस्कारों का प्रादुर्भाव माना जायगा क्योंकि उस से पूर्व उष्ट्र जन्म के सद्भाव में प्रमाण का अभाव है" इस आशङ्का के वारणार्थ संसार को अनादि कहते हुए वासना को अनादि कहते हैं—

सू० तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वाद्॥१०॥

भाषा—(तासाम्) तिन वासनाओं को (अनादित्वम्) अनादित्व है, क्योंकि (आशिषो नित्यत्वाद्) आशीर्वाद (२) को नित्यत्व होने से,

---

(१) उष्ट्रयोनि का प्रापक जो कर्म है वह निमित्त है औ वासना नैमित्तिक है।

(२) इष्ट पदार्थ की प्रार्थना का नाम आशीर्वाद है, इसी को स्पष्ट करते हैं 'अर्थात्' इत्यादि से।

अर्थात्--निखिल प्राणिमात्र की जो आत्म--विषयक यह निरन्तर प्रार्थना है कि "मेरा अभाव कभी मत हो किन्तु सर्वदा ही मैं विद्यमान रहूं" इस प्रार्थना को सर्वदा होने से वासना को अनादि जानना।

भाव यह है कि--यदि पूर्व पूर्व जन्म के मरणदुःख की वासना न मानी जायगी तो जातमात्र जन्तु को जो यह मरणत्रास (१) होता है सो न होना चाहिये औ होता है इस से वासना को अनादि तथा पूर्व पूर्व जन्म का होना यह अवश्य मानना चाहिये, यह सब पूर्व निरूपण कर चुके हैं (*) इस से यहां पर फिर विस्तार की कुछ अपेक्षा नहीं।

जो कि पूर्वजन्माभाववादी नास्तिक लोक यह कहते हैं कि (जातमात्र जन्तु को जो यह मरणत्रास है वह (२) स्वाभाविक है नैमित्तिक (३) नहीं) तो उन से यह पूछना चाहिये कि यदि स्वाभाविक है तो सर्वदा क्यों नहीं होता क्योंकि जो स्वाभाविक होता है वह किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं करता (४) है।

अर्थात्—यदि स्वाभाविक है तो इष्टवस्तु तथा

---

(१) मेरा अभाव कभी मत होय इस प्रकार मरण का भय, वा भयङ्कर पदार्थ देखने से त्रासपूर्वक कम्प।

(*) द्वितीय पाद के ९ सूत्र का व्याख्यान देखो।

(२) जैसे कमल का संकोच औ विकाश स्वाभाविक है तैसे जातमात्र जन्तु को जो इष्ट वस्तु के दर्शन से हर्ष औ भयङ्कर वस्तु के दर्शन से शोक का होना है यह भी स्वाभाविक है यह चार्वाकों का आशय है। (३) वासनारूप निमित्त से जन्य नहीं।

(४) कमल का विकाश औ संकोच भी दिनकर (सूर्य्य) की किरणों के संपर्क औ असंपर्क रूप निमित्त से जन्य है इस से वह भी स्वाभाविक नहीं, यह तत्त्व है।

भयङ्करवस्तु के दर्शन से विना भी हर्ष औ शोक होना चाहिये औ होता नहीं इस से वासनाजन्य होने से नैमित्तक ही मरणत्रास है स्वाभाविक नहीं, तथाच वासना अनादि है यह सिद्ध हुआ,

यहां पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि–यद्यपि अनादि अनेक जन्मों की विलक्षण वासना से जीव का चित्त अनुविद्ध (१) है तथापि सब वासना अभिव्यक्त नहीं होती हैं किन्तु जो कर्म फल देने को उन्मुख हुआ है वही कर्म जिस का व्यञ्जक होता है वही वासना उदय हो कर पुरुष के भोग में निमित्त होती हैं अन्य सब वासना नहीं।

(२) अब यहां पर एक यह संदेह उपस्थित हो सकता है कि (इन वासनाओं का आश्रय जो चित्त है सो मीमांसक संमत महत्परिमाण वाला होने से विभु है, वा नैयायिक संमत अणुपरिमाणवाला होने से अणु है वा सांख्यादि–संमत मध्यमपरिमाणवाला होने से अणु औ विभु से विलक्षण है) इस संदेह के उपस्थित होने पर भाष्यकारों ने प्रथम तो सांख्यमत को ले कर यह कहा है कि "घटप्रासादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकाशि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः, तथाचाऽन्तराभावः संसारश्च युक्त (३) इति" फिर मीमांसकमत को ले कर यह कहा है कि " वृत्तिरेवास्य

---

(१) अनुविद्ध=युक्त।

(२) अब प्रसङ्ग से चित्त के परिमाण के निर्धारणार्थ विचार का प्रारम्भ करते हैं "अब" इत्यादि से।

(३) जैसे घट औ प्रासाद (राजमन्दिर) रूप अल्प औ महान् आश्रय के भेद से

विभुनः संकोचविकासिनीत्याचार्य्यः (१)" परन्तु इन दोनों पक्षों में से कौन पक्ष सिद्धान्त है यह निर्णय करना केवल व्याख्याकारों का कृत्य है।

तहां वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने यह निर्णय किया है कि प्रथम पक्ष तो एकदेशी है, औ द्वितीय पक्ष सिद्धान्त है, अर्थात्–चित्त विभु है यह सिद्धान्तपक्ष है (२) परन्तु (३) विचारदृष्टि से समालोचना कियी जाय तो प्रथमपक्ष ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है द्वितीय नहीं क्योंकि प्रकृति से अतिरिक्त यावत् कार्य्यजात को साङ्ख्यमत में परिच्छिन्न होने से मन को विभु मानना अयुक्त है अत एव "हेतुमदनित्यमव्यापिसक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्" (४)

प्रदीप का प्रकाश सङ्कोच औ विस्तारवाला होता है तैसे पिपीलिका औ गजरूप अल्प औ महान् आश्रय के भेद से चित्त भी स्वल्प औ महत्परिमाणवाला होता है, इसी से ही तिस २ शरीर के परिमाण के तुल्य परिमाणवाला चित्त है, यह अपर साङ्ख्य लोक मानते हैं, (तथाच) शरीर परिमाण मानने से ही परलोकगमनरूप जो अन्तराभाव औ फिर वहां से आगमनरूप जो संसार, यह दोनों युक्त होता है, अर्थात्–यदि चित्त विभु माना जायगा तो वह निष्क्रिय होने से परलोक में गमन औ वहां से फिर यहां आगमनरूप क्रिया वाला नहीं होगा इस से मध्यमपरिमाण मानना ही युक्त है, यह इस भाष्य का अर्थ है।

(१) इस विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच विकाश वाली है कुछ चित्त संकोच विकाश वाला नहीं है क्योंकि चित्त विभु है, यह इस का भावार्थ है।

(२) प्रथम पक्ष में (अपरे प्रतिपन्नाः) यह 'अपरे' पद दिया है इस से वह एकदेशी है औ द्वितीय पक्ष में (आचार्य्यः) यह पद दिया है इस से द्वितीय पक्ष सिद्धान्त है, यह मिश्र जी का आशय है।

(३) यह जो चित्त को विभुत्व प्रतिपादन किया है वह केवल आचार्य्यमत के अनुमोदनार्थ प्रौढि वाद से ही जानना कुछ वास्तव से चित्त विभु नहीं है, इस आशय से स्वामी जी स्वसिद्धान्त कहते हैं "परन्तु" इत्यादि से।

(४) (हेतुमत्) कारणवाला, अर्थात्–कार्य्य (अनित्य) सदा न होने वाला,

इस सूत्र से कपिलमहर्षि जी ने महत्तत्त्वादि निखिल कार्य्य को अव्यापक कहा है, जो कि प्रभाकर ने (मन-विभु है, नित्येन्द्रिय होने से, श्रोत्र की तरह) यह अनुमान प्रदर्शन किया है सो भी अमान जानना क्योंकि "एतस्मात्प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (१) इस श्रुति से मन औ श्रोत्र इन दोनों को जन्य मानने से हेतु (२) औ दृष्टान्त असङ्गत है।

अतएव कपिलमुनिजी ने "न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा" (३) "सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः" इन दोनों सूत्रों से मन के विभुत्व का निराकरण कर "न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवद् (*) इस सूत्र से अणुपरिमाण का खण्डन कर परिशेष से मध्यमपरिमाण वाला ही मन माना है।

एवं च समानतन्त्र(४) सिद्धान्त ही के स्वीकार को

(अव्यापि) सर्व जगह में न होने वाला, (सक्रियं) क्रिया-वाला (अनेकं) प्रति शरीरों में भिन्न २ होनेवाला, (आश्रितं) अपने अवयवों में निवास करनेवाला (लिङ्गं) प्रकृति के जनाने वाला, अर्थात्—प्रकृति से भिन्न- जो कार्य्य जात है वह इतने धर्म वाला है, साङ्ख्यदर्शन प्रथमाध्याय का यह १२४ सूत्र है।

(१) इस परमात्मा से ही मन औ निखिलइन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, यह मुण्डकश्रुति का अर्थ है।

(२) हेतु=नित्येन्द्रियत्वरूप, औ दृष्टान्त=श्रोत्र की तरह, यह जानना।

(३) मन को व्यापकता नहीं, करण होने से, इन्द्रिय होने से, क्रियावाला होने से, परलोक में गमनवाला होने से, यह साङ्ख्यदर्शन के पञ्चम अध्याय के ६९-७० इन दोनों सूत्रों का अर्थ है।

(*) चित्त को (निर्भागत्वं) निरवयवता नहीं है क्योंकि (तद्योगाद्) एक काल में अनेक इन्द्रियों के संग संयोग होने से, किन्तु (घटवत्) घट की तरह सावयव है, यह अ० ५-सू७१ का अर्थ है।

(४) समानतन्त्र=एकशास्त्र, अर्थात् यह भी साङ्ख्य है और यह भी साङ्ख्य है इस से समान शास्त्र का ही सिद्धान्त मानना उचित है,

उचित होने से यहां पर जो विभुत्व का प्रतिपादन है सो प्रौढिवाद से (१) जानना।

तथाच संकोच विकाश वाला होने से चित्त मध्यम परिमाण वाला है यह निष्पन्न हुआ, (२) परन्तु वह चित्त अपने संकोच औ विकाश में तथा शुभाऽशुभवासना के प्रकट करने में स्वतन्त्र नहीं है किन्तु धर्मादि निमित्त की अपेक्षा वाला है इस से संकोचादि कादाचित्क (३) है।

वह जो धर्मादि (४) निमित्त है सो भी दो प्रकार का है एक तो वाह्य औ एक आध्यात्मिक, तहां शरीर-इन्द्रिय धन आदि कर के साध्य जो नमस्कार-स्तुति-दानादि (५) वह वाह्य धर्मादिनिमित्त हैं औ केवल चित्तमात्र कर के साध्य जो श्रद्धा-मैत्री आदि (६) वह आध्यात्मिक धर्मादिनिमित्त (७) हैं—मैत्री आदिक (*) आध्यात्मिक धर्म हैं यह पञ्चशिखाचार्य्य को भी संमत है, इसी से ही "येचैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते वाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्म-

---

(१) यहां पर प्रौढिवाद का अर्थ प्रगल्भता अर्थात्—जबरदस्ती जानना।

(२) यदि संकोचादि स्वभाव वाला चित्त है तो सर्वदा ही क्यों नहीं संकोच-विकाश वाला होता है, इस का समाधान कहते हैं "परन्तु" इत्यादि से।

(३) कदाचित् होने वाला है।

(४) आदि पद से अधर्म का ग्रहण करना, एवं अन्यत्र भी जान लेना।

(५) आदि शब्द से निष्ठुरभाषण हिंसादि का ग्रहण जानना,

(६) आदि शब्द से रागद्वेषादि का ग्रहण करना,

(७) यद्यपि यह सब नमस्कारादि धर्म नहीं हैं किन्तु धर्म के साधन हैं तथापि साधन-साध्य का अभेद मान कर नमस्कारादि को भी धर्म जानना, इसी से ही यज्ञादि को धर्म कहाजाता है, (*) यहां पर आदि पद से केवल करुणा-मुदिता-श्रद्धादि लेने।

मभिनिर्वर्तयन्ति (१)"इस वाक्य से पञ्चशिखाचार्य्य ने मैत्र्यादि को प्रकृष्ट धर्म का साधन कहा है।

तहां इन दो प्रकार के धर्मों में से बाह्यधर्म की अपेक्षा से मानस धर्म अति बली है क्योंकि ज्ञान वैराग्यादि रूप जो मानसधर्म हैं उन से अधिक प्रबल कोई बाह्यधर्म दृष्ट नहीं है, अर्थात्—बाह्यधर्म के बल से मानसधर्म का बल प्रबल है, अतएव जो असाध्य कार्य्य है वह मानस धर्म के बल से साध्य हो जाता है जैसा कि रामचन्द्र जी का दण्डकारण्य का निर्जन करदेना औ अगस्त्य मुनिजी का समुद्रपान करना।

अर्थात्—मानसबल से विना शारीरिक बल कर दण्डकारण्य शून्य करने की किस की उत्साह शक्ति है औ अगस्त्य की तरह समुद्र कौन पान कर सकता है, इस से मानसधर्म बल ही सब से प्रबल जानना ॥ १० ॥

इस प्रकार से वासना को अनादि कथन किया औ प्रसङ्ग से अन्य विचार का भी उपन्यास किया, अब यहां पर यह शङ्का उत्थित होती है कि [यदि वासना अनादि हैं तो इन का उच्छेद (नाश) न होना चाहिये क्योंकि जो अनादि होता है वह नाशरूप धर्म से रहित होता है जैसा कि पुरुष (*)] इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं—

---

(१) (ध्यायिनां) योगियों के जो यह मैत्री आदि विहार=अयत्नसाध्य व्यापार हैं वह बाह्य साधन की अपेक्षा से रहित हुये २ प्रकृष्ट धर्म अर्थात्—शुक्ल धर्म को (अभिनिर्वर्तयन्ति) उत्पन्न करते हैं, यह इस का अर्थ है।

(*) यदि अनादि का भी नाश माना जायगा तो पुरुष का भी नाश होना चाहिये, यह शङ्का का आशय है।

सू० हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

(हेतु-फला-ऽऽश्रया-ऽऽलम्बनैः) हेतु (१) फल, आश्रय आलम्बन, इन चारों कर के (संगृहीतत्वाद्) वासनाओं को संगृहीत होने से (एषाम्) इन चारों के (अभावे) नाश होने पर (तदभावः) तिन वासनाओं का अभाव हो जाता है ।

अर्थात्—वासनाओं के अभिव्यञ्जक जो अविद्यादि हैं उन का विवेकख्याति से नाश होने से वासना आप ही निवृत्त हो जाती हैं (२) ।

तहां अविद्यारूपदण्ड कर के भ्रामित जो षडर(३)संसार चक्र है वह वासना का हेतु जानना ।

(४)अर्थात्—प्रथम जीव को धर्म से सुख औ अधर्म से दुःख होता है औ फिर सुख से सुख औ सुख के साधनों

---

(१) (हेतु) धर्मादिक, (फल) सुखादिक, (आश्रय) मन, (आलम्बन) शब्दादि विषय ।

(२) कुछ अनादि होना ही नाश के अभाव का निमित्त नहीं है किन्तु विनाश के कारण का अभाव होना, तहां पुरुष के नाश कारण का अभाव है इस से पुरुष का नाश नहीं होता है औ वासना के नाश का कारण तो अविद्यादि का नाश विद्यमान है, इस से वासना नष्ट हो जाती हैं, यह विशेष है ।

(३) अर नाम उस का है जो कि रथ के चक्र के बीच में तिर्यक्=वक्र काष्ट होते हैं, (षट्) छे होवैं अर जिस में वह षडर कहा जाता है, अथवा कुलाल के चक्र की शलाकाओं का नाम अर जानना ।

(४) षट् अर को स्पष्ट करते हुये हेतु शब्द के अर्थ का निरूपण करते हैं, " अर्थात् " इत्यादि से ।

में राग, औ दुःख से दुःख औ दुःखके साधनों में द्वेष, फिर राग द्वेष से प्रयत्न अर्थात्—मन-वाणी-शरीर की चेष्टाद्वारा परानुग्रह औ परपीडा, फिर अनुग्रह औ पीडा से धर्म औ अधर्म फिर इन दोनों से सुख औ दुःख फिर सुख दुःख से राग-द्वेष, इस प्रकार अनादि काल से प्रवृत्त जो धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, राग, द्वेष, रूप षट् अर वाला संसार चक्र है वह वासना का हेतु जानना।

यह जो प्रतिक्षण आवर्तमान संसार चक्र है सो भी स्वतंत्र नहीं है किंतु सब क्लेशों का मूल जो अविद्या है वह इस संसार चक्र का प्रेरक है, (१) तथा च संसारचक्रद्वारा अविद्या ही वासना का हेतु है यह सिद्ध हुआ औ (+) जिस पुरुषार्थ(भोगमोक्ष के उद्देश से धर्मादि का अनुष्ठान किया जाता है अर्थात्—जिस फलकी इच्छासे धर्मादिक वर्त्तमानावस्था (२) वाले होते हैं वह वासना का फल जानना, औ मन इन वासनाओं का आश्रय है, परन्तु साधिकार मन ही वासना का आश्रय है कुछ (३) समाप्ताधिकार नहीं क्योंकि समाप्ताधिकार मनमें वासनाओं की स्थिति का होना असंभव है।

---

(१) एवं च वासना का हेतु संसारचक्र औ संसारचक्र का हेतु अविद्या, यह सिद्ध हुआ, तहां इतना विशेष है कि जब रथचक्र की शलाका का नाम अर है तब अविद्यारूप सारथी कर भ्रामित संसारचक्र वासना का हेतु जानना औ जब कुलाल चक्र की शलाकाका नाम अर है तब अविद्या रूप दण्ड भ्रामित संसारचक्र को वासना का हेतु जानना। [+] वासना का हेतु कह कर अब वासना का फल कहते हैं "जिस" इत्यादि से।

(२) अर्थात्—धर्मादिक अनुष्ठान से उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु वर्तमानावस्थावाले होते हैं क्योंकि सत्कार्य्य वाद में अपूर्व 'असत्' की उत्पत्ति निषेध है।

(३) विवेकख्याति के अभाव वाला मन साधिकार कहा जाता है औ विवेकख्याति वाला जो मन है वह समाप्ताधिकार कहा जाता है।

(१) औ जो वस्तु सन्मुख उपस्थित हुई जिस वासना का अभिव्यञ्जक होती है वह उस वासना का आलम्बन (२) है।

इस प्रकार हेतु-फल-आश्रय-आलंवन इन चारों करके वासना सङ्गृहीत हैं अर्थात्--इन चारों के अधीन वासना हैं, जब फिर विवेक ख्याति के उदय से इन चारों का अभाव हो जाता है तब फिर आप ही वासनाओं का अभाव हो जाता है॥ ११॥

असत् की उत्पत्ति नहीं होती औ सत् का विनाश नहीं होता यह योग का सिद्धान्त है तो फिर सत् रूप से विद्यमान वासनाओं की निवृत्ति कैसे ? इस सन्देह का वारण करते हैं—

सू० अतीताऽनागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ॥ १२ ॥

भाषा—(अतीतानागतम्) भूत-भविष्यत्- वस्तु भी (स्वरूपतः) अपने रूप से (अस्ति) विद्यमान ही है, एक धर्मी में एक काल में विरुद्ध (*) धर्मों की सत्ता कैसे ? इस पर कहते हैं [धर्माणाम् अध्व (†) भेदाद्] धर्मों के काल

(१) वासनाओं का आश्रय कह कर अब उन का आलम्बन कहते हैं 'औ' इत्यादि से ।

(२) अर्थात्—कामिनीसंपर्क आदि वासनाओं का आलम्बन है ।

(*) अतीत, अनागत, वर्त्तमानतादि रूप विरुद्ध धर्मों का एक काल में होना असम्भव है ।

(†) अध्व नाम काल का है ।

का भेद होने से विरोध का अभाव (१) जानना, अर्थात्-यदि अतीत अनागत वर्तमानता रूप तीनों धर्मों की एक काल में समान सत्ता मानी जाय तब विरोध हो सकता है परन्तु सो हम मानते नहीं किन्तु जिस काल में घट विद्यमान हुआ वर्तमानतारूप धर्म वाला होता है उस काल में वर्तमानता रूप धर्म तो वर्तमान काल वाला है औ अतीतता रूप धर्म अनागत काल वाला है (२) औ अनागतता रूप धर्म अतीत काल वाला है यह मानते हैं, तथाच तीनों धर्मों को भिन्न २ काल वाले होने से एक काल में तीनों धर्मों का वर्तना विरुद्ध नहीं है यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि—जिस वस्तु की अभिव्यक्ति आगे होने वाली है वह अनागत है औ जिस की अभिव्यक्ति पीछे हो चुकी है वह अतीत है औ जो वस्तु अपने व्यापार में उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह वर्तमान है (३) यह तीनों प्रकार की ही वस्तु (*) योगी के प्रत्यक्षज्ञान का विषय है यह योग का सिद्धान्त है, तथाच यदि स्वरूप से अतीत औ अनागत वस्तु न मानी जायगी तो योगी को

(१) "विरोध का अभाव है" इतने पाठ का अध्याहार जानना।

(२) अतीतताधर्म आगे होने वाला है, औ अनागतताधर्म पीछे हो चुका है, इस से अतीतता का अनागतकाल जानना औ अनागतता का भूतकाल जानना, इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना, यह सब तृतीय पाद के १३वें सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट है।

(३) इन्हीं तीनों को ही अव्यपदेश्य, शान्त, उदित कहते हैं, यह सब तृतीय पाद के १४वें सूत्र में स्पष्ट है।

(*) यद्यपि वस्तु शब्द नपुंसक है तथापि लोकव्यवहार से कहीं स्त्रीलिङ्ग जैसे व्यवहृत हो जाता है।

त्रैकालिक (१) पदार्थ विषयक योगज प्रत्यक्षज्ञान न होगा क्योंकि विना विषय की सत्ता से प्रत्यक्ष ज्ञान का होना असंभव है, इस से अतीत अनागत वस्तु भी स्वरूप से विद्यमान है यह अवश्य मानना उचित है।

किञ्च यदि अनागत पदार्थ न माना जायगा तो स्वर्ग-औ अपवर्ग के लिये जो परीक्षकों की साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति है वह भी अयुक्त हो जायगी (२) क्योंकि असत् की उत्पत्ति का योग मत में अभाव है।

अर्थात्—(३) दंडादिक जो कारण हैं वह कुछ अपूर्व असत् घट का उत्पादन नहीं करते हैं किंतु अव्यक्त (सूक्ष्म) अवस्था से कारण में विद्यमान जो घटादि कार्य्य हैं उन को वर्तमान अवस्था वाला कर देते हैं परन्तु इतना विशेष है कि वर्तमान अवस्थावाला जो कारण है वही कार्य्य की व्यक्त (स्थूल) अवस्था के संपादन में समर्थ होता है अतीतादि अवस्था वाला नहीं, इसी से ही अतीतावस्थावाले कारण से किसी कार्य्य का आविर्भाव नहीं होता है (४)।

---

(१) तीनों कालों में होने वाले।

(२) यदि आगे होने वाले स्वर्गादि फल साधनानुष्ठान काल में अत्यन्त असत् माने जायंगे तो नरशृङ्ग की भांति उन की उत्पत्ति का अभाव होने से तिस के उद्देश से निपुण पुरुषों की साधनों में प्रवृत्ति न होनी चाहिये औ प्रवृत्ति होती है इस से अनागत वस्तु का मानना आवश्यक है, यह तत्त्व है।

(३) यदि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य्य विद्यमान ही है असत् नहीं यह मानते हो तो दंड चक्रादि का क्या काम है ? इस पर कहते है "अर्थात्" इत्यादि से।

(४) जैसे वर्तमानावस्था वाले मृत्पिण्ड से घट का आविर्भाव होता है तैसे घट के उत्पन्न होने से अतीतावस्थावाला जो मृत्पिण्ड है उस से भी फिर घट की उत्पत्ति क्यों

इतना विशेष यहां पर यह भी जान लेना कि जैसे वर्तमान वस्तु अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई दिखाई देती है तैसे अतीत औ अनागत नहीं किन्तु भविष्यद् व्यक्ति(*) रूप से अनागत वस्तु है, औ अनुभूत व्यक्ति रूप(†) से अतीत वस्तु है, इस से वर्तमानकाल में ही वस्तु के स्वरूप की स्पष्ट प्रतीति होती है अतीत औ अनागत काल में नहीं, परन्तु इतना तो अवश्य माना जायगा कि एक अध्व के वर्तमान समय में अन्य दोनों अध्व भी धर्मी में समनुगतही हैं कुछ अत्यन्त अभाव वाले नहीं क्योंकि पूर्व न हो कर फिर होना यह सिद्धान्त से विरुद्ध है, अर्थात्—जिस समय घट रूप धर्मी में वर्तमानतारूप धर्म प्रकट होता है उस समय अतीत अनागतता रूप दोनों धर्मों का भी घट में अनभिव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से समन्वय जानना, इसी प्रकार अन्यत्र भी (१) जान लेना।

इस प्रकार (२) कालभेद से धर्मों की व्यवस्था होने से अतीत औ अनागत वस्तु भी स्वरूप से विद्यमान ही है कुछ अत्यन्त असत् नहीं यह सिद्ध हुआ।

एवंच पूर्व सूत्र में जो वासना का उच्छेद कहा था सो

नहीं होती क्योंकि आप के मत में घट के वर्त्तमानकाल में भी अतीतावस्था वाला मृत्पिण्ड विद्यमान है ? इस आशङ्का के वारणार्थ यह ग्रन्थ है।

(*) आगे होने वाली स्पष्ट रूपता से।

(†) पूर्व होने वाले स्पष्ट रूप से।

(१) जिस समय अनागतता रूप धर्म प्रकट होता है उस समय अन्य दोनों धर्मों का सूक्ष्म रूप से समन्वय जानना, एवं अतीतावस्थावाले धर्मी में अन्य दोनों धर्मों का समन्वय जानलेना।

(२) अब सूत्र के अर्थ का उपसंहार करते हैं "इस प्रकार" इत्यादि से।

वासना का अत्यन्ताभाव नहीं जानना किन्तु वासनाओं की अतीतावस्था निष्पन्न होती है यह जानना यह फलित हुआ ॥ १२ ॥

अब एक रूप वाले प्रधान से अनेक विचित्र रूप वाला प्रपञ्च कैसे आविर्भाव होता है ? इस शङ्का के वारणार्थ कहते हैं—

सू० ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

भाषा-(व्यक्त(१) सूक्ष्माः) अनागत वर्तमान अतीत रूप जो अनेक प्रकार के धर्म हैं (ते) वह सब (गुणात्मानः) तीनों गुणों का ही स्वरूप हैं।

अर्थात्—पृथिवी आदि जो पञ्चभूत हैं वह पञ्चतन्मात्र-स्वरूप हैं, औ पञ्चतन्मात्र तथा एकादश इन्द्रिय अहङ्कार-स्वरूप हैं औ अहङ्कार महत्तत्त्वस्वरूप है औ महत्तत्त्व प्रधानस्वरूप है औ प्रधान गुणत्रयस्वरूप है, इस प्रकार साक्षात् वा परंपरा से निखिल प्रपञ्च ही गुण स्वरूप जानना, ऐसे ही वार्षगण्याचार्य्य ने (२) कहा है—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति,
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्"। इति।

अर्थात्—गुणों का जो परम वास्तव रूप प्रधान है सो अतीन्द्रिय होने से दृष्टिगोचरता को प्राप्त नहीं होता है औ जो यह अनेक प्रकार का प्रपञ्च दिखाई दे रहा है वह सब

---

(१) व्यक्तपद का अर्थ वर्तमान है, औ सूक्ष्मपद का अर्थ अतीत औ अनागत है।

(२) षष्ठि ६० पदार्थ प्रतिपादक सांख्यशास्त्र के प्रणेता का नाम वार्षगण्याचार्य्य है।

इंद्रजाल की तरह तुच्छ है, यह इस का अर्थ है, अर्थात्— परमार्थ से यह सब गुणत्रयात्मक रूप प्रधान स्वरूप(१) ही है कुछ प्रधानसे पृथक् नहीं। एवंच अनादि विचित्र वासना समन्वित विचित्र तीनों गुणों का स्वरूप होने से प्रपञ्च भी विचित्र रूप है यह फलित हुआ ॥१३॥

यदि सर्व को गुणों का परिणाम होने से परमार्थ से सब गुण स्वरूप ही हैं तो परस्पर विरुद्ध इन तीनों गुणों का पृथिवी जल आदिक एक रूप परिणाम कैसे (२) औ इन्हीं तीनों गुणों का जो एक श्रोत्र आदि इंद्रिय रूप से औ एक शब्द आदि विषय रूप से विलक्षण परिणाम का (३) हो जाना सो भी कैसे? इस आशङ्का के उपस्थित होने पर कहते हैं—

सू० परिणामैकत्त्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

भाषा—(परिणामैकत्त्वाद्) अनेकों के परिणाम को भी एक रूप होने से (वस्तुतत्त्वम्) तन्मात्र भूत भौतिक आदि वस्तुओं का भी (तत्त्व) एकत्त्व जाननां।

अर्थात्—रुमा (४) निक्षिप्त परस्पर विजातीय अश्व-

---

(१) अर्थात्—कारण की ही अवस्था विशेष कार्य्य है कुछ नैयायिककी तरह भिन्न हम नहीं मानते हैं।

(२) अर्थात्—विजातीय तीनों गुणों का एकजातीय पृथिवी वा जल आदि रूप परिणाम होना अयुक्त है।

(३) एक ही गुणस्वरूप अहंकार से परस्पर विजातीय प्रकाश तथा जड़ स्वरूप इन्द्रिय औ विषयों का प्रादुर्भाव कैसे यह इस का आशय है।

(४) रुमा नाम लवण की खान का है तिस में 'निक्षिप्त' फेंके हुए।

महिष-उष्ट्र-गज-आदिकों का जैसे एकजातीय लवणरूप परिणाम एक हो जाता है औ परस्पर विरुद्ध तैल-वर्त्ति-वन्हि का जैसे एक प्रदीप रूप परिणाम होजाता है तैसे विजातीय तीनों गुणों का भी एक जातीय तन्मात्र-पञ्चभूत आदि परिणाम हो सकता है।

(१) एवं सत्त्वप्रधान रूपता से गुणों का प्रकाश स्वरूप इन्द्रिय परिणाम हैं औ तमःप्रधान रूपता से शब्द आदि विषय परिणाम हैं, इसी तरह कठिनता धर्म प्रधान पञ्चतन्मात्रों का सूक्ष्म औ स्थूल रूप पृथिवी परिणाम है औ स्नेहधर्मप्रधान चारो (*) तन्मात्रों का सूक्ष्म औ स्थूल जल परिणाम है, औ उष्णता-धर्म-प्रधान तीन (†) तन्मात्रों का सूक्ष्म औ स्थूल रूप अग्नि परिणाम है औ वहनरूपधर्मप्रधान दो तन्मात्रों का सूक्ष्म औ स्थूल रूप वायु परिणाम है औ अवकाशदान रूप धर्म वाले शब्द तन्मात्र का सूक्ष्म औ स्थूल आकाश परिणाम है, यह सब प्रथम पाद में स्पष्ट है (२) इस से विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं ॥ १४ ॥

---

(१) इस प्रकार अनेकों के एकजातीय परिणाम को समीचीन कथन कर इदानीं (एक से विजातीय इन्द्रिय औ विषयों का प्रादुर्भाव कैसे) इस का समाधान देते हैं " एवं " इत्यादि से।

(*) गंध को त्याग कर अन्य चारों तन्मात्रों का।

(†) गंध औ रस को त्याग कर इतर तीनों का, एवं आगे भी जानना।

(२) १०९-११० पृष्ठ के २-३ अंक का टिप्पण देखो।

जो कि (१) योगाचार मत वाले वैज्ञानिक वैनाशिक लोक यह मानते हैं (कि विज्ञान के अभाव काल में पदार्थों की प्रतीति के अभाव से (२) औ पदार्थों के अभाव काल में भी स्वप्न आदि में विज्ञान की विद्यमानता से विज्ञान-मात्र ही एक तत्त्व है अन्य कुछ नहीं क्योंकि अन्य जो सब बाह्य पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं वह सब स्वप्नादि विषयों के समान अलीक हैं) सो यह उन का मानना असमीचीन है क्योंकि इदन्तारूप से प्रतीयमान बाह्य पदार्थों का एक दम अपलाप करना प्रमाणों से विरुद्ध होने से अयुक्त है।

अर्थात्—यदि विज्ञानमात्र ही तत्त्व है तो "अयं घटः" यह घट है इस प्रकार इदन्ता रूप से जो बाह्य प्रतीति

---

(१) अग्रिम सूत्रों में बौद्धमत के निराकरण का प्रकार होने से यहां पर भाष्य-कारों ने प्रसंग से कुछ विज्ञान वादी के मत पर आक्षेप किया है सो प्रदर्शन करते हैं "जो कि" इत्यादि से, इस ग्रंथ का अग्रिम सूत्र से संबंध है इस लिये यह अग्रिम सूत्र की भूमिका जाननी।

(२) अर्थात् बाह्य जो जड़पदार्थ हैं वह स्वप्रकाशता के अभाव से अपने प्रकाश के लिये विज्ञान की अपेक्षा वाले हैं इस से विज्ञान काल में ही पदार्थों की प्रतीति होती है विज्ञान के अभाव काल में नहीं, एवंच जैसे मृत्तिका के सत्त्व काल में घट का सत्त्व होने से औ मृत्तिका के असत्त्वकाल में घट का असत्त्व होने से मृत्तिका से अतिरिक्त घट कुछ तत्त्व नहीं माना जाता है तैसे विज्ञान के सत्त्व असत्त्व के अधीन ही बाह्य पदार्थों की सत्ता असत्ता होने से विज्ञान से अतिरिक्त कुछ बाह्य तत्त्व नहीं है यह सिद्ध हुआ।

किंच जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव होने पर भी विज्ञान ही अनेक पदार्थाकार रूप से भान वाला माना जाता है तैसे जाग्रत्काल में भी विज्ञान ही अनेकाकार प्रतीत होता है कुछ बाह्य विषय नहीं यह मानना उचित है, इसी अभिप्राय से ही कहते हैं " पदार्थों के अभावकाल में " इत्यादि।

होती है सो उन के मत में न होनी चाहिये क्योंकि विज्ञान को आन्तर (भीतर) होने से (अहंघटः) मैं घट हूं इस प्रकार आन्तर प्रतीति होनी ही उन के मत में उचित है, जो कि उन्हों ने यह कहा है कि—("यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद् वहिर्वदवभासते" अर्थात्—जो अंतर में वास्तवरूप से ज्ञेय है सोई वाह्यपदार्थ की तरह प्रतीत हो रहा है) सो भी उन का कथन तभी समंजस हो सकता है कि जब कोई वाह्यपदार्थ माना जाय नहीं तो वाह्य की तरह यह उपमा (१) कथन ही असङ्गत होगा क्योंकि यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है कि वन्ध्यापुत्र की तरह यह राजकुमार सुन्दर है, एवंच उन के कथन से ही वाह्य पदार्थ की सत्ता के सिद्ध होने से वाह्यपदार्थ का अपलाप करना केवल उन का प्रलाप (२) मात्र जानना।

जो कि उन्हों ने (सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" इस वाक्य से 'नीलविषय औ नील ज्ञान का सहोपलम्भ नियम होने से (३) ज्ञान का विषय से अभेद कहा है) सो यह उन का कथन भी तभी सङ्गत हो सकता है कि यदि अभेद स्थलमें ही सहोपलम्भ के सद्भाव का नियम

---

(१) अर्थात्—विद्यमान पदार्थ की ही उपमा दी जाती है कुछ अविद्यमान की नहीं।

(२) उन्मत्त उक्त अनर्थक वाक्य का नाम प्रलाप है।

(३) एक किसी पदार्थ के सङ्ग ही एक काल में किसी पदार्थ का इकट्ठे ही भान होना सहोपलम्भनियम कहा जाता है, अर्थात्—जैसे द्वितीय चन्द्र के ज्ञान को वास्तव एक चन्द्र के ज्ञान काल में ही होने से द्वितीय चन्द्र को भिन्न नहीं माना जाता है तैसे ज्ञान काल में ही विषय का भान होने से विषय भी ज्ञान से भिन्न नहीं है।

होता औ अन्यत्र न होता परन्तु सो है नहीं क्योंकि भेद स्थल में भी सहोपलम्भ नियम का सद्भाव दृष्ट है।

अर्थात्—जैसे चाक्षुषरूप (१) प्रभा कर अनुविद्ध होने पर भी प्रभा से भिन्न माना जाता है तैसे ज्ञान काल में विषय का भान होने पर भी विषय को ज्ञान से भिन्न ही मानना उचित है अभिन्न नहीं।

भाव यह है कि—जैसे प्रभा औ रूप के उपाय उपेय (२) भाव रूप निमित्त को ले कर ही दोनों का सहोपलम्भ होता है कुछ दोनों के अभेद को ले कर नहीं तैसे ज्ञान औ विषय का भी उपायोपेयभाव हेतुक ही सहोपलम्भ होता है कुछ अभेद हेतुक नहीं।

एवं स्वप्नकालिक ज्ञान के समान जाग्रत्काल के ज्ञान को निरालम्बन (*) मानना भी असमीचीन जान लेना, क्योंकि स्वाप्नज्ञान का विषय बाधित होता है औ जाग्रत्ज्ञान का विषय अबाधित है, विस्तर अन्यत्र देखो (३)।

पूर्वोक्त युक्तियों से सौगत मत को अयुक्त होने पर भी

---

(१) चाक्षुष=नेत्रों का विषय घटादिगत रूप, प्रभा नाम आलोक (प्रकाश) का है, तिस कर के 'अनुविद्ध' संगत अर्थात—प्रभा काल में ही नियम कर के भान होने पर भी वह रूप प्रभा से भिन्न है।

(२) उपायनाम सहकारी कारण वा साधन का है औ उपेयनाम उपाय कर के साधनीय पदार्थ का है, तहां जैसे प्रभा उपाय है औ रूप ज्ञान उपेय है तैसे प्रकृत में विषय उपेय है औ ज्ञान उपाय है, इसी से हां दोनों का सहोपलम्भ है।

(*) निरालम्बन निर्विषयक।

(३) "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्" अ०२ पा०२ सू० २९ इत्यादि ब्रह्मसूत्र के प्रकाश में यह सब स्पष्ट है।

इदानीं अन्य युक्तियों से स्वयं सूत्रकार भी इस मत को अयुक्त प्रदर्शन करते हैं—

सू० वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् तयोर्विभक्तः पन्थाः १५ ॥

भाषा—(वस्तुसाम्ये) वस्तु के एक होने पर भी (चित्तभेदात्) ज्ञानों को अनेक होने से (तयोः) ज्ञान औ वस्तु का (विभक्तः) भिन्न (पन्थाः) मार्ग है (१) ।

अर्थात्—जहां पर अनेक चित्तों का विषयी भूत एक वस्तु स्थित है तहां वह वस्तु न तो किसी एक चित्त कर कल्पित है औ न अनेक चित्तों कर कल्पित है किन्तु स्वरूप प्रतिष्ठ ही वह मानी जायगी क्योंकिं यदि चित्त कर कल्पित मानी जायगी तो चित्तों को अनेक होने से वस्तु भी अनेक रूप वाली होनी चाहिये परन्तु होती नहीं, एवं च वस्तु के एक होने पर भी चित्तों को अनेक होने से वस्तु औ चित्त भिन्न है यह निष्पन्न हुआ ।

भाव यह है कि—रक्त, (२) द्विष्ट, विमूढ़, मध्यस्थ इन चारों नरों को जो एक ही स्त्री के विषयक धर्म,अधर्म,अज्ञान, तत्त्वज्ञान रूप निमित्तों की अपेक्षा से यथाक्रम (३) सुख,

---

(१) अर्थात्—ज्ञान औ ज्ञेय भिन्न है । ज्ञान-विज्ञान—चित्त-बुद्धि-इन सब का इस प्रकरण में एक अर्थ जानना ।

(२) (रक्त) अपनी स्त्री विषयक राग वाला पति, (द्विष्ट) स्त्री से द्वेष करने वाली सपत्नी, (विमूढ़) स्त्री के लाभ के अभाव से मोह युक्त अन्य कामी पुरुष, (मध्यस्थ) रागादि से शून्य उदासीन जन ।

(३) धर्मरूप निमित्त की अपेक्षा से रक्त कान्त को अपनी स्त्री विषयक सुखज्ञान, औ अधर्मरूप निमित्त से द्विष्ट सपत्नी को उस विषयक दुःखज्ञान, औ अज्ञान

दुःख,मोह, माध्यस्थ्य ज्ञान होता है तथा इस ज्ञान से अनन्तर जो (जो स्त्री आप के दृष्टिगोचर है सोई मैं देखता हूं) इस प्रकार का अनुसंधान होता है वह किस के चित्त कर परि-कल्पित माना जायगा अर्थात् किसी के भी चित्त कर वह कल्पित नहीं हो सकता है क्योंकि यदि कल्पित माना जायगा तो जिस चित्त कर कल्पित होगा उसी को वह विषय प्रतीत होगा अन्य को नहीं क्योंकि अन्य के स्वाप्न ज्ञान के विषय भूत पदार्थ का अन्य पुरुष के ज्ञान का विषय होना अदृष्ट और असंभव है, औ (१) सिद्धान्त में तो वस्तु मात्र को त्रिगुणात्मक और चल होने से तिस २ निमित्त के अनुसार एक वस्तु में भी अनेक प्रकार के प्रत्यय का संभव जान लेना।

अर्थात्—रजोगुणसहित जो सत्त्वगुण है वह धर्मसा-पेक्ष हुआ पति को सुखज्ञान का जनक है औ रजोगुण सहित जो तमोगुण है वह अधर्मसापेक्ष हुआ सपत्नी के दुखज्ञान का जनक है औ केवल जो तमोगुण है वह अज्ञान सापेक्ष हुआ कामी के मोहज्ञान का जनक है औ जो विशुद्ध सत्त्व गुण है वह तत्त्व ज्ञान सापेक्ष हुआ उदा-सीन के सामान्य ज्ञान का जनक है, इस प्रकार एक ही

रूप निमित्त से विमूढ़ कामी को उस विषयक मोह ज्ञान, औ तत्त्वज्ञानरूप निमित्त से उदासीन को सामान्य से वस्तुमात्र का ज्ञान, यह यथाक्रम जानना।

(१) साङ्ख्य योग मत में भी एक वस्तु अनेक ज्ञान का जनक कैसे होती है? इस आक्षेप का वारण करते हैं "सिद्धान्त में" इत्यादि से।

वस्तु धर्मादिनिमित्त के अनुसार सत्त्वादिगुणों के आविर्भाव द्वारा अनेक प्रत्ययों का जनक है (*) ॥ १५ ॥

अब कोई एक जो विज्ञानवादी के एक देशी (पूर्वोक्त युक्तियों से यद्यपि पदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं तथापि ज्ञान के समान काल में ही भान होने से सुखादि की तरह (१) ज्ञानकाल में ही उन की सत्ता माननी उचित है अन्यकाल में नहीं (यह मान कर पुरुषान्तर साधारण (†) विषय के बाध द्वारा ज्ञान से पूर्व औ उत्तर क्षणों में बाह्य पदार्थों का अपलाप करते हैं उन के मत को असङ्गत कहते हैं—

सू० नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

भाषा—(वस्तु) बाह्य जो पदार्थ है, वह (एकचित्त तन्त्रं न च) एक किसी चित्त के अधीन सत्तावाला नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञान काल में ही विषय की सत्ता मानी जायगी तो जिस समय में कोई वस्तु (तदप्रमाणकम्) तिस

(*) तहां इतना विशेष है कि—जैसा २ धर्मादि निमित्त होता है उसी के अनुसार ही सत्त्वादि गुणों के आविर्भाव द्वारा वस्तु सुखादि ज्ञान का जनक होती है ऐसे ही नहीं इस से सर्वदा सर्व को सर्व ज्ञान नहीं होता है।

(१) सुखादि का ज्ञानकाल में ही भान होने से वेदान्ती इन की अज्ञात सत्ता नहीं मानते हैं।

(†) जिस को ज्ञान हुआ है उसी की दृष्टि में विषय है अन्य की दृष्टि में नहीं इस प्रकार अन्य पुरुषों की अपेक्षा से विषय के अभाव द्वारा, इसी का नाम दृष्टि-सृष्टिवाद है।

ज्ञान रूप प्रमाण का विषय नहीं होगा (तदा) तिस समय में, वह वस्तु (किं स्याद्) क्या होगा।

अर्थात्—यदि ज्ञानमात्र के अधीन ही वस्तु की सत्ता मानी जायगी औ पूर्व उत्तर क्षणमें उस वस्तुका अभाव माना जायगा तो जिस समय घट को विषय करनेवाला चित्त(१) घट से निवृत्त हो कर अन्य किसी पदार्थ में व्यग्र (२) हो जायगा वा निरुद्ध हो जायगा तिस समय उस वस्तु के स्वरूप को चित्त की विषयता का अभाव होने से वह घटरूप वस्तु क्या होगा अर्थात् उन के मत में वह नष्ट ही हो जायगा क्योंकि व्यग्र औ निरुद्ध चित्त का तो उस के संग संबन्ध ही नहीं औ अन्य किसी चित्त का वह विषय ही नहीं हुआ इस से अगृहीत(३) स्वभाव होने से वह उन के मत में अप्रमाणक है, एवं च कुछ काल के अनन्तर जब फिर वह घट किसी अन्य चित्तके संग संबन्धवाला होगा तो वह नष्ट हुआ घट किस से उत्पन्न होगा क्योंकि बिना कारण से कार्य्य की उत्पत्ति माननी अयुक्त है। (*)

---

(१) इस प्रकरण में सर्वत्र ही ज्ञानरूप वृत्ति का नाम चित्त जानना।

(२) (व्यग्र) आसक्त।

(३) नहीं किसी ने ग्रहण किया है स्वरूप जिस का वह अग्रहीतस्वभाव कहा जाता है।

(*) यदि वह यह कहैं कि ज्ञान ही उस घट का कारण है तो उन को आशा-मोदक औ पण्यमोदकों को भी समान बल वीर्य का जनक औ पुष्टिकारक मानना लगेगा। तहां ज्ञान से जो कल्पना किये गये हैं लड्डू वह आशामोदक हैं औ बाजार में जो दुकानों पर विक्रय होते हैं वह पण्यमोदक हैं।

तथाच ज्ञानके अभावकाल में विषय का नाश औ फिर ज्ञान काल में बिना कारण से विषय की उत्पत्ति इन दोनों मन्तव्यों को सर्वानुभव विरुद्ध होने से यह मत भी उन्मत्त प्रलपित के तुल्य असङ्गत जानना ।

किंच यदि ज्ञानाधीन ही वस्तु का सद्भाव माना जायगा तो घट का जो अर्वाग् भाग (१) है वही इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा चित्त का विषय होने से ज्ञात होगा औ अन्य जो मध्य तथा पृष्ठ भाग है वह नहीं तथाच अज्ञात जो घट का मध्य औ पृष्ठ भाग है तिस का उन के मत में अभाव होने से (२) तद्व्याप्त जो अर्वाग्भाग है उस का भी उन को अभाव मानना लगेगा क्योंकि व्यापक के अभाव से व्याप्य का (*) अभाव सर्व संमत है ।

एवं च उन्हों के मत में घटरूप अर्थ के ही अभाव की आपत्ति होने से ज्ञानाधीन विषय सद्भाव वादी वैनाशिक सिद्धान्त असङ्गत जानना किन्तु (सर्व पुरुष साधारण (३) स्वतंत्र ही बाह्य पदार्थ है कुछ ज्ञान परतंत्र नहीं, औ प्रत्येक पुरुषों के चित्त का स्वतंत्र ही उन विषयों से संबंध होता है, औ विषय तथा चित्त के संबंध से जो उपलब्धि (४) वह

---

(१) जो नेत्र के सन्मुख देश है वह घट का अर्वाग् भाग जानना ।

(२) जहां २ अर्वाग् भाग है वहां २ मध्य औ पृष्ठ भाग अवश्य होता है इस प्रकार मध्य औ पृष्ठ भाग व्यापक है औ अर्वाग् भाग तिस कर के व्याप्त है ।

(*) इसी से ही वन्हि रूप व्यापक के अभाव से धूम रूप व्याप्य का अभाव माना जाता है ।

(३) अर्थात्—जिस को घट ज्ञान हुआ है उसी की दृष्टि में घट है यह नहीं है किन्तु सर्व पुरुष साधारण वह घट है । (४) (उपलब्धि) शब्दादिविषयों का ज्ञान ।

पुरुष का भोग है) यह सांख्ययोग सिद्धान्त ही संगत जानना यह निष्पन्न हुआ ॥ १६ ॥

यदि बाह्य पदार्थ स्वतन्त्र हैं तो वह जड़स्वभाव होने से कभी भी ज्ञात न होने चाहिये औ यदि उन को प्रकाश स्वभाव मानोगे तो सर्वदा ही ज्ञात होने चाहियें ? इस आक्षेप का वारण करते हैं—

सू० तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् १७॥

भाषा—(वस्तु) बाह्य जो पदार्थ है, वह (ज्ञाताऽज्ञातम्) चित्त कर के कभी ज्ञात होता है औ कभी अज्ञात होता है क्योंकि (चित्तस्य) चित्त को (तदुपरागापेक्षित्वात्) तिस विषय के उपराग (१) की अपेक्षा वाला होने से।

अर्थात्—जिस समय विषय का चित्त के सङ्ग इन्द्रिय द्वारा संबन्ध होता है तब वह ज्ञात होता है औ अन्य समय में अज्ञात होता है।

भाव यह है कि--अयस्कान्तमणि के तुल्य जो विषय हैं वह इन्द्रियसंन्निकर्ष द्वारा लोहतुल्य चित्त को अपने संग योग कर तिस चित्त को स्वसमान आकार कर चित्रित कर देते हैं, एवं च जिस विषय कर चित्त उपरक्त (२) होता है वह विषय ज्ञात होता है औ अन्य अज्ञात होता है।

---

(१) इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा जो विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड जाना वह उपराग कहा जाता है।

(२) अर्थात्—जिस विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है।

इस प्रकार ज्ञाताऽज्ञातविषय होने से ही चित्त को परिणामी (१) माना जाता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार चित्त से अतिरिक्त विषय को स्थापन कर चित्त को परिणामी कथन किया, इदानीं अपरिणामित्वरूप हेतु से आत्मा को चित्त से अतिरिक्त प्रदर्शन के लिये उत्तर प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य (*)

सू० सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

भाषा—(यस्य तु) जिस चेतन आत्मा का तो (तदेव चित्तम्) वह विषयाकार चित्त ही (विषयः) विषय होता है (तस्य तत्प्रभोः) तिस चित्त के स्वामी पुरुष को (सदा) सब काल में ही (चित्तवृत्तयः) चित्त की वृत्तियां (ज्ञाताः) ज्ञात रहती हैं, क्योंकि (पुरुषस्य अपरिणामित्वात्) पुरुष को अपरिणामी होने से—

अर्थात्—यदि चित्त का स्वामी तथा साक्षी भूत पुरुष भी चित्त की तरह एकरस न रह कर परिणाम को प्राप्त होगा तो पुरुष (की) के विषयीभूत जो चित्तवृत्तियां हैं वह भी चित्त के विषय घट आदिक की तरह ज्ञात औ अज्ञात हो जायंगी परन्तु सो है नहीं क्योंकि पुरुष को सदा वृत्तियां ज्ञात ही

---

(१) अर्थात्—कभी विषयाकार औ कभी अविषयाकार होने से एक रस नहीं हैं, यह सब द्वितीय पाद के २० सूत्र के व्याख्यान में १८७ पृष्ठ पर स्पष्ट है ।

(*) इतने पाठ का भाष्यकारों ने सूत्र के आदि में अध्याहार किया है ।

रहती हैं अज्ञात नहीं (१), इसीलेही पुरुष अपरिणामी है (२)।

तथा च परिणामी चित्त से अतिरिक्त अपरिणामी पुरुष है यह फलित हुआ ॥ १८ ॥

अब यहाँ पर जो वैनाशिक लोक यह शङ्का करते हैं कि "चित्त ही अग्नि की तरह स्वाभास (३) औ विषयाभास हो सकता है अतिरिक्त आत्मा मानना अयुक्त है ?" इस आशङ्का का उन्मूलन करते हैं—

सू० न तत् स्वाभासं दृश्यत्वाद् ॥ १९ ॥

भाषा—(तत्) वह चित्त (स्वाभासं न) अपने को आप ही प्रकाश करने वाला नहीं है, क्योंकि (दृश्यत्वाद्) घटादि की तरह चित्त को भी दृश्य होने से,

अर्थात्—जैसे अन्य इन्द्रिय औ विषय दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं हैं तैसे चित्त भी दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है किन्तु साक्षिभास्य है ।

जो कि विज्ञान की स्वप्रकाशता में अग्नि का दृष्टान्त दिया है सो भी अग्नि को स्वप्रकाश न होने से असंगत जानना ।

---

(१) यदि चित्तवृत्ति भी कदाचित् पुरुष को ज्ञात नहीं होगी तो मैं सुखी हूं यह निश्चय नहीं होगा किन्तु मैं सुखी हूं वा नहीं इस प्रकार संशय हो जायगा इस से पुरुष सदा ज्ञाता है ।

(२) पुरुष अपरिणामी है, सदा ज्ञातविषय होने से, जो परिणामी होता है वह सदा ज्ञातविषय नहीं होता यथा चक्षु आदि, यह अनुमान इस में प्रमाण जानना ।

(३) विषय को भी प्रकाशता है औ अपने को भी प्रकाशता है अर्थात् जैसे अग्नि अन्य को भी प्रकाशता है औ अपने को भी प्रकाशता है इस से स्वप्रकाश है तैसे चित्त भी स्वप्रकाश है ।

अर्थात्—यद्यपि अन्य किसी अग्नि कर अग्नि प्रकाशित नहीं होता (*) है तथापि विज्ञान कर प्रकाशित होने से वह भी पर प्रकाश्य ही है कुछ स्वप्रकाश नहीं।

किंच जैसे लोक में गन्तव्य औ गन्ता इन दोनों भिन्न २ वस्तुओं के सन्निधान में गमन रूप क्रिया दृष्टहै तैसे प्रकाश रूप क्रिया भी प्रकाश्य औ प्रकाशक इन दोनों भिन्न २ वस्तुओं के सन्निधानमें ही देखने में आती है कुछ प्रकाश्य प्रकाशक के अभेद स्थल (१) में नहीं, एवं च प्रकाश्य औ प्रकाशक को अभिन्न मान कर जो वस्तु को स्वप्रकाश मानना है सो एक पदार्थ में कर्मत्व औ कर्तृत्व रूप विरुद्ध धर्मों के समावेश का असंभव होने से अपेशल (२) जानना।

किंच जैसे (स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशम्) इस शब्द का

(*) कोष के अनुसार अग्निशब्द पुल्लिङ्ग है।

(१) अर्थात्—देवदत्त ग्राम को गमन करता है—यहां पर जैसे गमन क्रिया का कर्मभूत जो गन्तव्य ग्राम है वह भिन्न है औ गमन क्रिया का कर्ता जो गन्ता देवदत्त है वह भिन्न है तैसे निखिल जगत् को सूर्य्य प्रकाशता है यहां पर भी प्रकाश क्रिया का कर्मभूत जो प्रकाश्य जगत् है वह भिन्न है औ प्रकाश क्रिया का कर्ता जो प्रकाशक सूर्य्य है वह भिन्न है, एवं च एक ही वस्तु को प्रकाश्य औ प्रकाशक मान कर वस्तु को स्वप्रकाश मानना असंगत है।

(२) (अपेशल) अचारु, अरमणीय, अर्थात्—असमीचीन, जैसे अपने सिर पर सवार हो कर सैर करना असंभव है तैसे अपने को आप प्रकाशना भी असंभव है यह तत्त्व है। यद्यपि वेदान्ती भी विज्ञानस्वरूप परमात्मा को स्वप्रकाश मानते हैं तथापि वह (अपने को आप ही ग्रहण करना) इस प्रकार से नहीं मानते हैं किन्तु किसी ज्ञान की विषयता को न प्राप्त हो कर अपरोक्षरूप से भान होना रूप स्वप्रकाशत्व मानते हैं, इतना विशेष है।

अर्थ यह माना जाता है कि आकाश किसी अन्य के आश्रित नहीं है तैसे (स्वाभासं चित्तम्) इस का अर्थ भी यही माना जायगा कि चित्त किसी अन्य कर के ग्राह्य (*) नहीं है, एवं च प्राणियों की जो अनेक प्रकार की प्रवृत्ति होती है सो उन के मत में असंगत होगी क्योंकि अपने चित्त के प्रचार (†) को जान कर ही पुरुष प्रवृत्त होते हैं न जान कर नहीं।

अर्थात्—यदि चित्त को अग्राह्य माना जायगा तो (इस समय मैं क्रोधयुक्त हूं, वा भय युक्त हूं औ इस विषय में मेरा चित्त (१) रक्त है औ इस विषय में मेरा चित्त द्वेष वाला है) इत्यादिक जो चित्त के ग्रहणपूर्वक व्यवहार हैं सो न होने चाहिये औ होते हैं, इस से (वृत्तिविशिष्ट जो चित्त है वह चेतन पुरुष कर के ग्राह्य है) यह सांख्य-योग-वेदान्तमत ही संगत है सौगत (‡) मत नहीं ॥ १९ ॥

अब चित्त को विषयाभास औ स्वाभास (२) मानना स्वमत (३) से भी विरुद्ध है, यह कहते हैं —

सू॰ एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

भाषा—(एकसमये) एक काल में (उभयाऽनवधारणम्) विषय औ अपने को ग्रहण करना असंभव है।

(*) (ग्राह्य) विषय। (†) प्रचार नाम चित्त के व्यापार वा वृत्तियों का है।
(१) (रक्त) रागवाला। (‡) सौगत, वैनाशिक, वैज्ञानिक, यह सब बौद्धों के नाम हैं।
(२) अर्थात्—विषय को भी प्रकाशता है औ आपने को भी प्रकाशता है।
(३) बौद्धमत से, अर्थात्—पूर्व जो दोष दिये हैं वह सर्व मत के अनुसार से हैं औ अब केवल बौद्धमत के अनुसार-से दोष देते हैं।

अर्थात्—बौद्धमत में चित्त को क्षणिक होने से एक क्षण में ही विषय औ अपने को ग्रहण करना अयुक्त है क्योंकि क्षणिक वादी के मत में जो वस्तु की उत्पत्ति है वही क्रिया वा कारक है कुछ उत्पत्ति से अतिरिक्त क्रिया वा कारक नहीं है।

भाव यह है कि—जैसे अन्य मतों में यह नियम है कि "प्रथम क्षण में पदार्थ की उत्पत्ति होती है औ द्वितीय क्षण में पदार्थ क्रिया वाला होता है औ तृतीय क्षण में किसी कार्य्य के करने से कर्तारूप कारक होता है" तैसे बौद्ध मत में नहीं है किन्तु जो वस्तु की उत्पत्ति है सोई इन के मत में क्रिया है औ सोई कारक है क्योंकि द्वितीय क्षण में वस्तु का नाश होने से भिन्न २ क्षण में इन तीनों का होना इन के मत से विरुद्ध है, तथा च एक क्षण में विषय औ अपने स्वरूप के ग्रहण का असंभव होने से चित्त को स्वाभास औ विषयाभास कहना प्रलपन (१) जानना ॥ २० ॥

यदि किसी वैनाशिक का यह आशय हो कि "यद्यपि द्वितीय क्षण में विनाशशील होने से चित्त अपने को आप ग्रहण नहीं कर सकता है तथापि समनन्तर (२) अन्य द्वितीय

(१) प्रलपन नाम उन्मत्त के वचन का है अर्थात्—जिस व्यापार से चित्त घट को विषय करेगा उसी व्यापार से ही अपने स्वरूप को विषय करेगा यह तो होही नहीं सकता क्योंकिं एक रूप व्यापार से भिन्नरूप कार्य्य का होना असंभव है इस से अन्य एक व्यापार उन को मानना होगा पर सो उन के मत में हो नहीं सकता क्योंकि उत्पत्ति से अतिरिक्त अन्य व्यापार का होना उन के मत से विरुद्ध है एवंच एक क्षण में दोनों का ग्रहण असंभव जानना।

(२) 'समनन्तर' नष्ट चित्त से अव्यवहित उत्तर क्षण में नूतन उत्पन्न,

चित्त कर के वह ग्राह्य माना जायगा इस से चित्त अग्राह्य नहीं किन्तु ग्राह्य ही है" इस आशय को दुष्ट प्रदर्शन करते हैं—

सू० चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

भाषा—(चित्तान्तरदृश्ये) अन्य चित्त कर के यदि चित्त को ग्राह्य मानेंगे, तो (बुद्धि (*) बुद्धेः) तिस चित्त का अन्य चित्त कर के ग्रहण होने से (अतिप्रसङ्गः) अनवस्था रूप दोष होगा, (च) और दोष यह है कि (स्मृतिसङ्करः) स्मृतियों का परस्पर संकर हो जायगा ।

अर्थात्—यदि घट को विषय करने वाला चित्त किसी अन्य चित्त कर के ग्राह्य माना जायगा तो वह अन्य चित्तं किस कर के ग्राह्य मानेंगे (१) क्योंकि यदि स्वग्राह्य मानेंगे तो पूर्वोक्त दोष (२) तदवस्थ होगा औ यदि किसी अन्य चित्त करके ग्राह्य मानेंगे तो वह चित्त अन्य कर के औ वह अन्य अन्य कर के इस प्रकार से अनवस्था दोष होगा, एवं च चित्त से अतिरिक्त एक चित्तका ज्ञाता आत्माही मानना उन को उचित है

(३) किंच ऐसे मानने से विषय के अनुभव काल में

(*) 'बुद्धि, चित्त, विज्ञान यह एकार्थ हैं ।

(१) अर्थात्—किसी करके ग्राह्य नहीं होगा, सोई स्पष्ट करते हैं " क्योंकि " इत्यादि से ।

(२) (पूर्वोक्तदोष) एक में कर्तृत्व कर्मत्व रूप विरुद्ध धर्म का असंभव रूप दोष (तदवस्थ) तिसी अवस्था वाला, अर्थात् जैसे का तैसा ।

(३) स्मृतिसंकर रूप दोष को स्पष्ट करते हैं—" किंच " इत्यादि से ।

उन को ज्ञानों का धाराप्रवाह (१) मानना लगेगा, तथा च विषय की स्मृति काल में भी तिन अनन्त ज्ञानों की एक काल में स्मृति मानने ही लगेगी क्योंकि जैसा अनुभव होता है वैसी ही स्मृति का होना सर्व मत संमत है, एवं च (घट मैं ने जाना) इस प्रकार जो एक मात्र आकार वाली स्मृति होनी उचित थी वह न होगी किन्तु (घट मैं ने जाना-घटज्ञान मैं ने जाना, घटज्ञानज्ञान मैंने जाना, फिर तिस का ज्ञान) इस प्रकार से अनन्त आकार वाला स्मृति संकर हो जायगा पर सो सब के अनुभव से विरुद्ध है।

तथा च सर्वानुभवविरुद्धवादी (*) तथा चित्त से अतिरिक्त सर्वानुभवसिद्ध बुद्धि के साक्षी भूत पुरुष का अपलाप करने वाले जो वैनाशिक हैं वह व्याकुल (२) जानने, इसी से ही जो जो इन का सिद्धान्त है वह २ सब आकुल ही है निराकुल (३) नहीं।

किञ्च जिस जिस वैनाशिक ने जो जो आत्मा का स्वरूप अपनी ऊहा से कल्पना किया है वह भी सभी न्याय विरुद्ध है अर्थात्—जो विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञान रूप चित्तमात्र को आत्मतत्त्व मान कर फिर (जो सांसारिक मलिन पञ्च-

---

(१) प्रथम घटज्ञान—पुनः घटज्ञानज्ञान—फिर घटज्ञान--ज्ञान—ज्ञान इत्यादिक अनन्त ज्ञान की धारा होजायगी।

* यह वैनाशिक=बौद्धों का विशेषण है।

(२) (व्याकुल) भ्रान्ति वाले।

(३) अर्थात् कोई भी सिद्धान्त इन का स्थिर नहीं है।

स्कन्धों (१) को त्याग कर मुक्त हुआ शुद्ध पञ्चस्कन्धों का अनुभव करता है वह तत्त्वविशेष आत्मा है) इस प्रकार मानता है वह भी स्वस्वीकृत क्षणिकवाद से भीत (२) होने से न्याय विरुद्ध है क्योंकि किसी स्थायी पदार्थ से विना मलिन पंचस्कन्धों का त्याग तथा शुद्ध पंचस्कन्धों का उपादान होना असंभव है, एवं बंध मोक्ष का वैय्यधिकरण्य (३) भी इन के मत में दुर्वार जानना।

इसी प्रकार जो शून्यवादी शून्य को ही परम तत्त्व मान कर फिर (स्कन्धों विषयक महावैराग्य के लिये औ पुनर्जन्माभाव रूप प्रशांतिके लिये जीवन्मुक्त गुरु के समीप जा कर ब्रह्मचर्य्य के अभ्यासद्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिये) इस प्रकार मानता है वह भी न्यायविरुद्ध

---

(१) अहं-अहं इत्याकारक जो आलय विज्ञान का प्रवाह है वह विज्ञान स्कन्ध है औ सुख आदि का जो अनुभव है वह वेदनास्कन्ध है, औ मैं गौर हूं ब्राह्मणहूं इत्याकारक जो सविकल्प ज्ञान है वह संज्ञा स्कन्ध जानना, एवं विषयों के सहित जो इन्द्रिय हैं वह रूप-स्कन्ध के वाच्य जानने, तथा राग, द्वेष, मोह, धर्म, अधर्म यह संस्कार-स्कन्ध हैं, यह सौगतों का सङ्केत है, तहां नील पीत आदि अनेक प्रकार के मलिन स्कन्धों का त्याग कर विशुद्ध विज्ञानाकार प्रवाह हो जाना यह उन के मत में मुक्ति है।

(२) पहिले आत्मा को क्षणिक माना फिर उस को मुक्ति काल में विशुद्ध प्रवाह वाला स्थिर माना यह उन के मत में भय जानना- यदि मुक्ति काल में भी क्षणिक मानेंगे तो उत्पत्ति औ नाश वाला होने से आत्मा अनित्य हो जायगा।

(३) क्षणिक वादी के मत में नीलपीतादि मलिन विज्ञानप्रवाह वाला चित्त बद्ध है औ उस के अनन्तर अन्य क्षण में नूतन उत्पन्न विशुद्ध प्रवाह वाला चित्त मुक्त है, एवं च बन्ध मोक्ष का एक आश्रय न होने से वैय्यधिकरण्य जानना, यह सब प्रथम पाद के ३२ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट है।

जानना क्योंकि जव उन के मत में कुछ है ही नहीं तो भोक्ता तथा मोक्ष एवं ब्रह्मचर्य्य आदि साधनों की सत्ता का स्वीकार करना अयुक्त है।

तथा च चित्त का स्वामी औ द्रष्टा तथा भोक्ता रूप स्थिर पुरुष को मानने वाले जो सांख्य योगी आदि हैं वही न्याययुक्त जानने वैनाशिक प्रतारक नहीं यह सिद्ध हुआ॥२१॥

यदि चित्त स्वाभास भी नहीं औ न किसी अन्यचित्त कर के ग्राह्य होता है किंतु आत्मा कर के ही ग्राह्य है यह मानते हो तो फिर असङ्ग (१) तथा निर्विकार आत्मा भी चित्त का द्रष्टा औ भोक्ता कैसे? इस आक्षेप का वारण करते हैं—

सू० चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

भाषा–(अप्रतिसंक्रमायाः) एवं सर्वत्र इन्द्रियों की तरह विषयों में प्रचार से रहित, (चितेः) चेतन पुरुष को (तदाकारापत्तौ) स्वप्रतिविम्बित चित्त के आकार की तरह आकार की प्राप्ति होने पर (२) (स्वबुद्धिसंवेदनम्) अपने विषयभूत बुद्धि का ज्ञान होता है।

---

(१) जैसे विषय के संग संबन्ध को प्राप्त होकर चित्त विषय को प्रकाशता है तैसे आत्मा भी चित्त के संग संबन्ध को प्राप्त हो कर ही चित्त को प्रकाशेगा एवं च असंग आत्मा का संबन्ध कैसे, तथा निर्विकार आत्मा में प्रकाश रूप क्रिया का संभव कैसे, यह पूर्व पक्षी का आशय है।

(२) एवं च आत्मा में दर्शनकर्तृत्व औपाधिक है स्वाभाविक नहीं यह बोधन किया।

अर्थात्—अपरिणामी जो भोक्तृशक्ति संज्ञक पुरुष है वह यद्यपि अप्रतिसंक्रम अर्थात्—किसी विषय से संवद्ध न होने से निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि में प्रतिविम्बित हुआ तदाकार होने से वह तिस बुद्धि की वृत्ति का अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है, एवंच चैतन्य-प्रतिबिम्बग्राहिणी बुद्धिवृत्ति के अनुकारमात्र होने से ही बुद्धिवृत्ति से अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञानवृत्ति कहा जाता है कुछ परमार्थ से वह चेतन ज्ञाता नहीं है। यद्वा चेतन के प्रतिबिम्ब का आधार होने से जो चित्त का चेतनाकार हो जाता है वह तदाकारापत्ति है इस तदाकारापत्ति के होने से जो चित्त में दर्शन कर्तृत्व है तिस को ले कर ही चेतन को द्रष्टा कहा जाता है कुछ वास्तव में नहीं (१)।

भाव यह है कि—जैसे अमल जलमें पतित हुआ चंद्र प्रतिबिम्ब अपनी क्रिया से विना ही केवल प्रतिविम्बाधार जल के चल होने से चञ्चल प्रतीत होता है तैसे चित्त प्रति-बिम्बित जो चेतन है वह भी अपने व्यापार से विना ही केवल प्रतिविम्बाधार चित्त के विषयाकार होने से तदाकार प्रतीत हो जाता है कुछ स्वाभाविक नहीं।

एवं च चेतन प्रतिबिम्बित चित्त ही चिदाकार हुआ अपने को दृश्य औ चेतन को द्रष्टा कर देता है कुछ वास्तव से पुरुष द्रष्टा नहीं है यह निष्पन्न हुआ।

---

(१) अर्थात्—औपाधिक भेद को ले कर विषयाकार चित्त दृश्य है औ चेतन प्रतिबिम्ब चित्त द्रष्टा है, यह अग्रिम सूत्र में स्पष्ट है।

चित्त औ चेतन को अभिन्न रूप से भान होने से ही "न पातालं नच विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनां, गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते" इस वाक्य (१) से आगम में चेतन को बुद्धिवृत्त्यविशिष्ट कहा है ॥ २२ ॥

(चित्त ही चेतन से अभिन्न सा हुआ विषय औ विषयी का उपस्थापक है यह अवश्य ही मानना उचित है क्योंकि लोक में ऐसा अनुभव सर्वानुभवसिद्ध है) इस आशय से चित्त को सर्वार्थ कहते हैं—

सू० द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

भाषा—जिस हेतु से (चित्तम्) चित्त, (द्रष्टृदृश्योपरक्तम्) दृश्य (विषय) तथा द्रष्टा (पुरुष) इन दोनों से (उपरक्त) संवद्ध है, इसी हेतु से वह चित्त (सर्वार्थम्) सर्वार्थ (२) कहा जाता है ।

अर्थात्—चित्त जो है वह केवल दृश्य अर्थ से ही (उपरक्त) संवद्ध है यह नहीं जानना किन्तु अपनी वृत्तिद्वारा(३) विषयी पुरुष भी उस के संग संवन्धवाला है, इसी

---

(१) " गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम् " इत्यादि श्रुतियों में जिस गुहा (गुफा) में शाश्वत (नित्य) ब्रह्म निहित (स्थित) कहा है वह गुहा कुछ पाताल, वा गिरि का कुहर, वा अन्धकार, वा समुद्र का उदर नहीं है किन्तु प्रतिबिम्बित चेतनसे अभिन्न सी जो बुद्धिवृत्ति है वही गुहा जाननी क्योंकि कवि (सर्वज्ञमुनि) जन उस को ही ब्रह्म गुहा जानते हैं, यह आगम वाक्य का अर्थ है ।

(२) द्रष्टा औ दृश्य इन दोनों के संग संबन्ध वाला होने से अनेक रूप ।

(३) वृत्ति नाम यहां पर चित्तमें चेतन की छाया के पड़जाने का है अर्थात्—जैसे

से ही लोक में 'घटमहं जानामि' (घटविषयक ज्ञानवाला मैं हूं) यह जो प्रत्यक्षरूप ज्ञान है वह विषय औ विषयी इन दोनों का ही उपस्थापक होता है कुछ केवल दृश्य अर्थ का ही उपस्थापक नहीं।

एवं च अचेतन विषयरूप भी चित्त चेतन औ विषयी के सदृश होने से चेतनाऽचेतनस्वरूप तथा विषयविषयिनिर्भास (१) हुआ स्फटिकमणि के तुल्य अनेक रूप वाला है यह निष्पन्न हुआ।

भाव यह है कि—(२) जैसे एक ही स्वच्छ स्फटिक मणि अपने दोनों भागों में स्थित रक्त पुष्प औ नील पुष्प के प्रतिबिम्ब से औ अपने निज रूप से तीन रूप वाला प्रतीत होता है तैसे एक ही चित्त विषय औ आत्मा के प्रतिबिम्ब से औ अपने रूप से गृहीता-ग्रहण-ग्राह्य स्वरूप हुआ तीन रूप वाला हो जाता है, (३) इसी से ही चित्त सर्वार्थ है।

यहां पर प्रसंग से यह भी जान लेना उचित है कि—यह जो सर्वार्थ होने से चित्त औ चेतन का सारूप्य है इस

विषय चित्त में प्रतिबिम्बित है तैसे चेतन भी चित्त में प्रतिबिम्बित है इस से चित्त दोनों से उपरक्त है।

(१) (विषय) दृश्य, (विषयी) द्रष्टा, अर्थात्—द्रष्टा औ दृश्य रूपसे भासता हुआ।

(२) स्फटिक मणि के तुल्य—इस दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं "जैसे" इत्यादि से।

(३) तहां अपने रूप से चित्त ग्रहणाकार है औ विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार है औ आत्मा के प्रतिबिम्ब से ग्राहकाकार है इस प्रकार अनेकाकार होने से चित्त सर्वार्थ है।

चित्तसारूप्य से ही भ्रान्त हुए वैनाशिक लोकों ने चित्त को आत्मा माना है कुछ ऐसे ही नहीं, (१) एवं योगाचार ने जो चित्त से अतिरिक्त बाह्यप्रपञ्च का अभाव कहा है सो भी इस अविवेक मूलक भ्रम से जानना, एवं च उन वैनाशिकों की आस्तिकों ने उपेक्षा नहीं करना चाहिये किन्तु उन पर अनुकंपाकर चित्त से भिन्न आत्मा का स्वरूप उन को बोधन करना चाहिये क्योंकि यदि वह ऐसे ही चित्त को आत्मा मान लेते तब तो उन की उपेक्षा करनी उचित थी परन्तु ऐसे उन्हों ने माना नहीं किन्तु चित्त को जो पूर्वोक्त प्रकार से द्रष्टा औ दृश्य के आकार से भान कहा है सो भान हीं उन को चित्त के आत्मा मानने में भ्रांतिकारण है, एवं च भ्रांति के कारण का सद्भाव होने से चित्त को चेतन मानना अविवेक से उन का संभव है, इस से उन को कृपा कर बोधन करनाही उचित है कुछ उन की उपेक्षा करनी नहीं।

अर्थात्—(२) पूर्वोक्त युक्तियों से चित्त से अतिरिक्त आत्मा का उन को उपदेश कर फिर आत्मा के साक्षात्कार के लिये अष्टाङ्ग योग द्वारा समाधि में उन की विश्वासपूर्वक प्रवृत्ति करा कर यह उन को बोधन करना उचित है कि-(समाधिकाल में जो सविकल्प प्रज्ञा (३) होती है उस प्रज्ञा

---

(१) ऐसेही=भ्रान्तिकारण से विना ही।

(२) जिस प्रकार से बौद्धों पर कृपा करनी चाहिये सो प्रकार प्रदर्शन करते हैं " अर्थात् " इत्यादि से।

(३) यह सब समाधि-प्रज्ञा प्रथम पाद के ४२ इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट है।

में प्रतिबिम्बित अर्थ भिन्न है औ जिस में विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रज्ञा भिन्न है तथा प्रतिबिम्बितपदार्थ युक्त प्रज्ञा को अवधारण करने वाला जो पुरुष है वह भिन्न है कुछ चित्तमात्र ही सब नहीं है क्योंकि यदि चित्तमात्र ही बाह्य अर्थ को माना जायगा तो चित्त अपने को आप ही ग्रहण करता है यह मानना पड़ेगा पर सो यह मानना असमीचीन है क्योंकि गृहीता-ग्रहण-ग्राह्य यह तीनों भिन्न २ ही माने जाते हैं कुछ अभिन्न नहीं (१) ।

तथा च जिन सांख्य योगी वेदान्तियों ने विवेकद्वारा गृहीता तथा ग्रहण एवं ग्राह्य इन तीनों को परस्पर विजातीय रूप से पृथक् २ माना है वही सम्यग्दर्शी हैं औ उन्हों ने ही पुरुष के स्वरूप को जाना है औ अन्य जो अविवेकी हैं वह सब भ्रान्त हैं यह निष्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

किस हेतु से चित्तसे अतिरिक्त आत्मा मानना उचित है? इस आकांक्षा के होने पर सूत्रकार हेत्वंतर (२) कहते हैं—

सू० तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वाद् ॥ २४ ॥

भाषा--(तद्) सो चित्त (असंख्येयवासनाभिः) असंख्यात वासनाओं कर (चित्रमपि) यद्यपि चित्रित है, तौ भी (परार्थम्)

(१) अर्थात्—इस प्रकार उन को बोधन कर चित्त औ चेतन का विवेक प्रदर्शन करे कुछ उन की उपेक्षा न करे, इतने पर भी न माने तो अचिकित्स्य भ्रान्ति वाले जान कर उपेक्षा ही करनी वर है ।

(२) पूर्वोक्त हेतुओंसे अतिरिक्त नूतन हेतु ।

अपने से भिन्न जो पुरुष है तिस के ही अर्थ है क्योंकि (संहत्यकारित्वाद्) संहत(१) हो कर कार्य्य करने से,

अर्थात्—यद्यपि अनंतवासनाओं कर चित्रित होने से चित्त ही को भोक्ता मानना उचित है क्योंकि जो वासना का आश्रय होता है वही भोग का आश्रय होने से भोक्ता वन सकता है अन्य नहीं, तथापि वह चित्त स्वार्थ नहीं जानना किन्तु पुरुष के भोगापवगार्थ ही जानना क्योंकि जो२ जड़पदार्थ मिलित होकर किसी एक कार्य्य को संपादन करते हैं वह लोक में परार्थ ही माने जाते हैं स्वार्थ नहीं।

भाव यह है कि (२) जैसे शयन आसन गृह प्रभृति जड़ पदार्थ मिलित हुए पुरुष के भोगसाधन होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं तैसे चित्त भी क्लेश-कर्म-वासना तथा विषय-इंद्रियादि से मिल कर पुरुष का अर्थ संपादन करने से पुरुषार्थ ही है स्वार्थ नहीं।

अर्थात्—सुखाकार जो चित्त है वह चित्त के भोगार्थ नहीं (३) है औ तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है वह चित्त के अपवर्गार्थ नहीं है किन्तु यह दोनों प्रकार का चित्त परार्थ ही है, एवं च जो इस भोग औ अपवर्गरूप अर्थ से अर्थ वाला है सोई असंहत केवल पुरुष है यह जानो।

यहां पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि (जो२

---

(१) विषय तथा इन्द्रियादि से मिलकर।

(२) संहत्यकारित्वाद्—इस पद के अर्थ को स्पष्ट करते हैं "जैसे" इत्यादि से।

(३) अर्थात्—सुख ही सुख कर के अनुकूलनीय नहीं औ तत्त्वज्ञान ही ज्ञान कर मोचनीय नहीं किन्तु इन से भिन्न ही पुरुष अनुकूलनीय तथा मोचनीय जानना।

संहत्यकारी होता है सो२ पर के अर्थ होता है) इस युक्तिसे कोई सामान्य पदार्थमात्र ही पर नहीं मानना क्योंकि यदि सामान्य से किसी पदार्थ को पर माना जायगा तो वह भी संहत्यकारी होने से परार्थ ही कहा जायगा किन्तु जो असंहत्यकारी पुरुष विशेष है सोई पर मानना चाहिये (१) औ उसी के अर्थ चित्त मानना चाहिये ॥ २४ ॥

इस प्रकार युक्तियों से चित्त से अतिरिक्त आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर इदानीं इस आत्मा के उपदेश द्वारा साक्षात्कार करने की योग्यता वाला जो अधिकारी है तिस का अन्य अनधिकारी पुरुषों से विशेष कहते हैं—

सू० विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

भाषा—(विशेषदर्शिनः) चित्त से अतिरिक्त आत्मा को जानने वाले पुरुष की (आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः) आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है।

(२)अर्थात्—(पूर्वजन्म में हम कौन थे, कहां थे, किस प्रकार से स्थित थे, औ मेरा वास्तव रूप क्या है, औ यह शरीर भूतों का कार्य्य है वा भूतों का समूह वा भूतों से भिन्न है आगे हम क्या होंगे औ कौन होंगे औ किस प्रकार होंगे) इस प्रकार जो आत्मविषयक विचार है वह आत्मभावभावना जाननी।

---

(१) यदि कोई अन्य भी संहत माना जायगा तो वह भी संहत होने से अन्यार्थ औ अन्य भी संहत होने से अन्यार्थ इस प्रकार अनवस्था होगी, इस से असंहत ही पर मानना चाहिये।

(२) (आत्मभावभावना) इस पद का अर्थ कहते हैं 'अर्थात्' इत्यादि से।

परन्तु यह आत्मभावभावना तावत्कालपर्य्यन्त ही विद्यमान रहती है कि यावत्कालपर्य्यन्त विवेकज ज्ञान का उदय नहीं होता है औ जब फिर उपदेश द्वारा समाधि के अनुष्ठान से इस अधिकारी को (यह सब जो अनेक प्रकार की भावना है वह सब चित्त का ही विचित्र परिणाम है औ मैं तो अविद्या के संपर्क से रहित तथा चित्त के धर्मों से अपरामृष्ट (*) होने से शुद्ध औ निर्विकार हूं) यह विवेक ज्ञान उदय होता है तब उस योगी की वह आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है। (१)

एवंच जिस पुरुष के चित्त में यह भावना होती है वही आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी है औ वही योगाभ्यास द्वारा विवेकज्ञान का संपादक है औ उसी की ही विवेकज्ञान से यह आत्मभावभावना निवृत्त होती है औ जिन्ह नरों को यह आत्मभावभावना ही नहीं उन को न तो आत्मोपदेश का अधिकार है औ न विवेकज्ञान ही होता है औ न आत्मभावभावना की निवृत्ति है, यह सिद्ध हुआ।

(२) तहां इस के चित्त में भावना का उदय है औ इस के चित्त में नहीं, यह अनुमान से जान लेना।

(*) अपरामृष्ट=वियुक्त।

(१) यहां पर सूत्रकार ने जो विशेषदर्शी (विवेक ज्ञानी) की आत्मभावभावना की निवृत्ति कही है इस से अर्थात् यह बोधन किया कि उस के चित्त में पहिले आत्मभावभावना का उदय था क्योंकि विना उदय से असत् की निवृत्ति का होना असंभव है, तथाच आत्मभावभावनावालाही विवेकज्ञान का अधिकारी है अन्य नहीं यह फलित हुआ।

(२) पूर्वोक्त प्रकार से यह निश्चय हुआ कि जिन के चित्त में इस भावना का

(१) अर्थात्—जैसे वर्षाऋतु में तृणों के अंकुरों का प्रादुर्भाव देख कर उन तृणों के बीजों की सत्ता का अनुमान किया जाता है तैसे जिस पुरुष को मोक्षमार्ग श्रवण से (*) रोमांच औ हर्ष पुरस्सर अश्रुपात होय तिस पुरुष ने विवेक ज्ञान का बीजभूत तथा अपवर्ग का साधन जो यमनियमादिक कर्म हैं वह पूर्वजन्म में अनुष्ठित हैं औ इस के चित्त में आत्मभावभावना का उदय भी है यह अनुमान से जान लेना ।

एवं जिन पुरुषों की पूर्वजन्म में शुभकर्मों के अनुष्ठान के अभाव से केवल (२) पूर्वपक्ष में ही रुचि हो औ सिद्धान्त में अरुचि होय तिन पुरुषों के चित्त में अनुमान से आत्मभावभावना का अनुदय जान लेना ॥ २५ ॥

अब विवेकी के चित्त का स्वरूप प्रदर्शन करते हैं—

सू० तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

भाषा—(तदा) विवेक ज्ञानके उदय कालमें (चित्तम्)

उदय है उन्हीं के प्रति महात्माओं को आत्मोपदेश करना चाहिये अन्य शुष्क तार्किकों को नहीं परन्तु यह उपदेशक को कैसे ज्ञात होय कि इस के चित्त में भावना का उदय है औ इस के चित्त में नहीं, इस आकाङ्क्षा के शान्त के लिये कहते हैं, " तहां " इत्यादि से ।

(१) सोई अनुमान प्रकार दिखाते हैं "अर्थात्" इत्यादि से ।

(*) वैराग्य बोधक वचनों कर युक्त जो साङ्ख्य योग वेदान्तशास्त्र है उसे मोक्षमार्ग जानना ।

(२) अर्थात्—परलोक है या नहीं, निराकार का ध्यान कैसे, ईश्वर दिखाई क्यों नहीं देता, इत्यादि तर्कों में जिन की रुचिहो वह उपदेश के अनधिकारी जानने ।

विवेकी का जो चित्त है वह (विवेकनिम्नम्) विवेकमार्ग संचारी, तथा (कैवल्यप्राग्भारम्) कैवल्य के अभिमुख हो जाता है (१)

अर्थात्—विवेकज्ञान से पूर्व जो चित्त का प्रवाह अविवेकरूप मार्ग से वहता हुआ विषयभोग पर्य्यन्त विश्रान्ति वाला था वह चित्त विवेकज्ञान के उदय होने से आत्मानात्म विवेक रूप मार्ग की ओर निम्न हुआ कैवल्यपर्य्यन्त विश्रान्ति वाला हो जाता है, विस्तर (*) अन्यत्र देखो ॥२६॥

यदि योगी का चित्त सदा विवेकनिष्ठ है तो वह चित्त कभी भी व्युत्थित (२) नहीं होता है ऐसा मानना पड़ेगा एवं च विवेकी का जो भिक्षाटन स्नान शौच आदि व्यवहार देखने में आता है वह कैसे उपपन्न होगा क्योंकि विना व्युत्थान से भिक्षाटनादि व्यवहार का होना असंभव है ? इस आक्षेप का वारण करते हैं—

सू० तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

भाषा—(संस्कारेभ्यः) पूर्वले व्युत्थान के संस्कारों से (तच्छिद्रेषु) तिस विवेकनिष्ठ चित्त के अन्तरालों में (३) (प्रत्ययन्तिराणि) अन्य प्रत्यय भी उत्पन्न होते रहते हैं।

---

(१) जल के प्रवाह के संचार योग्य जो नीच प्रदेश है वह निम्न कहा जाता है, ओ जहां पर जाकर जल का प्रवाह रुक जाता है ऐसा जो उच्च प्रदेश है वह प्राग्भार जानना, इसी को स्पष्ट करते हैं " अर्थात् " इत्यादि से।

(*) प्रथम पाद के १२ सूत्र के व्याख्यान में।

(२) (व्युत्थित) व्युत्थान वाला अर्थात् स्थिरता के अभाव से विक्षेपाकार।

(३) छिद्र=कभी २ बीच २ में होने वाला जो विवेकाभाव रूप अवकाश है वह छिद्र जानना इसी को अन्तराल ओ अवसर कहते हैं।

अर्थात्—यद्यपि विवेकी का चित्त विवेकख्यातिमात्र प्रवाह शील होने से विवेक निम्न ही है तथापि क्षीयमाण बीजरूप (१) पूर्व संस्कारों से कभी२ मध्य में विवेकज्ञान के शिथिल होने पर (यह मैं हूं, यह मेरा है, यह मैं जानता हूं, यह मैं नहीं जानता हूं,) इस प्रकार के अनेक प्रत्यय चित्त में उदय होते रहते हैं क्योंकि अनादि काल से प्रवृत्त व्युत्थानसंस्कार प्रबल हैं औ विवेक अभी दुर्बल है ॥ २७ ॥

यदि विवेकज्ञान के होने पर भी व्युत्थानसंस्कार बीच२ में अन्य प्रत्ययों को उत्पन्न करते रहते हैं तो ऐसा इन के नाश का उपाय कौन है कि जिस से नष्ट हुये यह फिर अन्य प्रत्ययोंको उत्पन्न न करें? इस आकाङ्क्षाको शान्त करते हैं—

सू० हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

भाषा—(एषाम्) इन व्युत्थान संस्कारों का (हानम्) नाश होना (क्लेशवद्) क्लेशों के नाश की तरह जानना क्योंकि (उक्तम्) ऐसे ही पूर्वाचार्य्यों ने कहा है (२)

अर्थात्—जैसे प्रसंख्यानरूप अग्नि से दग्धबीजभाव हुये क्लेश अपने अंकुरोत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं तैसे विवेकाभ्यासरूप प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीजभाव हुये पूर्वले संस्कार भी अन्यप्रत्ययों को उत्पन्न नहीं करते हैं।

---

(१) क्षय हो रही है बीजरूप शक्ति जिन संस्कारों की वह संस्कार क्षीयमाण-बीज रूप कहे जाते हैं, अर्थात्—विवेकाभ्यासरूप अग्नि से नहीं दग्धहुये संस्कारों से।

(२) यद्वा जैसे द्वितीयपाद में १०—११—इन दोनों सूत्रों में क्लेशों का नाश कहा है तैसे संस्कारों का नाश भी जान लेना।

एवं च अपरिपक्व विवेकज्ञान निष्ठ चित्तमें ही व्युत्थान संस्कारों का प्रादुर्भाव होता हैं, परिपक्वज्ञान निष्ठ चित्त में नहीं यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि—प्रथम विवेकज्ञान के अभ्यास से विवेकज्ञान के संस्कारों का संपादन कर व्युत्थानसंस्कारों का निरोध करे फिर निरोधसंस्कारों से विवेकसंस्कारों का क्षय करे फिर निरोधसंस्कारों का असंप्रज्ञातसमाधि से लय करे कुछ विवेकज्ञानपर ही आसन लगा कर अपने को कृत-कृत्य न माने ॥ २८ ॥

इस प्रकार व्युत्थान के निरोध का उपाय (विवेकाभ्यास रूप प्रसंख्यान) कथन कर अब प्रसंख्यान के निरोध का उपाय कहते हुये जीवन्मुक्ति की परमकाष्ठा रूप धर्ममेघ समाधि का स्वरूप कहते हैं—

सू० प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते-र्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

भाषा—(प्रसङ्ख्यानेऽपि) विवेकज्ञान में भी (अकुसीदस्य) फल की इच्छा के अभाववाले योगी को (सर्वथा) निरन्तर (विवेकख्यातेः) विवेकज्ञान के होने से (धर्ममेघः समाधिः) धर्ममेघ नामक समाधि प्राप्त होता है।

अर्थात्—जिस समय ब्रह्मनिष्ठ योगी प्रसंख्यान में भी अकुसीद (१) हो जाता है अर्थात्—पर वैराग्यद्वारा प्रसंख्यान

(१) किसी को ऋण देकर उस से जो मास २ में कुछ वृद्धि लेनी उस का नाम कुसीद है, इसी को ही लोक में कहीं सूद औ कहीं ब्याज कहते हैं, यदि यह योगी

के फल (१) में भी विरक्त हो जाता है तिस काल में इस पर वैराग्यशील योगी को निरन्तर विवेकख्याति का लाभ होता है क्योंकि संस्कारों के क्षय होने से अन्य प्रत्ययों की उत्पत्ति का उस काल में अभाव है ।

यह जो दृढ़ अभ्यास तथा पर वैराग्य द्वारा व्युत्थान संस्कारों के क्षयपूर्वक निरन्तर (२) विवेकख्यातिमात्र रूप से चित्त का अवस्थान इसी का नाम धर्ममेघ समाधि है (३) । औ यही संप्रज्ञात योग की परमकाष्ठा है, ॥ २९ ॥

अब इस समाधि के होने से जो फल होता है वह कहते हैं—

सू० ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

भाषा—(ततः) तिस धर्ममेघ समाधि के लाभ से (क्लेशकर्मनिवृत्तिः) क्लेश तथा कर्मों की निवृत्ति हो जाती है।

अर्थात्—इस समाधि के लाभ से अविद्यादि क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं तथा क्लेशमूलक शुभाशुभ कर्म भी

भी विवेक ख्यातिके फल की लिप्सा वाला होता तब वह भी कुसीद वाला कहा जाता परन्तु वह चाहता नहीं इस से वह अकुसीद है, इसी को स्पष्ट करते हैं " अर्थात् " इत्यादि से ।

(१) विवेक ख्याति का फल सर्वज्ञत्वादि का लाभ है, यह सब ३१२ पृष्ठ पर ४९ सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट है ।

(२) व्युत्थान संस्कारों द्वारा जो बीच २ में अन्य प्रत्ययों का उदय होता था उस का एकवार अभाव हो जाना ही निरंतर पद का अर्थ है ।

(३) "अयंतु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्" इस योगी याज्ञवल्क्य के वाक्य से आत्मसाक्षात्कार का नाम धर्म जानना, इस धर्म की जो वृष्टि करने वाला होय उस का नाम धर्ममेघ समाधि है ।

समूल हत (नष्ट) हो जाते हैं, फिर क्लेश कर्म के क्षय होने से विद्वान् जीवन्मुक्त हो जाता है।

अर्थात्—जन्म-मरण का निदान जो विपर्य्यय ज्ञान है उस के क्षय होने से वह जन्ममरण के अभाव द्वारा निखिल बन्धनों से मुक्त हो जाता है क्योंकि क्षीणविपर्य्यय कोई पुरुष भी किसी ने कहीं पर उत्पन्न हुआ नहीं देखा है।

गौतममुनि जी ने भी " वीतरागजन्मादर्शनात् (*) " इस सूत्र से वीतराग का जन्माभाव कहा है ॥ ३० ॥

अब धर्ममेघसमाधिनिष्ठ जीवन्मुक्त के चित्त को अन्य चित्तों से विलक्षण कहते हैं—

सू० तदा सर्वावरणमलाऽपेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज् ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

भाषा—(तदा) तिस काल में (१) (सर्वावरणमलाऽपेतस्य) निखिल आवरणमल (†) से वियुक्त हुये (ज्ञानस्य) चित्त को (२) (आनन्त्यात्) अपरिमेय होने से (ज्ञेयम्) बाह्य विषय (अल्पम्) परिच्छिन्न हो जाता है।

अर्थात्—चित्त को आच्छादन करने वाले जो क्लेश कर्म

(*) अ० ३ आ० १ सू० २५

(१) अर्थात्—धर्ममेघ समाधि के अनुष्ठान द्वारा क्लेशादि के क्षय होने पर जीवन्मुक्ति के लाभ काल में।

(†) चित्तनिष्ठ सत्त्वगुण को आच्छादन करने वाले जो क्लेशकर्मरूप मल हैं वह आवरणमल जानने।

(२) ज्ञान, चित्तसत्त्व, बुद्धितत्त्व, यह सब शब्द समानार्थक हैं इस से ज्ञान पद का अर्थ यहां पर चित्त किया है।

रूप मल हैं उन के क्षय होने से चित्त अपरिच्छिन्न होजाता है औ बाह्य ज्ञेय पदार्थ परिच्छिन्न हो जाते हैं।

भाव यह है कि—यद्यपि चित्तसत्त्व सत्त्वगुणप्रधान होनेसे स्वभावतःही सर्व पदार्थों के ग्रहण करने में सामर्थ्य-शील है तथापि तमोगुण कर आवृत्त होने से मुग्ध हुआ वह निखिल पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकता है किन्तु क्रिया-शील रजोगुण कर प्रवर्तित हुआ किसी २ विषय को ग्रहण करता है (१) इस से समाधि से पूर्व चित्त का प्रचार तो अल्प होता है औ ज्ञेय पदार्थ अनन्त भान होते हैं औ जब फिर धर्ममेघसमाधि के अनुष्ठान से वह चित्त रजत-मसूलक क्लेश कर्म रूप आवरण से विमुक्त हो जाता है तब फिर कोई ऐसा पदार्थ ही नहीं है जिस को चित्त विषय न करे इस से उस काल में चित्त अनन्त=अपरिमित=अपरिच्छिन्न हो जाता है औ ज्ञेय पदार्थ आकाश में खद्योत की तरह परिमित=परिच्छिन्न हो जाता है।

अर्थात्—यदि पंचविंशति २५ तत्त्व से अतिरिक्त अन्य भी कोई तत्त्व होता तो उस को भी योगी का चित्त विषय करता परंतु अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं इस से ज्ञेय ही अल्प है कुछ योगी का ज्ञान अल्प नहीं (२)।

---

(१) अर्थात्—यद्यपि सत्त्वगुण प्रकाशशील है तथापि अक्रिय तथा तमोगुण कर अभिभूत होने से वह कुछ कर नहीं सकता परन्तु जब रजोगुण आविर्भूत होकर उस को उत्तेजित कर तमोगुण को यत्किञ्चित् तिरस्कृत कर देता है तब फिर किसी २ विषय को वह ग्रहण करता है औ जब फिर तमोगुण उद्भूत होता है तो फिर वह मुग्ध हो जाता है इस से वह निखिल विषयों के ग्रहण में समर्थ नहीं।

(२) अर्थात्—पदार्थों का ही अल्पत्व है कुछ योगी के ज्ञान का नहीं।

एतादृश जो धर्ममेघसमाधिनिष्ठ योगी का चित्त है यही निर्वासन तथा विगत मल होने से कैवल्य चित्त कहा जाता है औ इस चित्त के प्रभाव से ही धर्ममेघ समाधि वाले का फिर जन्म नहीं होता है ।

यदि कोई यहां पर यह आशंका करे कि (इस समाधि से क्लेशादि का क्षय होने पर भी फिर योगी का जन्म क्यों नहीं होता ?) तो इस आशंका के वारणार्थ भाष्यकारों ने यहां पर—

" अन्धो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरावयत्,

अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयद् " यह एक लौकिक आभाणक(१) कहा है, इस का अर्थ यह है कि—अन्ध पुरुष वज्रद्वारा मणि को छिद्रवाला करता है औ (अनङ्गुलिः) अङ्गुलियों से रहित पुरुष (तम्) तिस मणि को (आवयत्) सूत्र से ग्रथन करता है औ 'अग्रीवः' ग्रीवा से रहित पुरुष तिस को (प्रत्यमुञ्चत्)गले में धारण करता है औ (अजिह्वः) जिह्वा से रहित पुरुष तिस को (अभ्यपूजयत्) स्तवन करता है।

अर्थात्—जैसे यह सब असंभव है तैसे क्लेशादि के क्षय होने पर फिर जन्म का होना भी असंभव है (२)।

---

(१) (आभाणक=) असंभव अर्थ के प्रतिपादन करने वाला हास्यजनक प्राकृत लोकों का वाक्य, औ सर्वदर्शनसंग्रह में तो माधवाचार्य्य जी ने इस वाक्य को वेद के नाम से कहा है।

(२) विज्ञानभिक्षु जी तो यह कहते हैं कि—(धर्ममेघसमाधिनिष्ठ योगी के चित्त की जो यह दशा कही है सो दशा होनी असंभव है इस आशय से बौद्ध लोकों ने यह उपहास किया है कि—"अन्धोमणिमविध्यत्" इत्यादि, अर्थात्—जैसे लोक में अन्धमणिवेधनादि आश्चर्य्यरूप हैं तैसे यह योगी की सर्वज्ञता भी आश्चर्य है) —

भाव यह है कि—यदि कारण के उच्छेद होने पर भी कार्य्य का अभाव न माना जायगा तो असंभव अर्थ का प्रतिपादक जो यह आभाणक है वह भी आप को युक्त मानना लगेगा पर इस को कोई युक्त मानता नहीं इस से जन्म-कारण क्लेशादि के नाश होने पर फिर जन्म का अभाव होता है यही मानना समीचीन है ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तप्रकार से धर्ममेघ समाधि के लाभ से क्लेशादिकों के क्षय होने पर भी गुणों को विद्यमान होने से वह फिर योगी के शरीर का आरम्भ क्यों नहीं कर सकते ?

इस का समाधान कहते हैं—

सू० ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

भाषा—(ततः) तिस धर्ममेघसमाधि के उदय होने से (कृतार्थानां गुणानाम्) कृतप्रयोजन हुये गुणों के (परिणाम क्रमसमाप्तिः) कार्य्योत्पादनरूप परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है ।

अर्थात्—तावत्कालपर्य्यन्त ही तीनों गुण परिणामक्रम वाले होते हैं कि यावत्कालपर्य्यन्त भोग तथा अपवर्ग रूप दोनों कार्य्यों का पुरुष के प्रति संपादन न कर अकृतार्थ तथा असमाप्ताधिकार होते हैं औ जब इन दोनों कार्य्यों को संपादन कर कृतार्थ तथा समाप्ताधिकार हो जाते हैं तब

यद्यपि कलियुगी पंजाबी अन्धे भी मणि में छिद्र कर सकते हैं तथापि अन्यदेशीय सत्ययुगी अन्धों की अपेक्षा से यह असंभव जानना ।

फिर यह गुण परिणामक्रम (१) से रहित हो जाते हैं, अर्थात्—कार्य्यनिष्पादन के अनन्तर क्षण भर भी वह परिणाम के लिये अवस्थित नहीं होसकते हैं, एवं च विवेकख्याति की पराकाष्ठारूप धर्ममेघसमाधि के उदय होने से समाप्तकर्तव्य हुये तीनों गुण योगी के शरीर का आरम्भक नहीं होते हैं यह सिद्ध हुआ।

परन्तु इतना विशेष है कि—जिस पुरुष के प्रति यह कृतकार्य्य हैं उसी के प्रति यह परिणामक्रम से रहित होते हैं अन्यपुरुषों के प्रति नहीं, इसी से ही पूर्व यह कहा है कि "कृतार्थं (२) प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वाद्" इति ॥ ३२ ॥

अब परिणामक्रम के ज्ञान का उपाय कहते हुये परिणामक्रम का लक्षण कहते हैं—

सू० क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥३३॥

भाषा—(क्षणप्रतियोगी) क्षणों का संवन्धी, तथा (परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः) परिणाम के अवसान कर ज्ञायमान, जो गुणों की अवस्थाविशेष वह (क्रमः) क्रम कहा जाता है।

अर्थात्—क्षणों की अव्यवहित धारा को आश्रय करने वाली जो परिणामधारा है वह परिणाम क्रम जानना (३)।

(१) प्रथम तो गुणों का कार्य्योत्पादन में आभिमुख्य, औ फिर गुणवैषम्य औ फिर महत्तत्त्वादिरूप से अनेक प्रकार के परिणामों का होना, यह परिणाम क्रम है।

(२) द्वितीय पाद का २२ सवां सूत्र, १९० पृष्ठ में देखो।

(३) बिना क्रम वाले से क्रम का निरूपण करना अशक्य है औ एक क्षण का

सो यह क्रम कैसे परिज्ञात होता है, इस आकाङ्क्षा के होने पर कहा है कि " परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः " अर्थात्—परिणाम के अवसान कर के यह क्रम ज्ञात होता है।

(१) अर्थात्—प्रयत्नपूर्वक संरक्षित नूतनवस्त्र में जो अनेक वर्षों के अनन्तर पुराणता=जीर्णता (पुराणपन) देखने में आता है वह परिणाम का अपरान्त (अवसान) (*) कहा जाता है औ इस परिणाम के अपरान्त से वह क्रम ज्ञात होता है।

भाव यह है कि—यह जो वस्त्र में प्रशिथिलावयव रूप जीर्णता है यह एकवार एक दिनमें हुयी है यह तो मानना असंभव है किन्तु प्रथम सूक्ष्मतम पुराणता फिर सूक्ष्मतर फिर सूक्ष्म फिर स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम इस प्रकार क्रमसे हुयीहै यही मानना लगेगा, एवं च यह जो पुराणता रूप परिणाम का अपरान्त है यही परिणामक्रम में प्रमाण है यह सिद्ध हुआ।

परन्तु (२) यह परिणामक्रम केवल अनित्य पदार्थों

क्रम हो नहीं सकता इस से अनेक क्षणों को आश्रयण करने वाला जो क्षणों का पौर्वापर्य्यरूप परिणाम प्रवाह है वह परिणाम क्रम जानना।

(१) तहां (क्षणप्रतियोगी) यह तो क्रम का लक्षण है औ " परिणामापरान्त निर्ग्राह्यः " यह क्रम में प्रमाण प्रदर्शन पर है, इसी के अर्थ को स्पष्ट करते हैं " अर्थात् " इत्यादि से।

(*) अपरान्त, अवसान—पर्य्यवसान, अन्त, यह सब एकार्थक हैं।

(२) इस प्रकार सूत्र का अर्थ कथन कर " नित्येषु च क्रमो दृष्टः " इत्यादि भाष्य का अनुवाद करते हैं—" परन्तु " इत्यादि से।

में ही होता है यह नियम नहीं है किन्तु नित्य पदार्थों में भी यह दृष्ट है (१) ।

भाव यह है कि—नित्यता दो प्रकार की होती है एक तो कूटस्थनित्यता औ एक परिणामिनित्यता, तहां पुरुष में तो कूटस्थनित्यता है औ गुणों में परिणामिनित्यता है ।

यद्यपि स्वस्वरूप से अप्रच्युत होने से कूटस्थ रूप पुरुष ही नित्य हो सकता है गुण नहीं क्योंकि वह स्वरूप से प्रच्युत (२) होने से परिणामी हैं तथापि " यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् " इस लक्षण का दोनों में (*) समन्वय होने से गुणों को भी नित्य जानना ।

(३) अर्थात्—जिस के परिणम्यमान होने (†) पर भी स्वरूप का विघात न होय वह नित्य कहा जाता है सो ऐसी नित्यता गुण तथा पुरुष इन दोनों में विद्यमान है क्योंकि दोनों के स्वरूप के विघात का अभाव है (४) ।

---

(१) तहां इतना विशेष है कि—अनित्य पदार्थों में स्वतः ही अपरान्त होने से क्रम है औ नित्य गुणों में विकारों के अपरान्त द्वारा क्रम जान लेना, अर्थात्—गुणोंका कार्य्यमात्र में अन्वय होने से कार्य्य के अपरान्त द्वारा गुणों में भी क्रम का अनुमान कर लेना ।

(२) पूर्व रूप के त्याग पूर्वक अन्य रूप की प्राप्ति का नाम प्रच्युति है ।

(*) दोनों में=गुण औ पुरुष में ।

(३) पूर्वोक्त भाष्यकारीय लक्षण का अर्थ कहते हैं " अर्थात् " इत्यादि से ।

(†) (परिणम्यमान) परिणाम को प्राप्त होने पर ।

(४) अर्थात्—अतीतावस्था से शून्य होना मात्र ही नित्य का सामान्य लक्षण है कुछ परिणामी अपरिणामी का बीच में निवेश नहीं है सो अतीतावस्था शून्य गुण औ पुरुष दोनों ही हैं क्योंकि धर्म-लक्षण--अवस्था ही उदय नाश वाले होते हैं कुछ धर्मीभूत गुण नहीं ।

यद्यपि गुण परिणामी हैं औ पुरुष अपरिणामी है तथापि अतीतावस्था की प्राप्तिरूप जो स्वस्वरूपप्रच्युति है इस का अभाव होना दोनों में समान है इस से दोनों ही नित्य जानने।

तथाच—अनित्य बुद्धि आदि तथा परिणामिनित्य गुणस्वरूप प्रधान एवं कूटस्थनित्य पुरुष इन तीनों में ही पूर्वोक्त क्रम का संवन्ध जानना, तहां इतना विशेष है कि--बुद्धि आदिक जो गुणों के अनित्य धर्म हैं तिन में तो परिणामापरान्तग्राह्य क्रम लब्ध पर्य्यवसान है औ धर्मी रूप जो नित्य गुण हैं तिनों में यह क्रम अलब्धपर्य्यवसान है, (१) औ कूटस्थ रूप जो नित्य पुरुष है तिस में भी यह क्रम अलब्धपर्य्यवसान है।

(२) यद्यपि वास्तव क्रम का होना पुरुष में असंभव है तथापि अस्ति क्रिया को ले कर अर्थात्—पूर्व काल में भी पुरुष था औ वर्तमान काल में भी पुरुष है औ भविष्यत्काल में भी यह पुरुष होगा इस प्रकार जो सर्वकालसंवन्धरूप नित्यता है इस अस्ति क्रिया को लेकर अवास्तव क्रम का पुरुष में भी संवन्ध जान लेना (३)।

---

(१) लब्ध=प्राप्त हुआ है पर्य्यवसान अतीतावस्था रूप धर्म जिस को वह लब्ध पर्य्यवसान जानना, अर्थात्—बुद्धि आदिक धर्म विनाशशील हैं इस से उन के परिणाम क्रम का पर्य्यवसान होता है औ गुण स्वरूप प्रधान को नित्य होने से उन का परिणाम क्रम अलब्धपर्य्यवसान है।

(२) बुद्धि आदिक धर्मरूप से परिणाम को प्राप्त होने से प्रधान का परिणामक्रम यद्यपि सम्भव हो सकता है तथापि अपरिणामी पुरुष का परिणाम क्रम कैसे, इस आशंका के होने पर कहते हैं "यद्यपि" इत्यादि से।

(३) अर्थात् बद्ध पुरुषों को चित्त से अविवेक होने से चित्त के परिणाम क्रम का अध्यास जानना औ मुक्तपुरुषोंको अस्ति क्रियाको लेकर कल्पित क्रमका संवन्ध जानना।

अर्थात्—पुरुष में क्रम विकल्पमात्र है वास्तव नहीं, अब यहां पर एक यह आशङ्का उत्थित होती है कि—(यह जो सृष्टिप्रलयप्रवाहरूप से गुणों में वर्तमान संसारक्रम है इस क्रम की समाप्ति होती है वा नहीं यदि होती है तो फिर अलब्धपर्य्यवसान कैसे कहा औ यदि नहीं होती है तो पूर्वसूत्र में गुणों की परिणामक्रमसमाप्ति कैसे कही)। इस आशङ्का के वारणार्थ भाष्यकारों ने यह कहा है कि "अवचनीयमेतत्, कथम्? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः—सर्वो जातो मरिष्यति, ओम् भो इति, अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति? विभज्य वचनीयमेतत्-प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यत इति, तथा मनुष्य-जातिः श्रेयसी नवा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्चाधिकृत्य नेति, अयन्त्व-वचनीयः प्रश्नः संसारोयमन्तवानथाऽनन्त इति, कुशलस्या-स्ति संसारक्रमसमाप्तिर्नेतरस्येति, अन्यतरावधारणे दोषः; तस्माद् व्याकरणीय एवायं प्रश्न" इति।

(*) अर्थात्—यह जो आप की आशङ्का है वह अव-चनीय है अर्थात्—एक वार ही हां वा नहीं कह देना इस प्रकार उत्तर देने योग्य नहीं है किन्तु विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है।

भाव यह है कि—प्रश्न दो प्रकार का होता है एक तो एकान्तवचनीय अर्थात्—नियम से एक ही समाधान

(*) पूर्वोक्त भाष्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं 'अर्थात्' इत्यादि से।

द्वारा उत्तर देने योग्य, औ एक विभज्यवचनीय अर्थात्—विभाग पूर्वक उत्तर देने योग्य, तहां 'जो उत्पन्न हुआ है क्या वह सब मरेगा' यह जो प्रश्न है वह एकान्तवचनीय है अर्थात्—अवश्य मरेगा इस प्रकार एक ही उत्तर देने की योग्यता वाला है, औ 'जो मरेगा सो क्या फिर जन्मेगा' यह जो प्रश्न है वह विभज्यवचनीय है अर्थात्—प्रत्युदित-ख्याति (*) क्षीणतृष्णा कुशल पुरुष नहीं जन्मेगा औ इतर अविवेकी जन्मेगा इस प्रकार विभाग पूर्वक उत्तर देने योग्य है, एवं 'मनुष्यजाति श्रेष्ठ है वा अश्रेष्ठ' यह जो प्रश्न है वह भी विभज्यवचनीय जानना अर्थात्—पशु आदिकों की अपेक्षा से श्रेष्ठ है औ देव तथा ऋषियों की अपेक्षा से अश्रेष्ठ है।

तथा च यह जो प्रश्न है कि 'संसार अन्तवाला है वा अनन्त' यह भी नियम कर अवचनीय होने से विभज्य-वचनीय ही जानना।

अर्थात्—यदि संसारक्रम 'सृष्टि प्रवाह' का उच्छेद माना जाय तो संसार को अनादि अनंत बोधन करनेवाला शास्त्र (१) बाधित हो जायगा औ यदि इस का उच्छेद न माना जाय तो किसी की भी मुक्ति न होने से मोक्ष प्रतिपादक योग-शास्त्र व्यर्थ हो जायगा, इस से नियम कर के संसार का उच्छेद वा अनुच्छेद निश्चय करना दोषयुक्त होनेसे अशक्य

(*) प्रत्युदितख्यातिः=वर्तमान विवेकख्याति वाला।

(१) "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो नचादिर्नच संप्रतिष्ठा" इत्यादि शास्त्र संसार को प्रवाहरूप से अनादि औ अनन्त बोधन करते हैं।

है किन्तु कुशल (१) पुरुष में संसार क्रम की समाप्ति है औ अकुशल में नहीं इस प्रकार विभागपूर्वक ही इस का अवधारण करना युक्त है, तथा च पूर्वोक्त जो प्रश्न है (*) वह एकान्त वचनीय नहीं है किन्तु विभज्यवचनीय है (२) यह निष्पन्न हुआ ॥ ३३ ॥

गुणों के अधिकार की समाप्ति द्वारा जो परिणाम की समाप्ति होने पर कैवल्य कहा है अब उस कैवल्यके स्वरूप का अवधारण (†) करते हैं।

सू० पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥३४॥

भाषा—(पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम्) कृतार्थ होने से

---

(१) धर्ममेघसमाधिनिष्ठ योगी का नाम कुशल है औ अविवेकी प्राकृत पुरुष का नाम अकुशल है।

(*) संसार अन्तवान् है वा अनन्त इत्याकारक प्रश्न।

(२) यहां पर जो एक यह क्षुद्र संदेह उपस्थित होता है कि (यदि मुक्त पुरुषों के लिये प्रधान के परिणाम क्रम की समाप्ति होती है तो क्रमशः प्रत्येक जीवों को मुक्त होते २ एकवार ही प्रधान के क्रम की समाप्ति हो जायगी तथा च संसार उच्छेद औ प्रधान को अनित्यता हो जायगी) इस संदेह का वारण वाचस्पतिमिश्र ने इस प्रकार से किया है कि जीव असङ्ख्यात हैं इस से संसार का उच्छेद नहीं है, किञ्च पशु पक्षी-कृमि-कीट-मशक-यूका-लिक्षा-सर्प-वृश्चिक-कृकलास-लता-गुल्म-वनस्पति-ओषधि-वृक्षादि रूप प्रभेद से अनन्त चराचर को विवेकख्याति के लाभ के अभाव से सर्व प्राणी का मुक्त होना भी असंभव है, किंच अनेक जन्माभ्यासपरंपरासाध्य तत्त्व ज्ञान का पुरुषमात्र को न लाभ होने से सब पुरुषों की भी मुक्ति होनी असंभव है, विस्तर स्वामी जी निर्मित (कैवल्य कल्पलतिका) में देखो।

(†) (अवधारण)=लक्षणद्वारा निश्चय।

पुरुषार्थ से रहित बुद्धि आदि रूप से परिणत गुणों का जो (प्रतिप्रसव) अपने २ कारण में लय द्वारा प्रधान में लय, वह (कैवल्यम्) पुरुष का कैवल्य जानना (वा) अथवा (स्वरूप-प्रतिष्ठा) अपने शुद्धरूप में प्रतिष्ठा रूप (चितिशक्तिः) चेतन शक्ति रूप पुरुष का हो जाना कैवल्य है, इति शब्द शास्त्र की परिसमाप्ति का बोधक है।

अर्थात्—पुरुष के भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थ के संपादन से कृतार्थ हुये पुरुषार्थशून्य कार्य्यकारणस्वरूप गुणों का जो, प्रतिप्रसव अर्थात्—व्युत्थान-समाधि-निरोध इन तीनों के संस्कारों का मन में लय औ मन का अहंकार में लय औ अहंकार का लिङ्गरूप बुद्धि में लय औ बुद्धि का गुण-स्वरूप प्रधान में लय हो जाना यह पुरुष का कैवल्य जानना।

अथवा बुद्धिसत्त्व के संग फिर कभी भी संबन्ध न होने से जो पुरुष का निरन्तर केवल चितिशक्तिरूपमात्र से अवस्थान रूप स्वरूपप्रतिष्ठा=वास्तवरूप से अवस्थान वह कैवल्य जानना।

जैसे वेदान्त मत में अज्ञान की निवृत्ति औ परमानन्दस्वरूप ब्रह्म प्राप्ति को समकाल होने पर भी कहीं अज्ञान की निवृत्ति(१) को औ कहीं ब्रह्म की प्राप्ति को मुक्ति कहा है तैसे यहां पर भी गुणों का प्रतिप्रसव औ स्वरूपप्रतिष्ठा

---

(१) "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इत्यादि श्रुतियों में अज्ञान की निवृत्ति को मुक्ति कहा है औ "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म की प्राप्ति को मुक्ति कहा है।

इन दोनों को समकाल होने पर भी तात्पर्य्य की एकता से कैवल्य के दो लक्षण कहे हैं कुछ लक्षणभेद से कैवल्य का भेद नहीं जानना ॥ ३४ ॥

ओम्-तत्-सत् ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

दोहा—मुक्तचित्त(*) परलोक पुनि, विषयी विषय बखान ।
धर्ममेघ कैवल्य भनि, कियो पाद अवसान ॥१॥
वेद बाण निधि सूर मित, संवत् विक्रम भोग (†)।
रक्षाबन्धन दिवस में, कियो समापत योग ॥२॥

इति श्रीमत्परमहंस योगिराज निखिलशास्त्रनिष्णात–स्वामि बालरामो-
दासीनोद् भासिते पातञ्जलदर्शनप्रकाशे कैवल्यपादश्चतुर्थः ।

हरिः-ओम्-तत्-सद्-ब्रह्मार्पणम् ।

(*) अब इस पाद में कथित अर्थ का संग्रह प्रतिपादक दोहा कहते हैं—"मुक्तचित्त" इत्यादि से, तहां मुक्ति की योग्यतावाला चित्त षष्ठ सूत्र से कहा, औ परलोक-सिद्धि दशम सूत्र से कही फिर बाह्यविषय की सिद्धि १९ इत्यादि सूत्रों में कथन की तथा चित्त से अतिरिक्त विषयी पुरुष की सिद्धि १९ इत्यादि सूत्रों में कथन की, औ धर्ममेघसमाधि का प्रतिपादन २८ वें सूत्र से किया, फिर ३० वें सूत्र से जीवन्मुक्ति औ ३४ वें सूत्र से विदेहमुक्ति का निरूपण किया, औ प्रसङ्ग से प्रकृत्यापूर तथा वासना को अनादि, इत्यादिक पदार्थों का निरूपण किया, यह इस का अर्थ है ।

(†) (वेद) चार, (बाण) पांच, (निधि) नव, (सूर) एक, अर्थात्—विक्रम जी के १९५४ संवत् के भोगकाल में श्रावणपूर्णिमा के दिन यह प्रकाश समाप्त हुआ।

" नास्ति योगसमं बलम् "

इति श्रील हंसोदासीनात्मस्वरूपशास्त्रिसमुदीपिते प्रकाशटिप्पणे
तुरीयः कैवल्यपादः ॥ ४ ॥
" तस्माद् योगी भवार्जुन "

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
योग विना जो ज्ञान बतावै, बिना ताल से गावै ।
कहै घाघ यह तीनों भकुआ, काम किये पछितावै ॥

ओ३म्नमोऽन्तर्यामिणे ।

योगतत्त्वसमीक्षापरिशिष्ट ।

उपसंहार ।

" प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते,
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् (*) "

मुण्डक ।

" समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि
यत्सुखं भवेत्, न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते (+) " मैत्रायणी

शुश्रूषुजन !

यदि किसी योगभ्रष्ट को पूर्वजन्मानुष्ठित साधनों से इस जन्म में तत्त्व ज्ञान के उदय होने पर "यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य" (१) " ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (२) " "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे (३)" ।

(*) ओंकार धनुष है औ आत्मा बाण है औ ब्रह्म उस का लक्ष्य है, प्रमाद से रहित हो कर लक्ष्य को वेधन करे, जैसे बाण लक्ष्य के संग एकत्त्वात्मक होता है तैसे आत्मा को ब्रह्मरूप लक्ष्य के संग एकत्त्वात्मक करे, यह मुंडक श्रुति का भाव है ।

(+) समाधिद्वारा रजतमक से रहित आत्मनिष्ठ चित्त को जो आनन्द प्राप्त होता है वह योगी के चित्त कर ही संवेद्य होने से वाणी कर अकथनीय है, यह फलितार्थ है ।

(१) जो पुरुष बुद्धिरूप गुहा में साक्षीरूप से स्थित आत्मा को जानता है वह अविद्याग्रन्थि (अविद्यावासना) को नाश कर देता है, यह मुण्डकश्रुति का भाव है ।

(२) जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है, मुण्डक ।

(३) तिस परावर (कार्य्यकारणरूप वा सर्वोत्तम) परमात्मा के जानने से हृदयग्रंथि (अविवेक) निवृत्त हो जाता है औ अनेक प्रकार के जो प्रमाण प्रमेयगत संशय हैं वह भी निवृत्त हो जाते हैं औ प्रारब्ध से अतिरिक्त संचित आगामी कर्म भी क्षय हो जाते हैं । मुण्डक ।

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (१) "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (२)" "यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते (३)" "य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति सइदं सर्वं भवति" (४) इत्यादि श्रुतियों से यथाक्रम अविद्याग्रंथि, अब्रह्मत्व, हृदय ग्रंथि, सर्वसंशय, प्रारब्धेतरकर्म, असर्वकामत्व, मृत्यु-पुनर्जन्म, असर्वज्ञत्व, इन बंधनों की निवृत्ति होने से ज्ञानोत्पत्तिसमकाल (५) ही आगामिदेहाभाव रूप विदेह मुक्ति का लाभ हो भी जाय तथापि ज्ञानरक्षा, तप, विसंवादाभाव, दुःखनाश, सुखाविर्भावरूप पञ्चप्रयोजन जननी जीवन्मुक्ति के साधनभूत मनोनाश वासनाक्षय के अर्थ उस को भी योगाभ्यास

---

(१) जो पुरुष हृदयाकाश में विद्यमान बुद्धिरूप गुहा में स्थित सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप ब्रह्म को जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म से अभिन्न हुआ सर्वकाम को प्राप्त होता है, तैत्तिरीय।

(२) तिस परमात्मा को जान कर मृत्यु को तर जाता है, श्वेता०।

(३) जो पुरुष बुद्धि रूप सारथी वाला हुआ मन को अधीन कर सदा शुचि औ अप्रमादी है वह उस पद को प्राप्त होता है जहां से फिर आगमन नहीं होता है। कठ०।

(४) जो पुरुष मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार ज्ञान वाला है वह सर्व रूप हो जाता है। बृहदारण्यक।

(५) जब देह पद से निखिल देहों का ग्रहण कर यावद् देहों के अभाव का नाम विदेह माना जाता है तब तो ज्ञान सम काल में इस वर्तमान देह के सद्भाव से इस देह के वियोग से अनंतर ही विदेह मुक्ति मानी जायगी, औ जब आगामी देह के अभाव का वाचक विदेह पद माना जायगा तब आगामी देह के अभाव को ज्ञान समकाल में सिद्ध होने से ज्ञान सम काल विदेहमुक्ति का लाभ जानना।

अपेक्षित है, (१) तहां ज्ञान के उदय होने पर भी चित्त की विश्रान्ति के अभाव से जो विपरीतभावनात्मक कल्पना से ज्ञान की अदृढता है तिस का अभाव होजाना ज्ञानरक्षा है।

अतएव विश्वामित्र जी ने—

"न राघव तवास्त्यन्यज् ज्ञेयं ज्ञानवतां वर,
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवानसि,
भगवद्व्यासपुत्रस्येव शुकस्येव मतिस्तव,
विश्रान्तिमात्रमेवात्र ज्ञातज्ञेयेप्यपेक्षते" (२)।

इत्यादि वाक्यों से श्रीरामचंद्र जी के प्रति ज्ञान के उदय से अनंतर चित्त विश्रांति की अपेक्षा का शुकदेव जी के दृष्टान्त से उपदेश किया है।

अर्थात्—यद्यपि शुकदेव जी को पूर्वले संस्कारों के बल से स्वतःही तत्त्वज्ञान प्राप्त था तथापि उस तत्त्वज्ञान को संशय विपर्य्यशून्य न होने से जब शुकदेव जी ने अपने पिता से तत्त्वजिज्ञासार्थ प्रश्न किया तब व्यास जी ने भी जिस प्रकार शुकजी ने तत्त्व जाना था उसी परिपाटी से समाधान किया फिर भी ज्ञान की दृढ़ता न होने से जब वह जनक जी के समीप गये तब जनक जी ने भी व्यास जी की परिपाटी

---

(१) ज्ञानरक्षा—पद का अर्थ करते हैं, तहां इत्यादि से।

(२) हे ज्ञानियों में से श्रेष्ठ रामचंद्र जी! आप ने स्वकीय सूक्ष्मबुद्धि से ही सर्व के तत्त्व को जान लिया है इस से अन्य कोई ज्ञेय शेष नहीं है केवल व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी के तुल्य आप की बुद्धि विश्रान्तिमात्र की अपेक्षा वाली है, क्योंकि ज्ञातज्ञेय होने पर भी चित्त विश्रान्ति की अपेक्षा अवश्य रहती है, यह वाशिष्ट के श्लोकों का भाव है।

के अनुसार ही अनुशासन किया तब फिर शुकदेव जी ने तत्वजिज्ञासा के प्रश्न का परित्याग कर जनक जी से यह प्रश्न किया कि (१) जिस प्रकार मैंने स्वतः तत्त्व को जाना था उसी प्रकार से ही मेरे पिता ने उपदेश किया औ उसी प्रकार से ही आप ने किया औ शास्त्र का भी यही सिद्धान्त देखने में आता है परंतु इस की दृढ़ता नहीं होती है अतः जिस उपाय से संकल्प विकल्प के क्षय द्वारा एकवार ही संसार निःसार रूप हो जाय सो उपाय आप कथन करो तब जनक जी ने कहा "स्वसंकल्पवशाद् बद्धो निःसंकल्पस्तु मुच्यते" तब शुकजी ने इस उपदेशको शिरोधारण कर मेरु के शिखर पर गमन कर दशसहस्रवर्षपर्य्यन्त समाधिके अभ्याससे चित्त की विश्रान्तिका संपादन किया।

एवंच हे रामचंद्र! जैसे शुकदेवजी ज्ञातज्ञेय भी थे परंतु चित्त की विश्रान्ति मात्र उन को अपेक्षित थी तैसे आप को भी चित्तकी विश्रान्ति मात्र अपेक्षित है अन्य कुछ नहीं।

---

(१) "स्वयमेव मयापूर्वमेतज् ज्ञातं विवेकतः,
एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतं,
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर
एष एव च वाक्यार्थः शास्त्रेषु परि दृश्यते,
यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात्
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चयः।
तत्किमेतन्महाबाहो सत्यं ब्रूहि ममाचलं,
त्वत्तो विश्राममाप्नोति चेतसा भ्रमितं जगद्"

यह शुकदेवजी के प्रश्न के वाक्य हैं, इन्हीं का ही भावार्थ कहते हैं (जिस प्रकार) इत्यादि से।

तथा च यथा ज्ञातज्ञेय शुकदेव औ राघव जी को ज्ञान रक्षा के अर्थ चित्त की विश्रान्तिके लिये समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा अपेक्षित थी तैसे अन्य ज्ञानियों को भी ज्ञान रक्षा के अर्थ समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा अवश्य संपादनीय है (१)।

(२) एवं अनुग्रह निग्रहरूप सामर्थ्य विशेष का हेतुभूत जो मन सहित इन्द्रियों की एकाग्रतारूप तप यह भी जीवन्मुक्ति का प्रयोजन है।

यद्यपि तप का कुछ विशेष मुक्ति में उपयोग नहीं है तथापि शिष्य-भक्त-तटस्थ इन तीनों जनों पर उपकार करना तप का फल जानना।

अर्थात्—जब योगाभ्यास से गुरु की अन्तर्मुखवृत्ति होगी औ कथन से विना ही अन्तर्य्यामिरूपता से शिष्य के मनोगत संशय को गुरु जान जायगा तो शिष्य की गुरु में प्रामाणिकत्वभावना से विश्वासपूर्वक गुरुपदिष्ट तत्त्व में विश्रान्ति हो जायगी, इसी का नाम शिष्यसंग्रह है।

एवं अन्नप्रदान-निवासस्थान रचनाआदि से योगी की सेवा करने वाला जो भक्त है उस को भी योगी के तप के

---

(१) अर्थात्—जैसे प्रदीप्त हुआ भी अग्नि मणि-मंत्रादि से प्रतिबद्ध हुआ दग्ध नहीं कर सकता है तैसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी चित्तचाञ्चल्यरूप प्रतिबन्धक से प्रतिबद्ध हुआ स्वकार्य्यजनन में असमर्थ है, एवं च चित्तचाञ्चल्यरूपप्रतिबन्धक के अभावार्थ चित्तस्थिरतारूप योग अवश्य अपेक्षित है यह सिद्ध हुआ।

(२) ज्ञानरक्षा रूप प्रयोजन कथन कर इदानीं जीवन्मुक्ति का द्वितीय तपरूप प्रयोजन कहते हैं—"एवं" इत्यादि से।

फल का भागी होने से (१) औ समय समय आनेवाली विपत्तियों का भी योगी के आशीर्वाद से अभाव होने से उस की सेवा सफल होगी औ आगे को अन्यमहात्माओं की सेवा करने में रुचि होगी, इस का नाम भक्तसंग्रह है।

एवं तटस्थ जो आस्तिक पुरुष है वह योगी के सन्मार्गाचरण को देख कर स्वयं भी सन्मार्गाचरण में प्रवर्तमान हो जायगा।

एवं नास्तिक पुरुष भी योगी के दर्शन से पापक्षयपूर्वक आस्तिक हो जायगा (२), इस का नाम तटस्थसंग्रह है।

एवं शिष्य-भक्त-आस्तिक-नास्तिक जनों पर उपकार के लिये तप भी आवश्यक है।

(३) एवं किसी अन्य मतवाले के संग विवाद वा किसी मत की निन्दारूप जो विसंवाद है उस का अभाव हो जाना भी जीवन्मुक्ति का फल जानना (*)।

एवं प्रारब्धप्रयुक्त दृष्टदुःख की निवृत्ति तथा सर्वसाक्षित्व, सर्वत्राकामहततत्त्व, सर्वभोक्तृत्व कृतकृत्यत्व प्राप्तप्रापणीयत्व रूप सुख का आविर्भाव भी जीवन्मुक्ति का फल

---

(१) "सुहृदः साधुकृत्याम्" इस श्रुति के प्रमाण से भक्त को योगी के तप का फलभागी जानना।

(२) "यस्याऽनुभवपर्य्यन्ता तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्तते, तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः" इस प्रमाण से योगी के दर्शन से पापक्षय जानना।

जिस को योगाभ्यास से अनुभवपर्य्यन्त तत्त्व विषयक दृढ़ज्ञान उदय हुआ है तिस की दृष्टिगोचर जो २ प्राणी होते हैं वह सब पातक से मुक्त हो जाते हैं।

(३) विसंवादाभाव रूप तृतीयप्रयोजन निरूपण करते हैं— 'एवं' इत्यादि से।

(*) निस्तरङ्ग शान्तचित्त शील योगी को किसी से विवाद का अवसर ही कहां,

जानना, (१) तथा च इन अनन्यलभ्य पंच प्रयोजन के जनन करने वाली चित्तस्थिरता के लिये यह पातञ्जलदर्शन अवश्य ही मुमुक्षुओं को आदरणीय है यह फलित हुआ।

" अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् "

" तापस, पण्डित, यज्ञकृत, राजा, औ बलवान,
ज्ञानी, इन षट नरन में शान्त अधिक मन मान "

" शेषा वणिग्वृत्तयः "

भगवान् पतञ्जलि।

यहां पर प्रसङ्ग से यह भी अवश्य ज्ञातव्य है कि जो वैद्यकशास्त्र तथा व्याकरणमहाभाष्य के रचयिता श्री पतञ्जलि मुनि हैं वही योगसूत्र के निर्माता हैं, औ इन्हीं योगिराज का द्वितीय नाम गोनर्दीय है (२) इसी से ही जहां २ भाष्यकारों ने अपना हार्द निरूपण किया है तहां २ " गोनर्दीयस्त्वाह " ऐसे अपना परिचय दिया है, औ जो कोई लोक यह कहते हैं कि महाभाष्य में (वात्तिकं-पैत्तिकं श्लैष्मिकम्-५ अ० १ पा० १ आ० " दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः, नड्वलोदकं पापरोगः " ६ अ० २ पा० २ आ०, एसे २ लेख

(१) विशेषदर्शनीय (कैवल्यकल्पलतिका) में देखो।

(२) गोनर्ददेश में होनेवाले का नाम गोनर्दीय है, गोनर्ददेश में सन्ध्योपासन के समय में किसी ऋषि की अञ्जलि से सर्प रूप हो कर पतित हुये थे इस से इन्हों का नाम पतञ्जलि है, यह ऐतिह्य है यह शब्देन्दु शेखर की टीका में राघवेन्द्राचार्य्य का लेख है, अयोध्या प्रदेश में (गोण्डा) नामक जो नगर है वही पूर्व गोनर्दपद का अभिधेय था यह आधुनिक ऐतिहासिकों का निर्णय है, रामकृष्ण गोपालभण्डारककृत Indian Antiquary V. II. P. 70. देखो।

लिखने से महाभाष्यकार औ वैद्यकशास्त्रकार पतञ्जलि मुनि तो एक हैं औ योगसूत्रकार भिन्न हैं क्योंकि योगशास्त्र का परिचय कहीं महाभाष्य में मिलता नहीं (१)) सो यह उन का अनुमान अकिञ्चित्कर है क्योंकि विना प्रसङ्ग से योग का परिचय देना अकाण्डताण्डव है (२)।

किंच यादि यही आग्रह है तो जैसे महाभाष्य में वैद्यक का परिचय देने से महाभाष्यकारों से वैद्यकप्रणेता अभिन्न हैं तैसे योगशास्त्र में चतुर्थ पाद के प्रथमसूत्र में औषधजन्य सिद्धि के निरूपण से योगप्रणेता जी को भी उन से अभिन्न मान लो, ऐसे मानने से ही "योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन, योऽपाकरोत्तंप्रवरं मुनीनां पतञ्जलिंप्राञ्जलिरानतोऽस्मि" (*) यह अभियुक्तोक्ति सार्थक होती है अन्यथा नहीं।

जो कि यह कथन है कि "व्याकरण औ वैद्यकशास्त्र में पतञ्जलि मुनि ने भाष्य ही निर्मित किया है इस से वह योगसूत्र के भाष्यकार ही होने उचित है न कि सूत्रकार" सो भी अयुक्ति सह है क्योंकि योगभाष्यकार व्यास जी को ही वेदान्तसूत्रकार होने से पूर्वोक्त नियम व्यभिचारी है, यदि यह कहो कि "एतेन योगः प्रत्युक्तः" अ० २ सू० ३

(१) बङ्गदेशीयाशियएटिक्समाज् प्रकाशित निरुक्त की भूमिका में (ची) इस चिन्हयुक्त पत्र में पं० सत्यव्रतसामश्रमी का यह लेख है।

(२) विना समय का नृत्य।

(*) योग द्वारा चित्त की औ पद द्वारा बाणी की औ वैद्यक द्वारा देह की मल को दूर करने वाले जो पतञ्जलि मुनि हैं तिन मुनिप्रवरों को मैं अञ्जुलि बान्ध कर नमस्कार करताहूं—

इस सूत्र से व्यास जी ने योग का निराकरण करने से व्यास जी योगभाष्यकार नहीं हैं, तो सो भी वाचस्पतिमिश्र आदि की उक्ति से (१) विरुद्ध होने से असमीचीन है।

किंच इस सूत्र का योग के प्रत्याख्यान में तात्पर्य्य का अभाव होने से भी यह कथन अविचारितरमणीय है।

अर्थात्श्रुति के— संग विरोध होने से कापिल मत से स्वतन्त्र प्रधान की सिद्धि मत होय तथापि योगशास्त्र से प्रधान का सद्भाव आपको भी मानना चाहिये क्योंकि वेद संमत होने से योगशास्त्र आप के मत में प्रामाणिक है, इस शंका के होने पर कहा कि (एतेन योगः प्रत्युक्तः) अर्थात्— कुछ प्रधानादि की सत्ता प्रतिपादन पर योगशास्त्र नहीं है किन्तु योगस्वरूप तत्साधन तदवान्तरफलविभूति तत्परम-फल कैवल्य आदि विषयों के प्रतिपादन पर है क्योंकि "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" यह न्याय सर्व संमत है, एवं च योगशास्त्र में जो प्रधान का निरूपण है वह सिद्धियों के उपयोगी जो प्रकृत्यापूर आदिक हैं उन में उपयोगी जान कर किया है कुछ वास्तव से प्रधान प्रतिपादन योगशास्त्र का उद्देश नहीं है, तथाच प्रमाणीभूत योगशास्त्रसे भी प्रधान का सद्भाव नहीं है यह सूत्र का तात्पर्य्य है, इसी से ही भामतीकार ने "नानेन योगशास्त्रस्य हैरण्यगर्भपातञ्जलादेः

(१) "नत्वा पतञ्जलिमृषिं, वेदव्यासेन भाषिते संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्थां भाष्ये व्याख्या विधास्यते" यह योगभाष्य की व्याख्या के आरम्भ में वाचस्पतिमिश्र का द्वितीय पद्य है।

वेदभाष्यकार माधवाचार्य्य जी ने भी पराशरस्मृति आदि के व्याख्यानों में भाष्य को वेदव्यास जी की कृति कहा है।

सर्वथा प्रामाण्यं निराक्रियते" इस वाक्य से इस सूत्र का योग के प्रत्याख्यान में तात्पर्य्य का अभाव कहा है, औ नारायण तीर्थ ने भी "स्वातन्त्र्यसत्त्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः, अपिचात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान् स्वयं, (१) भाष्यादिषु ततस्तत्राचार्य्यप्रमुखैर्मतः" इस वाक्य से वेदव्यासजी को योगभाष्यकार कहा है।

योगभाष्य के व्याख्याकार वाचस्पतिमिश्र के विषयक जो भामती की भूमिका में काशीनिवासी पं बालशास्त्रीजी ने तथा साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका में पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति जी ने तथा साङ्ख्यतरङ्गिणी की भूमिका में साहित्याचार्य्य पं० अम्बिकादत्त व्यासजी ने अनवधानतापूर्वक लेख लिखे हैं उन की समालोचना मन्निर्मित साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी की टीका की भूमिका में देखनी।

"यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः (†)।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनाद्"।

"यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः"

उपसंहर्त्ता—स्वामी आत्मस्वरूप.

---

(१) प्रधान में स्वतन्त्रता तथा सत्यता तथा चेतन का भेद ही व्यास देव जी ने वेदान्त सूत्रों में खण्डन किया है कुछ भावना रूप योग नहीं, इसी से ही मतिमान व्यास जी ने योगसूत्रों पर भाष्य किया है औ प्राचीन आचार्य्यों ने उस भाष्य को माना है, यह इस का भाव है।

(†) जैसे अन्यपुरुषों के दोष देखने में नर निपुण है तैसे यदि अपने दोषों की ओर ध्यान करे तो कौन नहीं मुक्त होय।